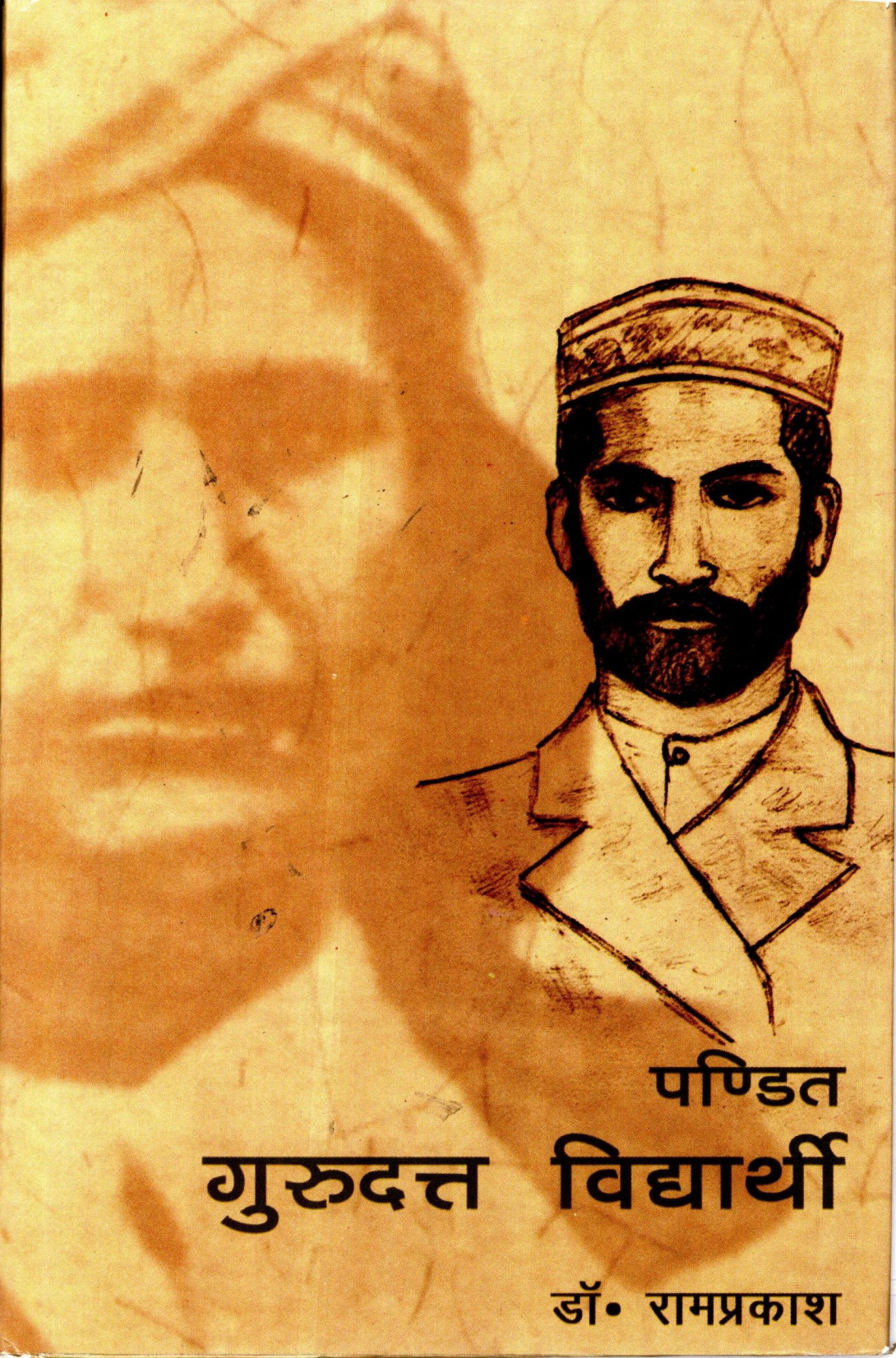

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी

डॉ॰ रामप्रकाश

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी

न भुलाए जा सकने वाले सहोदर
श्री बीरूराम आर्य
को सादर समर्पित
— रामप्रकाश

ओ३म्

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी

जीवन एवं व्यक्तित्व

प्रोफेसर (डॉ.) रामप्रकाश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
नई दिल्ली

लेखक : **डॉ. रामप्रकाश,** सांसद (राज्य सभा)
एम.एससी. (ऑनर्ज़), पीएच.डी., डी.एससी. (मानद)
प्रोफेसर (सेवा-निवृत्त), पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
पूर्व प्रो-वाइसचांसलर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
1634, सैक्टर 13, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
दूरभाष : 09416037571

© लेखकाधीन

प्रथम संस्करण, अप्रैल 1969 (2000 प्रतियाँ)
द्वितीय संस्करण, अगस्त 1986 (2000 प्रतियाँ)
तृतीय संस्करण, 1990-92 (1100 प्रतियाँ)
चतुर्थ संस्करण, अप्रैल 1998 (1100 प्रतियाँ)
पंचम संशोधित संस्करण, अप्रैल 2005 (1100 प्रतियाँ)
डी.ए.वी. संस्करण, 2010 (1000 प्रतियाँ)
आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक द्वारा : (2000 प्रतियां)
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा संस्करण, अक्तूबर 2012 (1100 प्रतियाँ)

आर्य संवत्सर : 1960853113
दयानन्दाब्द : 189
विक्रमी सम्वत् : आश्विन शुक्ल 2069

रेखाचित्र (गुरुदत्त विद्यार्थी) : शैलेन्द्र
आवरण सज्जा : सिद्धार्थ प्रतापसिंह

प्रकाशक: दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन, दिल्ली (25-28 अक्तूबर, 2012) के अवसर पर प्रकाशित

मुद्रक: **राधा प्रेस,** कैलाश नगर, दिल्ली-३१

दो शब्द

आर्य समाज के कार्य की साधारण शब्दों में व्याख्या की जाए तो इसे ईश्वरीय कार्य कहना गलत नहीं होगा । ईश्वर ने सृष्टि बनाई और मनुष्यों के कल्याण के लिए वेद ज्ञान दिया, ये ज्ञान न होता तो मनुष्य व अन्य जीवों में कोई भिन्नता न होती । महर्षि दयानन्द जी ने आर्य समाज का कार्य मनुष्य-मनुष्य तक वेद का ज्ञान पहुंचाना निर्धारित किया । अतः आर्य समाज के कार्य को ईश्वरीय कहना ही चाहिए । महर्षि दयानन्द जी की प्रेरणा से उस ईश्वरीय कार्य करने की ज्योति अनेक महान विभूतियों में उत्पन्न हुई । उन्हीं अनेकों में एक निराले थे पं० गुरुदत्त विद्यार्थी । ज्यादा कुछ भूमिका में लिखना सम्भव नहीं केवल इतना कहना चाहूंगा कि यदि कोई नौजवान अपने जीवन को आर्य समाज के माध्यम से समाज और राष्ट्र की सेवा में समर्पित करना चाहे तो पं० गुरुदत्त विद्यार्थी जी के डॉ० रामप्रकाश जी द्वारा सम्पादित इस जीवन चरित्र को अवश्य ही पढ़ना चाहिए । एक अद्‌भुत प्रेरणा छिपी है इसमें–

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन 2012 के अवसर पर इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य भी यही है । हम चाहते हैं कि युवा अपने को आर्य समाज के लिए समर्पित करके राष्ट्र की सेवा करे। इस सम्मेलन में ये संदेश देना हमारी प्राथमिकता भी है । हम डॉ० रामप्रकाश जी का युवाओं के ऊपर किये गये महान उपकार हेतु धन्यवाद करते हैं ।

सभा का यह प्रयत्न युवाओं के हृदय में समाज के लिए कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न करे परमपिता परमात्मा से यही प्रार्थना है।

25 अक्टूबर 2012
अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन 2012 दिल्ली

विनय आर्य
महामंत्री
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

अनुक्रम

क : प्रस्तावना
ग : भूमिका
ट : पुनश्च
ण : आत्म-निवेदन
1 : सूर्योदय
4 : बाल्यकाल
16 : मानसिक संघर्ष
22 : कार्यक्षेत्र में पदार्पण
29 : कायाकल्प
35 : डी.ए.वी. कॉलेज की स्थापना
46 : कार्यक्षेत्र में (1)
59 : आजीविका की समस्या
66 : रामकृष्ण का त्याग
71 : कार्यक्षेत्र में (2)
94 : साहित्य सृजन
109 : योगाभ्यास
115 : क्रान्ति के वे दिन
154 : बढ़ते कदम
163 : पद्‌चिह्न
174 : व्यक्तित्व
183 : सूर्यास्त
194 : श्रद्धा सुमन
204 : परिशिष्ट क
206 : परिशिष्ट ख
209 : परिशिष्ट ग
217 : लेखक परिचय

समय के हस्ताक्षर

दयानन्दसरस्वती

(श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य स्वामी दयानन्द सरस्वती)

Guru Datta Vidyarthi
28th May 1887

(मुनिवर पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी)

श्रद्धानंद

(अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द)

Lajpat Rai

(शेरे-पंजाब लाला लाजपतराय)

लेखराम आर्य मुसाफिर २१-५-८७

(रक्तसाक्षी पण्डित लेखराम आर्य मुसाफ़िर)

Lal Chand

(रायबहादुर लालचन्द, प्रधान डी.ए.वी. कॉलेज प्रबन्ध समिति)

प्रस्तावना

डॉक्टर रामप्रकाश जी रसायन विज्ञान के एक अच्छे विशेषज्ञ हैं। उन्होंने छोटी-सी आयु में बहुत प्रसिद्धि तथा यश प्राप्त कर लिया है। यह बात और भी चकित करती है कि अपने विषय के प्रसारण तथा अनुसन्धान में निरन्तर परिश्रम करते रहने पर भी वह समाज सेवा, वैदिक संस्कृति के प्रचार, ऋषि दयानन्द के मिशन की पूर्ति का कार्य तथा अनेक सम्बन्धित कार्यों में सदैव जुटे रहते हैं। बहुत ऊँचे वक्ता व लेखनी के धनी हैं। मंच पर बोल रहे हों अथवा कुछ लिख रहे हों तो जादूगर की न्याईं लोगों को आकर्षित करते चलते हैं। तर्क तथा विद्वत्ता कभी उनका साथ नहीं छोड़ती। मेरा अनुमान है कि अखण्ड ईश्वर-प्रेम तथा धर्म में अगाध निष्ठा उनके जीवन की सर्वतोमुखी सफलता के कारण हैं। राष्ट्र को ऐसे महान् कार्यकर्त्ता पर गर्व है। आर्यसमाज, आर्यवीर दल तथा अन्य युवक शक्ति के तो वे प्राण ही हैं।

पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का लिखा आर्यवीर पण्डित लेखराम जी का जीवन-चरित पढ़कर मुझे लगा कि पूज्य स्वामीजी ने अपने कार्य को क्रियात्मक रूप से सिद्ध कर दिया। वे आर्यवीर लेखराम के जीवन-चरित में जब लिख चुके कि किस प्रकार एक यवन ने उनको सत्यभाषण करने पर छुरा घोंप दिया तो उसके मुद्रण के कुछ वर्षों पश्चात् पूज्य स्वामी जी को भी एक यवन ने पिस्तौल से बलि वेदी पर चढ़ा दिया। इससे सुन्दर वीर लेखराम का जीवन-चरित किसने लिखा होगा?

डॉक्टर रामप्रकाश जी के सम्बन्ध में जो शब्द ऊपर लिखे हैं, उनका प्रयोजन भी यही है कि पण्डित गुरुदत्त का जीवन-चरित वही व्यक्ति उचित ढंग से लिख सकता है जो योग्यता तथा निष्ठा में पण्डित गुरुदत्त जी का उत्तराधिकारी हो। डॉक्टर रामप्रकाश जी का लिखा पण्डित गुरुदत्त जी का जीवन-चरित इस बात का मुँह बोलता प्रमाण है।

मैं सदैव आर्यसमाज को धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों का क्रान्तिकारी आन्दोलन ही मानता चला आया हूँ। यह ठोस धारणा मेरे जीवन का अंग बन गई है। उन लोगों को जो आर्यसमाज को केवल मात्र एक संस्था मानते हैं, मैं पूर्वगामी समझता हूँ। विद्यार्थी जीवन में मैंने अपनी धारणा को जबरदस्त वेग से चलाया। शिक्षण-क्षेत्र में मैं आया ही इस

धारणा को क्रिया में लाने के लिए। डॉक्टर रामप्रकाश मेरे उन शिष्यों में से एक गर्म कार्यकर्त्ता हैं जिन्होंने मेरी धारणा को पुष्ट किया है और मुझे सन्तोष है कि पण्डित गुरुदत्त की श्रेणी में उनका स्थान बन गया है। मानव कल्याण तथा राष्ट्र कल्याण आर्यसमाज के इस महान् स्वरूप से ही होगा। यह धारणा ऋषि दयानन्द, पण्डित गुरुदत्त एवं इस युग में डॉक्टर रामप्रकाश की है। बहुत विरले नवयुवक मिलेंगे जिनकी यह धारणा होगी कि आर्यसमाज एक आन्दोलन है। उनमें से अंगुलियों पर गिने जाने वाले वे नवयुवक हैं जो इस धारणा पर सुदृढ़ हैं। डॉक्टर रामप्रकाश ने इस धारणा को गति दी है।

मैं पण्डित गुरुदत्त जी को आर्यसमाज की पहली पीढ़ी का गर्म दल का नेता मानता हूँ – योग्यता में भी तथा कार्यक्षेत्र में भी। मैंने उनको नहीं देखा। मैंने दूसरी पीढ़ी के नेताओं को देखा तथा उनकी देखरेख में कुछ सेवा कार्य भी किया। डॉक्टर रामप्रकाश जी आर्यसमाज की चौथी पीढ़ी में हैं। उनकी इस पुस्तक के पन्नों को उलटने से यह प्रतीत होता है जैसे वह पण्डित गुरुदत्त के साथ मिलकर कार्य करते रहे हों। उनकी खोजपूर्ण बातों ने मानो पण्डित गुरुदत्त को पुनः हमारे सामने ला खड़ा किया है। जितना परिश्रम, उत्साह, त्याग तथा सद्भावना इस पुस्तक के लिखने में योग्य लेखक ने की है, वह प्रशंसनीय है। उनकी यह पुस्तक प्रत्येक युवक के हाथ में होनी चाहिए और मुझे पूर्ण आशा है कि वह पढ़े बिना नहीं रहेगा। आर्यसमाज के गर्म दल के दीपक में यह पुस्तक सदैव के लिए तेल का कार्य करेगी। मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि साहित्यिक दृष्टि तथा वैदिक संस्कृति के प्रसार की दृष्टि से भी यह पुस्तक उच्चकोटि की पुस्तकों में से है। भावपूर्ण तो यह है ही और भावना के बिना संस्कृति ही क्या?

भगवान्दास
प्राचार्य
डी.ए.वी. कॉलेज(लाहौर)
अम्बाला नगर

अम्बाला नगर
अप्रैल 1969

महर्षि दयानन्द सरस्वती

(शाहपुरा नरेश के सौजन्य से प्राप्त चित्र)

भूमिका

कली मुस्काई और फूल बन गई। डाल मस्ती में झूम उठी। पुष्प ने धरती से, जल से, वायु से, सूर्य से ... जीवन लिया, शक्ति ली। उसे जो चाहिए था वह उसने विश्वपति के पुण्य उद्यान में सर्वत्र बिखरी सम्पदा से जी भर कर लिया। फिर उसने अपनी मधुर मुस्कान से धरा को मुखरित किया, अपना सौरभ लुटाया, अपने रंग रूप से प्रकृति को सौंदर्य प्रदान किया। ... समय बीता। वह मुरझा गया। पंखुड़ियाँ धूल में मिल गईं। वह रूप, वह रंग, वह गंध ... कुछ भी न रहा परन्तु उसे इसका कोई दुःख नहीं, कोई पीड़ा नहीं, कोई व्यथा-वेदना नहीं। उसका जीवन-चक्र पूरा हो चुका; जो लेना था, ले लिया, जो देना था, दे दिया। कोई सपना अधूरा न रहा। फिर दुःख कैसा?

परन्तु ... एक कली ...

... ऐसी कली जो खिलने से पूर्व तोड़ दी गई, मसली गई, मिट गई, मिट्टी हो गई ...

न अभी जीवन ले पाई, न जीवन दे पाई।
कितनी आशाएँ थीं उससे! सब धरी रह गईं।
माली से पूछो उसके दिल पर क्या बीती?

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी उस कली की भाँति थे जो खिलने से पूर्व मुरझा गई। रजत श्वेत एवं शीतल ओस की भाँति वह संतप्त धरा की प्यास बुझाने आए परन्तु क्षण में ओझल हो गए। अमावस्या की घोर निशा में प्रकाश-पुंज बनकर आए परन्तु कब उदय हुए, कब चमके, कब छिप गए — पता ही न चला। इतना छोटा था उनका जीवनकाल। लोग देखते रह गए। यह धरती उन्हें रहने के योग्य नहीं जँची थी क्या?

महत्त्व अवधि का नहीं, दिव्यता का है। दिव्य गुणों के कारण उनका यह छोटा-सा जीवन प्रेरणा का अविरल स्रोत है। वे गुणों के भण्डार थे। वे थे एक पितृभक्त पुत्र, सहृदय सखा, कुशल खिलाड़ी, सक्रिय छात्र नेता, धुन के धनी, अदम्य उत्साह की मूर्ति, विस्मयोत्पादक स्मरणशक्ति एवं प्रतिभा के स्वामी, अपरिमित ज्ञान के भंडार, विद्यावारिधि, मनमोहक कवि, योग्य लेखक, गम्भीर दार्शनिक,उत्कृष्ट वैज्ञानिक, कुशल सम्पादक, सफल अध्यापक, सुलझे हुए शिक्षा-शास्त्री, ओजस्वी वक्ता, तपस्वी प्रचारक, प्रबल

सुधारक, दूरदर्शी नेता, स्वाभिमानी देशभक्त, सच्चे योगी, तपोनिष्ठ मुनि, वेद-शास्त्रों के मर्मज्ञ, समर्पित सत्यान्वेषक, परम ऋषिभक्त, ईश्वरानुरागी...। इन्हीं गुणों के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे अमिट छाप छोड़ गए।

पण्डित जी में ये गुण किस प्रकार विकसित हुए, इसकी भी एक कहानी है। जब पण्डित जी ने ऋषि दयानन्द सरस्वती को इहलीला संवरण करते देखा तो उन पर एक जादू-सा हो गया। वे जितना-जितना ऋषि को समझते गए, उतना ही रंग गहरा होता चला गया। बस, इसी रंग का प्रभाव था कि एक बार पण्डित जी ने दो कपड़ों पर आर्यसमाज के पाँच-पाँच नियम लिखवा लिए। प्रात:काल जलपान किया। फिर एक कपड़ा आगे लटका लिया, दूसरा पीठ से बाँध लिया और चलने लगे ऋषि सन्देश सुनाने के लिए। देवी ने देखा तो विस्मित हो गई। हाथ पकड़ बोली – ''पतिदेव! यह क्या हाल बनाया है? क्या कहेंगे लोग?'' उत्तर मिला – ''भोली! तू नहीं जानती। अब यह जीवन मेरा नहीं रहा। मैं इसे ऋषि के चरणों में अर्पित कर आया हूँ। अब रोम-रोम उनकी धरोहर है, देवी। कोई क्या कहेगा – इसकी चिन्ता कैसी?''

पण्डित गुरुदत्त ने ऋषिवर को समझ लिया था, इसीलिए श्रद्धा की यह अवस्था थी। वे जानते थे कि लोग अभी उस दिव्य देवता को समझ नहीं पाए। समझ लेंगे तो इनका भी यही हाल हो जाएगा। उन्होंने आर्यसमाज अमृतसर के उत्सव पर भाषण देते हुए कहा भी, ''ऋषि के महत्त्व का लोगों को दो सौ वर्ष बाद बोध होगा जब विद्वान् पक्षपात त्याग कर उनके ग्रन्थों पर विचार करेंगे। अभी लोगों की यह स्थिति नहीं कि उस योगी की बातों को समझ सकें।''[1]

श्रद्धालु शिष्य ने गुरु के जीवन-लक्ष्य को ही अपना जीवन-लक्ष्य बना लिया और एक ऐसे संसार की रचना करने की सोचने लगे जिसका चिन्तन एक हो, मनन एक हो, भाव एक हो, धर्म एक हो, इष्ट एक हो ताकि एक पिता के पुत्र परस्पर बन्धुत्व के सूत्र में बँधे हों। सबके सुख-दु:ख साँझे हों। शोषण, भुखमरी, असमानता, अज्ञान, अंधकार तथा अन्याय भूतकाल की कहानी बन जाएँ। देश तथा जन्मजाति की ये दीवारें ढह जाएँ। इसीलिए पण्डित जी नाम के पीछे जन्म-जाति लगाने के विरोधी थे। वे इसे गुण-कर्म बोधक नहीं मानते थे और कहा करते थे कि वर्ण केवल

1. आत्माराम अमृतसरी, ब्रह्मयज्ञ, पृष्ठ 154-155

2. गुरुदत्त ने किसी प्रश्न के उत्तर में एक बार कहा था कि ऋषि दयानन्द ने अजमेर में

चार ही हो सकते हैं।[2] इसीलिए वे विदेशों में विवाह के समर्थक थे। एक बार कहने लगे कि हमारा पुत्र बड़ा होकर जब विवाह करना चाहेगा तो उसे अमरीका की किसी कन्या को आर्य बनाकर उसके साथ विवाह करने की प्रेरणा दूँगा।

ऐसे मानव समाज के निर्माण के लिए आवश्यक था कि संसार में बौद्धिक क्रान्ति पैदा की जाए। इसलिए उन्होंने स्वप्न लिया, ''पाँच सहस्र वर्ष पूर्व एक महाभारत युद्ध पृथ्वी पर हुआ था जिसके कारण वेदादि शास्त्रों का पठन-पाठन समाप्त हो गया। अब एक विद्या रूपी महाभारत की सामग्री पृथ्वी पर एकत्र हो रही है जिसके कारण पुन: वेदों का पठन-पाठन पृथ्वी पर फैलेगा। इस युद्ध का बीज स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज रूपी साधन द्वारा भूगोल में डाल दिया है।''[3] ऐसा उन्होंने कई बार कहा। इसी महाभारत के लिए वह प्राणपन से जुट गए और इतने व्यस्त हो गए इसकी तैयारी में कि बंगाल में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर जब पहला अभियोग चला और उनकी सहानुभूति में लाहौर में आयोजित जनसभा में पण्डित गुरुदत्त को भाषण देने के लिए बुलाया गया तो व्याख्यान में कहने लगे, ''मुझे ताजा समाचारों का ज्ञान नहीं है क्योंकि समाचारपत्र भी नहीं पढ़ रहा हूँ आजकल।''[4] बात थी भी ठीक। उन्हें सदैव केवल अपना लक्ष्य दिखाई देता था। इस महाभारत के लिए कुरुक्षेत्र चुना गया था लाहौर को। वहाँ ऋषि दयानन्द सरस्वती की पुण्य स्मृति में एक कॉलेज खोला गया। यह था वह दुर्ग जहाँ से वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति के शत्रुओं के आक्रमणों का मुकाबला करना था।

यह क्षेत्र चुनने का भी एक विशेष कारण था। लार्ड मैकॉले ने 1835 में कहा था, ''अंग्रेज़ी शिक्षा लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार करेगी जो रक्त एवं रंग से भारतीय होंगे परन्तु प्रकृति, विचार, चरित्र तथा बुद्धि से अंग्रेज़ होंगे।'' मैकॉले की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो रही थी। अभी बीस वर्ष भी न बीते थे कि सर फ्रैडरिक हॉलीडे ने 25 जुलाई 1853 को हाउस ऑफ़ कॉमन्ज़ के समक्ष अपनी साक्षी में कहा,''मेरा विश्वास है कि

फ़रमाया था कि महाराजा युधिष्ठिर के राज से पूर्व आर्यावर्त में किसी को भंगी नहीं कहते थे, न कोई भंगी था, न ही आर्षग्रन्थों में भंगियों के लिए कोई शब्द है (द्रष्टव्य: आत्माराम अमृतसरी, ब्रह्मयज्ञ, पृष्ठ 149, 155)।

3. आत्माराम अमृतसरी, वही, पृष्ठ 155

4. लाजपतराय, जीवन चरित्र पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (उर्दू), संस्मरण केदारनाथ थापर

इंग्लैंड के किसी भी पब्लिक स्कूल की अपेक्षा कलकत्ता (कोलकाता) के हिन्दू कॉलेज में बाइबिल की शिक्षा अधिक है।'' इस प्रकार भारत में सभी शिक्षण संस्थाएँ व्यापक ईसाई प्रभाव में आ चुकी थीं और भारतीय जनता तथा नेता गौरांग महाप्रभु की तत्परता से पूजा कर रहे थे। समूचा राष्ट्र बेसुध सो रहा था। ऐसे भयंकर समय में यदि कोई जाग रहे थे तो केवल दयानन्द के सैनिक। उन्होंने इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए यह कॉलेज खोला था। इस में ऊपर से नीचे तक सभी भारतीय और केवल भारतीय थे। ईसाइयत की कहीं परछाईं भी न पड़ जाए – इसीलिए अनुदान का एक पैसा भी विदेशी सरकार से न लिया गया।

देशवासियों को विचारों से भारतीय बनाए रखने के लिए शिक्षा पद्धति को बदला गया। एक बार आर्यसमाज लाहौर की धर्म-चर्चा सभा में 'वर्तमान समय की शिक्षा-प्रणाली' पर विचार-विमर्श हुआ। पश्चिमी शिक्षा प्राप्त लोगों ने इस शिक्षा-पद्धति के बहुत गीत गए परन्तु पण्डित गुरुदत्त ने **मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद** की व्याख्या की और बताया कि प्रचलित अंग्रेज़ी शिक्षा भ्रान्ति-युक्त होने के कारण विद्या कहलाने के योग्य नहीं है। शिक्षा का वर्तमान ढांचा ऊपर से नीचे तक गला-सड़ा है। पण्डित जी का निश्चय था कि देश के लिए वह शिक्षा-पद्धति लाभदायक नहीं हो सकती जो मनुष्यों में ''स्वर्ण के बाह्य आकर्षण मात्र की भक्ति, पद तथा ऐश्वर्य के लिए संघर्ष और केवल भौतिक सुख तथा धन में विश्वास भर देती है, मानव हृदय में से समस्त देशभक्ति को खा जाती है तथा जो वैज्ञानिक उपलब्धियों को शक्ति देने वाली भावना के सर्वथा विपरीत है ... जो स्पर्धा को सब समयों तथा वर्गों का उद्घोष बनाती है, धनी को निर्धन की आवश्यकता का लाभ उठाने का सामर्थ्य देती है और प्रत्येक मनुष्य को पड़ोसी के मुँह में से ग्रास छीनने पर बाध्य करती है, बन्धुत्व में बँधी जाति को अलग-अलग विरोधी एवं शत्रुतापूर्ण ईकाइयों का समूह बना देती है।'' इसके विपरीत वे चाहते थे कि सर्वत्र ऐसी शिक्षा फैल जाए ''जो मनुष्यों को शान्तिमय उन्नति के परोपकारी सिद्धान्त सिखा सके और दल-भावना तथा साम्प्रदायिकता के अज्ञान को भगा दे। ऐसी शिक्षा जो लोगों को दूसरों के लिए जीना, गोपनीयता के बिना जीना, स्नेह की भावना में पूर्ण व्यवस्था के आधार पर स्थित होना और उन्नति की ओर लक्ष्य मानकर देखना सिखा सके। ऐसी शिक्षा जो यह भाव पैदा कर दे कि जीवन एक मिशन है, इसलिए कर्त्तव्य इसका सर्वोपरि नियम है तथा उस मिशन

को समझना और उस कर्त्तव्य की पूर्ति हमारी भावी प्रगति के साधन हैं। ऐसी शिक्षा जो जीवन के उस चरण का रहस्य बता सके जिसमें मृत्यु के बाद हम प्रवेश करेंगे। ऐसी शिक्षा जो बता सके कि जीवन का उद्देश्य है मानव स्वभाव व मानवता को रचने वाले तथा दबे हुए समस्त गुणों को उभारना तथा उन्हें कार्य में लाना।''[5] पण्डित जी का विचार था, ''आज समाज को सच्चे सुधार के सिद्धान्त पर शिक्षित करने की आवश्यकता है जो प्रिय भावनाओं को प्रतिबिम्बित करने या उनके साथ जुड़े रहने में अथवा प्रचलित विचारों व भावनाओं की पद्धति पर स्वयं को ढालने में नहीं अपितु संसार को उसकी अनेक त्रुटियों व अनौचित्य में से राह दिखाने में है।''[6]

ऐसी शिक्षा वेदाध्ययन एवं आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन द्वारा ही सम्भव थी। अत: पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने कॉलेज में संस्कृत की पढ़ाई पर बल दिया, यद्यपि उस समय यह कार्य सरल नहीं था। सन् 1886 में पंजाब विश्वविद्यालय की सभी परीक्षाओं में हिन्दी तथा संस्कृत लेने वालों की संख्या छियालीस से अधिक न हो पाई थी परन्तु पण्डित जी हिम्मत हारना तो जानते ही न थे। जब किसी पर्वत शिखर पर चढ़ने की ठान ली तो ठान ली – फिर उस पर चढ़कर ही दम लेते थे। वे संस्कृत के इतने पुजारी थे कि अपने वृद्ध पिता से भी संस्कृत सीखने के लिए आग्रह करते रहे। सहृदय पिता ने आदर्श पुत्र की बात टालना उचित न समझा और देहावसान से एक वर्ष पूर्व संस्कृत सीखनी आरम्भ कर दी तथा छह महीने के पश्चात् गुरुदत्त को शुद्ध संस्कृत में पत्र लिखा। कॉलेज के प्रबन्धक संस्कृत पढ़ाने के लिए तो उद्यत हो गए परन्तु लघुकौमुदी के स्थान पर अष्टाध्यायी पढ़ाने के पक्ष में न थे। गुरुदत्त अष्टाध्यायी पर बल देते थे क्योंकि दण्डी स्वामी विरजानन्द तथा ऋषि दयानन्द ने मनुष्यकृत ग्रन्थों का निषेध कर अष्टाध्यायी का समर्थन किया था। कारण-जब आर्षग्रन्थों का लोप हो गया और अवसरवादी एवं धूर्त लोगों की रची अवैदिक पुस्तकों की बाढ़ आ गई तो दण्डी जी ने अनार्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन छुड़वाकर ऋषिकृत ग्रन्थों के प्रचार का संकल्प लिया। भीष्म प्रतिज्ञा थी यह। ज्ञान का यह एक ऐसा यज्ञ था जो विश्व में सम्भवत: केवल दण्डी जी ने ही रचा। उन्होंने अपनी मान कीर्ति, सुख आराम...सब कुछ इस यज्ञ में अर्पित कर दिया।

5. लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 95

6. वैदिक मैगज़ीन, जुलाई 1889, पृष्ठ 1

और तो और, स्वरचित दो पुस्तकों[7] की भी आहुति दे डाली। सच्चे शिव के अभिलाषी तथा मृत्यु का रहस्य जानने के इच्छुक दयानन्द सरस्वती को भी इसी यज्ञाग्नि को प्रज्वलित रखने का आदेश दण्डी जी की कुटिया से मिला था। जब ऋषि इस संसार से जाने लगे तो क्रान्ति की यह मशाल गुरुदत्त को सौंप गए। जैसे गुरु-शिष्य शृंखला में युनान ने सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू पैदा किए, उसी प्रकार भारत में दण्डी जी, दयानन्द और गुरुदत्त हुए। तीनों का ध्येय एक था, राह एक थी।

गुरुदत्त ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए बहुत प्रयास किया परन्तु जब कॉलेज द्वारा बात बनती दिखाई न दी तो अपने घर पर ही अष्टाध्यायी कक्षा खोल दी और जिस कॉलेज के लिए दिन-रात एक कर दिया था, उसका अपीलों में नाम तक लेना छोड़ दिया। धन माँगते, परन्तु बिना नाम लिए क्योंकि अब उन्हें कॉलेज से उतनी आशाएँ न थीं।

उसी आदर्श संसार की रचना के लिए पण्डित जी ने साहित्य सृष्टि की। आर्चिबाल्ड एडवर्ड गह ने भारतीय दर्शन को ''मनुष्य जाति के रूढ़िवादी भाग के मस्तिष्क की उपज, ... एक निम्नतर जाति के विचारकों तथा गतिहीन संस्कृति के मनुष्यों के विचार जिनका बौद्धिक विकास सामान्य बुद्धि से लगभग परे खड़ा है,'' बताया। उसने यहाँ तक लिखा, ''एक लेखक को भारतीय दर्शन की विवेचना करते हुए यूरोप के दैनिक विचारों के स्तर से नीचे के विचारों से जूझना पड़ता है।''[8] गुरुदत्त को ऐसी बातें अखरीं और 10 दिसम्बर 1885 को पञ्जिका में लिखा, ''आर्य साहित्य को पथ प्रदर्शक चाहिएँ तथा हम चॉसर का स्थान प्राप्त कर सकते हैं।'' उनका यह विचार सत्य सिद्ध हुआ और जब उन्होंने उपनिषदों का भाष्य किया तो विदेशी लेखक उन्हें प्राच्य विद्वान् मानने लगे।

पण्डित गुरुदत्त ने अपने लेखों में विज्ञान के ज्ञान का पूरा लाभ उठाया। वे विज्ञान को वैदिक धर्म के प्रचार में इतना सहायक मानते थे कि इसका प्रचार भी आर्यसमाज का मुख्य कार्य समझते थे। इसीलिए उन्होंने विज्ञान का स्कूल खोला। इसीलिए आर्यसमाज के सत्संगों में वैज्ञानिक यन्त्र उठा लाते थे परन्तु उनका यह मत था कि वेदाध्ययन के बिना सत्य ज्ञान की खोज सम्भव नहीं। वे कहा करते थे कि पश्चिमी देशों को अपने वादों का खण्डन करना पड़ता है क्योंकि उनकी विद्या भ्रान्तिपूर्ण

7. वाक्यमीमांसा तथा पाणिनीय-सूत्रार्थप्रकाश

8. आर्चिबाल्ड एडवर्ड गह, द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ दि उपनिषद्ज, पृष्ठ 2 तथा 4

है, निर्भ्रान्त नहीं है। जब पश्चिम सत्य के निकट पहुँचता तो वे बहुत प्रसन्न होते। जब कोई कहता कि यूरोप उन्नति कर रहा है तो उत्तर देते – ''हाँ भाई, पश्चिम वेद के निकट आ रहा है क्योंकि सत्य नियमों के बिना उन्नति सम्भव ही नहीं।''

पण्डित जी समाज के नव-निर्माण के लिए क्रियात्मक जीवन के पक्षधर थे। वे चाहते थे कि प्रत्येक मनुष्य पहले स्वयं श्रेष्ठ बने और फिर अपने जीवन में कम-से-कम एक श्रेष्ठ पुरुष का निर्माण अवश्य करे। उनका मानना था कि जैसे बीज बिना गले फल नहीं दे पाता, उसी प्रकार नव-निर्माण के लिए अपनी आहुति देना आवश्यक है। इसलिए अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए पण्डित जी सारी आयु जुटे रहे। उन्होंने अपना बलिदान ही दे दिया। यदि उन्हें दीर्घायु मिली होती तो आज विश्व का रूप ही कुछ और होता। ऐसे प्रतिभावान्, कर्मनिष्ठ एवं मर्यादा पुरुषोत्तम व्यक्ति कभी-कभी धरती की शोभा बढ़ाते हैं। परन्तु जब वे अपना कार्य अधूरा छोड़कर चले जाएँ तो क्षति का अनुमान लगाना सम्भव नहीं होता।

... पण्डित जी का कार्य भी अधूरा पड़ा है।

उनके जीवन की गौरवगाथा हमें इस दिशा में पग बढ़ाने का साहस प्रदान करेगी, उनके जीवन से प्रेरणा लेकर शायद कोई व्यक्ति इस संतप्त धरा का ताप हर सके – इसी आशा के साथ यह जीवन-चरित पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

सर्वप्रथम लाला लाजपतराय ने जून 1891 में पण्डित जी का जीवन-चरित अंग्रेज़ी में लिखा था। केवल एक बार छपा और वह भी कुल मिलाकर पाँच सौ प्रतियाँ। आज वे भी अप्राप्य हो चुकी हैं। उस समय आर्यजगत् की धरती के नीचे बारूद बिछा पड़ा था। किसी समय भी विस्फोट की आशंका थी। अत: पण्डित जी से सम्बन्धित अनेक बातों का उल्लेख तब सम्भव ही न था। बाद में किसी भी भाषा में उनका पूर्ण तथा स्वतन्त्र जीवन-चरित नहीं लिखा गया। हाँ, इसी पुस्तक का उर्दू रूपान्तर अवश्य छपा। हिन्दी में भी संक्षिप्त जीवनियाँ तो छपीं परन्तु विस्तृत जीवन-चरित लिखने का कोई प्रयास नहीं किया गया। न जाने क्यों आर्य विद्वानों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। परिणामस्वरूप उस दिव्य मानव की स्मृति धीरे-धीरे धूमिल हो गई। स्थिति यह हो गई कि उनकी जन्म शताब्दी आई और चली गई। न किसी पत्र ने संस्करण निकाला, न अग्रलेख लिखा। न सभाओं ने कोई समारोह किया, न समाजों ने। कॉलेज पहले से ही उन्हें

भूलने का प्रयास कर रहा था। कृतघ्नता की यह पराकाष्ठा थी। मुझे यह बात बहुत अखरी।

मेरे बड़े भाई श्री बीरूराम आर्य ने मुझे यह पुनीत कार्य करने के लिए कहा। तब मैंने अपनी पीएच.डी. के शोधकार्य में व्यस्तता के बावजूद भी दौड़धूप की। सामग्री संकलित करने में लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, मास्टर आत्माराम अमृतसरी, पण्डित भगवद्दत्त, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पण्डित चमूपति, सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी आदि विद्वानों के ग्रन्थों, उन्नीसवीं शताब्दी के आर्य नेताओं के जीवन-चरितों,आर्यपत्रों तथा पण्डित गुरुदत्त के सम्बन्धी श्री दीनानाथ जी से विशेष सहायता मिली। परन्तु यह जीवन-चरित सम्भवत: प्रकाशित न हो पाता यदि आर्यसमाज के तपस्वी सन्त पूज्य स्वामी अमृतानन्द सरस्वती इस संस्करण के प्रकाशन का पूरा भार न उठाते। उन्होंने जिस साधु-स्वभाव एवं सरल हृदय से सहयोग दिया है, उसके लिए उनका जितना धन्यवाद किया जाए, थोड़ा है। गौरव का विषय है कि जिस कॉलेज के लिए पण्डित जी ने सर्वस्व होम किया था उसके वर्तमान प्राचार्य, आर्यसमाज के योग्य नेता, हिन्दी रक्षा आन्दोलन के अजेय योद्धा एवं मेरे गुरु श्रद्धेय भगवान्दास जी ने प्रस्तावना के रूप में दो शब्द लिखकर आशीर्वाद दिया है। उनका आशीर्वाद हमारा पथ प्रशस्त करता रहेगा। कई मित्रों तथा परिवार के सदस्यों ने प्रशंसनीय योगदान दिया परन्तु कहीं उनकी आत्मीयता को ठेस न पहुँचे, इसलिए उन्हें धन्यवाद देने का साहस मैं नहीं जुटा पाया।

प्रत्येक सुझाव का स्वागत करते हुए मुझे हर्ष होगा।

चण्डीगढ़
26 अप्रैल 1969*

(रामप्रकाश)

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी

पुनश्च

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के हिन्दी में जीवन-चरित की कमी आर्यजन अनुभव करते थे। तब उनके 105वें जन्म दिवस पर अप्रैल 1969 में उस अलौकिक पुरुष का यह जीवन-चरित लिखा गया था। सिख इतिहास के मर्मज्ञ स्वामी अमृतानन्द सरस्वती ने इसे श्री स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन मन्दिर, साधनाश्रम, यमुनानगर से प्रकाशित किया। आर्य जगत् में इस पुस्तक का अत्यधिक स्वागत हुआ। पत्रिकाओं ने प्रशंसात्मक समालोचनाएँ लिखीं तथा विद्वानों ने पत्र। एक विद्वान् ने यहाँ तक लिखा कि मुझे सभी आर्य नेताओं के जीवन-चरित इसी शैली से लिखने चाहिएँ। मैं तो इसके पुनः प्रकाशन की ओर ध्यान न दे सका परन्तु स्वामी ओमानन्द सरस्वती ने हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर द्वारा इसका दूसरा संस्करण अगस्त 1986 में तथा आदित्यप्रकाश आर्य ने अनीता आर्ष प्रकाशन, पानीपत की ओर से इसका तीसरा संस्करण(गुरुदत्त निर्वाण शताब्दी संस्करण 1990-92) प्रकाशित किया। अब तक पण्डित गुरुदत्त का हिन्दी या अंग्रेज़ी में यही एक जीवन-चरित है जिसके एक से अधिक संस्करण छपे हैं।

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी की किसी भाषा में भी लिखी जीवनी का संशोधन करने का सौभाग्य किसी जीवनी लेखक को प्राप्त न हो सका। लाला लाजपतराय संशोधन करना चाहते थे परन्तु अत्यधिक व्यस्तता के कारण न कर पाए। उनकी पुस्तक का संक्षिप्त उर्दू अनुवाद नवम्बर 1891 में प्रकाशित हुआ। इसे 1914 में पुनः मुद्रित करते समय तत्कालीन आर्य पुरुषों के जो संस्मरण पिण्डीदास, मालिक, पुस्तक भण्डार, लाहौर ने बड़ी भावना और परिश्रम से एकत्र किए थे, वे भी यथा स्थान न जोड़े जासके और इस संकलित अमूल्य सामग्री को उन्हें आरम्भ में निजी संस्मरणों के रूप में प्रकाशित करके ही सन्तोष करना पड़ा। इस प्रसंग में पिण्डीदास ने बहुत खेद के साथ लिखा था, ''मैं जानता हूँ कि जिस सूरत में अब यह किताब छप रही है उसे जीवन-चरित नहीं कह सकते। यह महज़ पण्डित जी के हालात का एक बेतरतीब मजमूआ है।'' प्रथम बार मैंने 1969 में इन संग्रहीत संस्मरणों का पूरा-पूरा लाभ उठाया तथा इस सामग्री का कालक्रम एवं प्रसंगानुसार उल्लेख किया।

1996 में मैंने इस स्वलिखित जीवन-चरित के संशोधन का मन बनाया तथा पुस्तक लेखन की आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हुए जिन ग्रन्थों एवं पत्रिकाओं से सामग्री पहले जुटाई थी, उनके सन्दर्भ अंकित

करने चाहे। इससे पुस्तक की प्रामाणिकता बढ़ती है परन्तु तीस वर्ष के पश्चात् सन्दर्भ अंकित करना सरल नहीं है। इसके लिए 1882-1890 तक की पत्रिकाएँ चाहिएँ। आर्यसमाज का न कोई अच्छा पुस्तकालय है, न ही पुरानी पत्रिकाएँ कहीं संग्रहीत हैं। जो सामग्री 1969 में उपलब्ध थी, आज वह भी उन पुस्तकालयों में नहीं मिलती। वस्तुत: प्रथम बार पुस्तक लिखते समय साथ-साथ सन्दर्भों का उल्लेख करना बहुत आसान है, परन्तु बाद में यही कार्य अति दुष्कर है। यह तो ऐसे है जैसे नदी के बहते पानी में फेंके मोतियों को पुन: खोजना। फिर भी यह कार्य प्रभु अनुकम्पा से पूरा हो ही गया – मेरे लिए यह सुखद आश्चर्य है। मैं न केवल वही पुस्तकें एवं पत्रिकाएँ खोज पाया जो पहले पढ़ी थीं, अपितु सौभाग्य से कई अन्य पुस्तकें एवं पत्रिकाएँ भी हाथ लगीं। मुझे दि आर्य (मार्च 1882-फरवरी 1883), द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त (जनवरी 1883-दिसम्बर 1884), आर्य पत्रिका (जून 1885-जून 1888), सद्धर्म प्रचारक (अप्रैल 1889-अप्रैल 1891), आर्य दर्पण (1880-1886), भारत सुदशा प्रवर्तक (1882-1890), द ट्रिब्यून (1882-1890), वैदिक मैगज़ीन (1889) के प्रथम तीनों अंकों के अतिरिक्त आर्य गज़ट, आर्य मुसाफ़िर, प्रकाश, आर्यवीर, रिफारमर आदि पत्रिकाओं के कई अंक प्राप्त हुए। इस प्रकार जो नई सामग्री एकत्रित हुई, उसे भी यथा स्थान जोड़ा गया है। वैसे नया बुनना आसान है परन्तु पुराने ताने-बाने में नया धागा इस प्रकार पिरोना कि नए और पुराने का भेद पता ही न चले, कठिन होता है। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी पर अब इससे अधिक तथ्यात्मक सामग्री मिल पाना मुश्किल जान पड़ता है।

विभिन्न पुस्तकों की कई अशुद्धियाँ टिप्पणियों में अंकित की हैं। दो उदाहरण लीजिए। प्राय: सभी लेखकों ने लिखा है कि 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' केवल चार महीने प्रकाशित हुआ परन्तु इसके दो वर्षों के अंकों का अवलोकन तो मैंने स्वयं किया है। इसी प्रकार प्राय: पुस्तकों में पण्डित जी का 'द नेचर ऑफ़ कॉन्शॅन्स' विषयक लेख 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' में छपा बताया गया है। लाला जीवनदास द्वारा सम्पादित 'द वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी' में भी ऐसा ही लिखा है। वस्तुत: यह लेख 'दि आर्य' में अगस्त 1882 में छपा था। 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' तो अभी छपना भी आरम्भ नहीं हुआ था। अत: स्पष्ट है कि प्राय: लेखक मूल स्रोतों से सामग्री चयन नहीं करते, तभी ये अशुद्धियाँ चलती रहती हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक 1882-1890 ई. तक के काल खण्ड (गुरुदत्त

काल) पर शोध करने वालों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

पुरानी पत्रिकाएँ खोजने से कई तथ्य उजागर हुए हैं, उदाहरणार्थ – पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का मांसाहार के औचित्य एवं अनौचित्य पर लेख ऋषि दयानन्द सरस्वती के जीवनकाल में ही अगस्त 1882 में 'दि आर्य' में छप गया था। अतः यह कहना कि यह विवाद कॉलेज को अपने अधिकार में लेने के लिए उठाया गया था – सरासर अनुचित है। इस लेख के छपने के पौने चार साल बाद कॉलेज स्थापित हुआ था। पण्डित गुरुदत्त के जीवन के कुछ पहलू अब तक अछूते ही रहे हैं, यथा – जीवनी लेखकों ने पण्डित जी द्वारा विज्ञान के प्रचार एवं प्रसार हेतु किए गए महत्त्वपूर्ण योगदान की चर्चा नहीं की। उनके द्वारा स्थापित एवं संचालित 'आर्यसमाज साइंस इन्स्टीट्यूशन' समस्त भारत में अपनी प्रकार का प्रथम संस्थान था (द्रष्टव्य : पृष्ठ 26)। डॉक्टर जगदीशचन्द्र बोस के अतिरिक्त पण्डित गुरुदत्त से पूर्व किसी अन्य भारतीय के विज्ञान का प्रोफेसर अथवा सहायक प्रोफेसर नियुक्त होने की जानकारी उपलब्ध नहीं है। पण्डित जी 12 अप्रैल 1887 को स्थानापन्न सीनियर प्रोफेसर नियुक्त हुए थे, तब तक जगदीशचन्द्र बोस भी सहायक प्रोफेसर ही थे। अतः वे इस क्षेत्र में भी अग्रणी थे।

वस्तुतः पण्डित गुरुदत्त के कार्य का सही मूल्यांकन करना अभी बाकी है। उनके कार्य का सही महत्त्व समझ पाना मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति के बस की बात नहीं है। तो भी इस पुस्तक में इस बार पदचिह्न शीर्षक से एक नया अध्याय जोड़ा है। उनके पदचिह्नों ने जो मार्ग निर्मित किया – उसका हलका-सा उल्लेख इस अध्याय में है। आर्यों एवं गैर-आर्यसमाजियों द्वारा लिखे दर्द भरे लेखों से उन अपेक्षाओं का आभास होता है – जो विद्वत्जन एवं जनहितैषियों को उनसे थीं। यदि गुरुदत्त केवल दस वर्ष भी और जी पाते तो उनके द्वारा रचित साहित्य उन्हें अत्यधिक गौरवपूर्ण पद पर आसीन करता।

1969 में उपलब्ध जानकारी के आधार पर मैंने इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में राय मूलराज के विषय में लिखा था। बाद में 1975 में उनकी स्वलिखित जीवनी छपी। उससे मेरे मत की न केवल पुष्टि हुई अपितु मुझे सन्तोष हुआ कि मैंने उन्हें उनके वास्तविक रूप में ही प्रस्तुत किया था।

सही परिपेक्ष्य समझने के लिए मुझे गुरुदत्त साहित्य को पुनः पढ़ना था। उनका समूचा साहित्य तथा पत्र-व्यवहारादि अंग्रेज़ी में है। गुरुदत्त लेखक

के रूप में अद्‌भुत हैं। जिस विषय पर भी उन्होंने लिखा – वह उनके अधिकारी विद्वान् होने का परिचायक है। मैं और मेरे सहयोगी उनके लगभग अस्सी प्रतिशत लेख प्रथम बार जहाँ छपे थे – वे पत्रिकाएँ खोज पाए। इसलिए जीवनदास द्वारा सम्पादित 'वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी' का उन लेखों से मिलान कर इस साहित्य को पुनः प्रकाशित करने का निश्चय किया है। अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी रूपान्तर के लिए मैंने फ़ादर बुल्के का सहारा लिया है। पुस्तक में प्रत्येक अध्याय के अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थों एवं पत्रिकाओं के संकेत दिए हैं। सन्दर्भ ग्रन्थ सूची में जिस वर्ष का जो प्रकाशन अंकित है, उसी की पृष्ठ संख्या सन्दर्भ एवं टिप्पणियों में उल्लिखित है। उसी पुस्तक के किसी अन्य संस्करण का पृष्ठ भिन्न होना सम्भव है।

मुझे इस कार्य में कई मित्रों ने अमूल्य सहयोग दिया है। डॉक्टर त्रिलोचनसिंह बिन्दरा, रीडर, पंजाब विश्वविद्यालय साधु आश्रम, होशियारपुर के परिश्रम से मुझे कई पत्रिकाओं के अलभ्य अंक प्राप्त हुए। पण्डित ओमप्रकाश आर्य (करनाल) ने दुर्लभ साहित्य का पर्याप्त भण्डार मुझे सौंपा। प्रोफेसर भवानीलाल भारतीय ने भी पूरा सहयोग दिया। मुझे दिल्ली में ब्रॅदरहुड सोसाइटी पुस्तकालय के फ़ादर जेम्स स्टुअर्ट से भी सामग्री प्राप्त हुई। मैं इन सब का बहुत आभारी हूँ। पंजाब विश्वविद्यालय में मेरे साथी एवं सहयोगी प्रोफेसर श्रवणकुमार रिहानी तथा डॉक्टर सुरेन्द्रकुमार मेहता का सहयोग मेरे लिए अमूल्य रहा। प्रिय जितेन्द्र रामप्रकाश ने कुछ अमूल्य सुझाव दिए हैं और प्रिय शैलेन्द्र ने पण्डितजी का रेखाचित्र बनाया है। प्रभु दोनों भाइयों पर अपनी अनुकम्पा बनाए रखे।

आशा है पाठकों को यह प्रयास पसन्द आएगा।

चण्डीगढ़
26 अप्रैल 1998*

(रामप्रकाश)

* पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का 134वां जन्म दिवस

आत्म-निवेदन

भविष्य का रास्ता अतीत से होकर गुजरता है, और अतीत का बोध कराता है इतिहास। जीवनी साहित्य इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है क्योंकि किसी महापुरुष का जीवन-चरित केवल उसकी घटनाओं का ही क्रमवार लेखा-जोखा नहीं होता, अपितु उस युग का दर्पण होता है। ऋषि दयानन्द के मानस-पुत्र पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के विषय में यह अक्षरश: सत्य है। पण्डित जी व्यक्ति विशेष न होकर आर्यसमाज का देहधारी रूप थे। उनके कार्यों एवं चिन्तन को समझने से आर्यसमाज का समग्र स्वरूप हृदयंगम हो जाता है। उससे अनभिज्ञता का अर्थ है — आर्यसमाज विषयक एकांगी, अधूरी और कुछ सीमा तक, भ्रान्तिपूर्ण जानकारी। गुरुदत्त के देहावसान के पश्चात् आर्यसमाज में विघटन का प्रमुख कारण उनके कार्यों एवं दर्शन का न समझ पाना भी रहा। इसलिए पण्डित रामभजदत्त ने नवम्बर 1913 में ठीक ही लिखा था: ''आर्यसमाज के मौजूदा इंतिशार (गड़बड़) का एक इलाज उसकी ज़िंदगी पर गहरी नज़र है। आर्यसमाज के नौजवानों के लिए बहुत सी मुश्किलात का हल और सामाजिक तनाज़आत में फंसे भाइयों की रिहाई का एक तरीका उनके पवित्र ख़यालात का इन्किशाफ़ है।''[1]

इस दिशा में प्रथम प्रयास अमर हुतात्मा लाला लाजपतराय ने उस महान् विभूति का 1891 ई. में जीवन-चरित लिखकर किया था। लाला जी गुरुदत्त के उदय-काल में उनके निकट रहे थे। सहपाठी होने के कारण उन्हें उनके कार्य की गहरी समझ थी। परन्तु ''गुरुदत्त का असली जीवन उन आसमानी ख़यालात का पुंज था जिनके कमालात के वक्त लाला लाजपतराय जी उनसे दूर (हिसार में) रहते थे।''[1] साथ ही उस समय गुटबंदी की उग्रता के कारण अनेक तथ्य उजागर होने से रह गए थे। पण्डित जी की डायरियाँ उनके शिष्य पण्डित रामभजदत्त चौधरी के पास 'बतौर विरसा या अमानत' रखी थीं। रामभजदत्त चौधरी के अनुसार ''उनकी डायरियाँ मामूली हरूफ़ में नहीं हैं। उस वक्त (अर्थात् जब उनका कुछ भाग लाला लाजपतराय को दिया गया) मैंने वो खास अलिफ़ बे (वस्तुत: रोमन वर्णमाला के सांकेतिक अक्षर) जोश में मालूम कर ली थीं। ... अफ़सोस के उनमें से जो कुछ मैंने अख़्ज (उद्धृत) करके श्री लाला लाजपतराय जी को दिया था उसका पूरा

1. पण्डित रामभजदत्त का 27 नवम्बर 1913 को पिण्डीदास, मालिक पुस्तक भण्डार, लाहौर को लिखा पत्र (द्रष्टव्य: लाजपतराय, जीवन-चरित्र पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी (उर्दू), संस्मरण पृष्ठ 9, 10)

इस्तेमाल उन्होंने मुनासिब ख़याल न फ़रमाया।''[1] इसका कारण लाला जी की व्यस्तता रही होगी अन्यथा उन्हें इतनी लग्न थी कि उन द्वारा अंग्रेज़ी में लिखे पण्डित जी के जीवन-चरित का नवम्बर 1891 में किया उर्दू अनुवाद उनके भ्राता दलपतराय, पूज्य पिता मुन्शी राधाकिशन तथा उनके अपने सांझे प्रयास का परिणाम था। बाद में ये डायरियाँ न जाने कहाँ खो गईं। कुछ भी कारण रहे हों, वर्तमान में उपलब्ध अमूल्य दस्तावेज़ भी तब उनके सम्पूर्ण जीवन-चरित का भाग नहीं बन पाए।

1891 में लाला लाजपतराय ने पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का जीवन-चरित लिखा था और सतहत्तर-अठहत्तर वर्ष बाद अप्रैल 1969 में प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इस लम्बे अन्तराल में केवल पिण्डीदास ऐसे भद्रपुरुष हुए जिन्होंने पण्डित जी के समकालीन आर्य नेताओं के संस्मरण एकत्र कर इस जीवन-चरित को पूर्ण बनाने का पुनीत प्रयास किया। उनके आग्रह पर 1914 में कई सज्जनों ने अपने संस्मरण लिखे, परन्तु अधिकांश ने इस भागीरथ प्रयास में कुछ योगदान न किया। इसकी जो पीड़ा उन्हें हुई, उसे वे ही समझ सकते हैं जिन्हें मौलिक सामग्री एकत्र करने के लिए कभी उनकी भाँति धक्के खाए हों। तो भी पिण्डीदास जी जो सामग्री एकत्र कर पाए, उसके लिए वे वन्दनीय हैं तथा नि:स्वार्थ साधनारत अनुसन्धान कर्ताओं के लिए प्रेरणा स्रोत भी।

प्रस्तुत जीवन-चरित उन्हीं प्रयासों की शृंखला की एक कड़ी समझिए। अब तक न केवल इसकी दस सहस्र प्रतियाँ सुधी-पाठकों तक पहुँच चुकी हैं, अपितु कुछ अन्य प्रयास भी हुए हैं, जैसे - प्रोफेसर भवानीलाल भारतीय ने लाला जी द्वारा लिखित अंग्रेज़ी पुस्तक का 1989-90 में हिन्दी अनुवाद किया। प्रोफेसर राजेन्द्र जिज्ञासु ने पण्डित जी की जीवनी लिखी, जिसका दूसरा संस्करण 2004 में प्रकाशित हुआ पण्डित जी के लेखों का संग्रह तथा लाला जी द्वारा 1891 में लिखी उनकी अंग्रेज़ी जीवनी को शताधिक वर्षों पश्चात् मैंने सम्पादकीय टिप्पणियों सहित जनवरी 1999 में पुन: प्रकाशित करवाया। पंचम संस्करण प्रकाशित करते समय मैंने कुछ नूतन सामग्री जोड़ दी तथा कुछ चर्चित व्यक्तियों के चित्र तथा हस्ताक्षर भी दिए। अब नूतन संस्करण में मास्टर आत्माराम अमृतसरी के 1922 में आर्य मित्र (लखनऊ) में छपे लेख का लाभ उठाया गया है और समय के साथ ध्यान में आईं अशुद्धियों को दूर किया गया है। जो बन पड़ा है, उसे परमपिता की अनुकम्पा मानता हूँ।

कुरुक्षेत्र
अक्तूबर 2012

रामप्रकाश (डॉ.)

सूर्योदय

चिरकाल तक भूमण्डल पर आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। बाद में पारस्परिक फूट के कारण वह छोटे-छोटे माण्डलिक राज्यों में विभक्त हो गया। उत्तर भारत में ऐसे ही एक राज्य के शासक राजा जगदीश हुए हैं। उनका जन्म अरोड़ा (सरदाना) कुल में हुआ था। वे बहुत पराक्रमी, साहसी एवं धार्मिक नरेश थे। कहते हैं कि उन्होंने मुस्लिम आक्रामकों से लोहा लेते हुए प्राणों की आहुति दी थी। इसी कारण इस वंश का नाम सरदाना अर्थात् सिर देने वाला प्रसिद्ध हुआ।

कालान्तर में इसी प्रतिष्ठित कुल में मेहता गिरधारीलाल ने जन्म लिया। मेहता जी मुलतान[1] के रहने वाले थे तथा नवाब बहावलपुर की ओर से अमीर काबुल के दरबार में दूत थे। लोगों में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। मुलतान के अधिपति दीवान सावनमल मेहता जी के घनिष्ठ मित्र थे और इस परिवार का बड़ा मान किया करते थे।

मेहता गिरधारीलाल के पौत्र रामकृष्ण का जन्म 1822 में हुआ। रामकृष्ण का शरीर सुन्दर, सुडौल एवं सुगठित था। स्मरणशक्ति तीव्र और बुद्धि प्रखर थी। वे मितभाषी और एकान्त प्रिय थे। स्वभाव कुछ तेज़ था। इसलिए लोग प्राय: उन्हें 'खुश्की' कहा करते थे। लाला रामकृष्ण फ़ारसी के योग्य विद्वान् तथा पंजाब शिक्षा विभाग में अध्यापक थे। लाला जी की पत्नी रूपवती तथा आयु में उनसे लगभग तेरह वर्ष छोटी थी। उसका कद साधारण, रंग गोरा तथा माथा चौड़ा था। देवी यद्यपि शिक्षिता नहीं थी परन्तु उदार, सहनशील, धार्मिक एवं गृह-कार्यों में अत्यन्त निपुण थी। शिक्षा विभाग से सेवा-निवृत्त होने के समय लाला जी का वेतन केवल साठ रुपये मासिक था। गृहलक्ष्मी इतनी आय में गृहस्थी का निर्वाह अपनी योग्यता के कारण सहज ही सुचारु रूप से चला लेती थी। किसी कठिनाई में घबरा जाना तो उसका स्वभाव ही न था। वह एक आदर्श भारतीय महिला थी।

उनकी गृहस्थ-वाटिका में कई पुष्प खिले[2] परन्तु प्राय: थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् मुरझा गए। इस प्रकार जीवन आशा-निराशा के प्रेक्षादोला में झूल रहा था। आशा झलकती तो रही परन्तु न जाने क्यों निराशा उसे सदैव आच्छादित कर देती थी। सन्तान के बिना गृहस्थी ऐसी है जैसे आत्मा के बिना शरीर, तेल बिना दीपक। वर्षों बीत गए और घर में कोई पुत्र रत्न

नहीं। बस, आशा-कलिका मुरझा गई। निराशा का प्रगाढ़ अन्धकार छा गया। धीरे-धीरे यह चिन्ता शरीर को घुन की तरह खाने लगी।

आरम्भ से ही दम्पति को साधुओं तथा योगियों में गहरी श्रद्धा थी। अत: दुखी हो एक दिन उन्होंने अपने कुल-गुरु के पास जा सारी व्यथा कह सुनाई। गुरु ने आशीर्वाद दिया और कहा — ''वत्स! वह प्रभु परम दयालु, सर्वशक्तिमान् एवं भक्तवत्सल हैं। वह अवश्य दया करेंगे।'' साथ ही कुछ सावधानियाँ भी बताईं तथा वचन लिया कि यदि पुत्र हुआ तो उन्हें समर्पित किया जाएगा। कुछ समय पश्चात् 26 अप्रैल 1864 तदनुसार वैशाख कृष्ण पक्ष पंचमी, सम्वत् 1921 वि. मंगलवार[3] को मुलतान में दिल्ली दरवाजा के अन्दर मातरां वाला मोहल्ला में रहने वाले इस परिवार में एक बालक ने जन्म लिया। यही बालक बड़ा होकर गुरुदत्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सब ने पुत्ररत्न की प्राप्ति को गुरु की देन समझा। वैसे काली रात और उसके पीछे स्वर्णिम प्रभात – यह सृष्टि का अटल नियम है। कुछ भी हो, चारों ओर हर्ष फैल गया।

पिता ने बालक के जन्म से पूर्व ही बच्चे को गुरु गोसाईं[4] की भेंट करने का वचन दे दिया था। अत: बच्चे को गुरु की अमानत समझकर ही माता-पिता पालते रहे। बाद में बच्चे के विवाह से पूर्व कुछ धन देकर गुरु से खरीद लिया गया।

गुरुदत्त आकृति में रामकृष्ण की प्रतिमूर्ति था। उसमें माता, पिता तथा कुल तीनों के गुण विद्यमान थे। माँ का धैर्य, संयम एवं धार्मिक वृत्ति, पिता की स्मरणशक्ति, सूक्ष्म बुद्धि, दृढ़ संकल्प तथा शारीरिक बल और कुल की वीरता एवं धर्म के लिए बलिदान की पवित्र भावना का सम्मिश्रण ही नवजात बालक था। प्रदेश के जलवायु का प्रभाव भी व्यक्ति पर पड़ता ही है। अत: मुलतान के गर्म जलवायु ने भी उसे हृष्ट-पुष्ट, परिश्रमी एवं सहनशील बनने में योगदान दिया।

बालक का जन्म-नाम मूला रखा गया।[5] माता-पिता की एक मात्र सन्तान ही परिवार का मूलधन थी। इस दृष्टि से यह नाम उपयुक्त लगता है। बच्चा अभी कुछ महीने का ही हुआ था कि लाला रामकृष्ण उसे गुरु-चरणों में ले गए। गुरु ने प्रसन्न हो बालक का नाम वैरागी रख दिया। कहना कठिन है कि यह नाम अनायास रखा गया या गुरु की मनोविज्ञान में इतनी गति थी कि उसने बचपन में ही बच्चे की प्रवृत्ति को भाँप लिया था। वैरागी बारह वर्ष का हुआ तो अपने माता-पिता के साथ हरिद्वार गया।

वहाँ गोस्वामी राधेलाल[6] ने उसे गुरांदित्ता (गुरुदित्ता) कहकर पुकारा। बड़ा होने पर गुरांदित्ता ने स्वयं अपना नाम संशोधित कर गुरुदत्त रख लिया।[7]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. अविभाजित भारत में मुलतान पंजाब प्रान्त का एक प्रमुख नगर था। आजकल पाकिस्तान का भाग है। इस जीवन-चरित में चर्चित लाहौर, पेशावर, रावलपिण्डी, जेहलम, मुजफ्फरगढ़, गुजरांवाला आदि कई अन्य नगर भी अब पाकिस्तान में हैं।

2. पुत्र रत्न प्राप्ति की लालसा में इस गृहस्थी में लगभग अठारह सन्तानों ने जन्म लिया परन्तु केवल तीन पुत्रियाँ और उनसे छोटे गुरुदत्त ही जीवित रहे (निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद अर्थात् पण्डित गुरुदत्त एम.ए., पृष्ठ 23)। गुरुदत्त की एक बहन प्रेमदेवी थी। उनके पति हेमराज मुजफ्फरगढ़ में कार्यालय अधीक्षक थे। यह परिवार भी मुलतान में रहता था। उन्होंने बीसवीं सदी के प्रथम दशक में वहाँ स्थापित अनाथालय के लिए अपना मकान तथा वाटिका दान दे दी थी (राजेन्द्र जिज्ञासु, मुनिवर पं.गुरुदत्त विद्यार्थी, पृष्ठ 56)।

3. **26 अप्रैल 1864 मंगलवार की विक्रमी तिथि अब तक सभी पुस्तकों में भूल से 6 वैशाख, संवत् 1921 लिखी जाती रही है, जबकि यह वैशाख कृष्ण पक्ष पंचमी बैठती है। इस भूल का आधार लाला लाजपजराय रचित पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क) है। वस्तुतः 6 वैशाख, संवत् 1921 को 17 अप्रैल 1864, आर्द्रा नक्षत्र और मिथुन राशि है। यह भूल पहली बार शोधी गई है।**

4. निहालचन्द भण्डारी के अनुसार गोकुलिया गोसाईं इस कुल के गुरु थे (द्रष्टव्यः उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद, पृष्ठ 22)।

5. जन्मपत्री में 'मूल' लिखा था क्योंकि बच्चे का जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था।

6. इन्द्र विद्यावाचस्पति ने आर्यसमाज का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 209 में स्वामी राधेश्याम नाम लिखा है — परन्तु सही नाम गोस्वामी राधेलाल ही है (द्रष्टव्यः लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 4; सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी, वेदभक्त पण्डित गुरुदत्त एम.ए., पृष्ठ 9)।

7. इनका नाम दि आर्य (अगस्त 1882, पृष्ठ 109) में पण्डित गुरा दत्ता विद्यार्थी, द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त (16 अप्रैल 1883) में पण्डित गुरुदत्त, एफ.ए. परीक्षाफल में गुरुदत्त (द्रष्टव्यः द ट्रिब्यून, 16 जून 1883) तथा बी.ए. परीक्षा परिणाम में गुरुदत विद्यार्थी (द्रष्टव्यः द ट्रिब्यून, 20 जून 1885) छपा है।

बाल्यकाल

माता-पिता को पुत्र रत्न की प्राप्ति बहुत प्रतीक्षा और तपस्या के पश्चात् हो पाई थी। उसके जन्म से पूर्व वे अनेक आघात सह चुके थे। अत: बालक के साथ असीम स्नेह होना स्वाभाविक था। फिर बालक भी असाधारण था। अभी एक वर्ष का ही हुआ था कि दौड़ने लग गया। स्वभाव से इतना जिज्ञासु कि जो वस्तु देखता, उसी के विषय में झटपट कई प्रश्न पूछ डालता। माता-पिता उसकी प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ न थे। उन्होंने उसे बड़े लाड़-प्यार एवं सावधानी से पाला। वे उसकी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए सदैव तत्पर रहते।

लाला रामकृष्ण स्वयं अध्यापक थे। वे जानते थे कि प्राय: प्राइमरी स्कूलों में पढ़ाई का अच्छा प्रबन्ध नहीं होता। अत: गुरुदत्त को आरम्भिक शिक्षा घर पर दी गई। मुलतान कचहरी में काम करने वाला एक मुसलमान दफ़्तरी उसे उर्दू वर्णमाला सिखाने के लिए घर आने लगा। गुरुदत्त ने वर्णमाला शीघ्र कण्ठस्थ कर ली। एक दिन एक विचित्र घटना घटी। अध्यापक पढ़ा रहा था कि 'अलिफ़' और 'बे' के योग से 'अब' बनता है। प्रखर बुद्धि बालक ने मानने से इनकार कर दिया, बोला – अलिफ़ और बे को जोड़कर भी अलिफ़ बे रहना चाहिए। 'अब' कैसे बन गया? प्रश्न सरल एवं स्वाभाविक था परन्तु बेचारा दफ़्तरी भी क्या उत्तर देता? उर्दू भाषा ही ऐसी है। बस, जब उससे बालक की सन्तुष्टि न हो पाई तो उसने कुपित होकर बच्चे को झिड़क दिया। गुरुदत्त ने पढ़ने से इनकार कर दिया तथा सारी कथा पिता जी को जा कह सुनाई। बाल रवि प्रभात होने से पूर्व ही अपना प्रकाश फैलाने के लिए मचल रहा है – यह जानकर लाला जी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने गुरुदत्त को बड़े प्यार से समझाया – ''बेटा, मास्टर जी जो कहें, वह मान लिया करो।''

गुरुदत्त ने केवल पाँच वर्ष की आयु में ही वर्णमाला सीख ली थी। वह छह वर्ष का हुआ तो प्राचीन भारतीय पद्धति से गणित आरम्भ किया गया। आरम्भ में पिता जी ने उसे अंगुलियों की सहायता से गिनना सिखाया। बाद में अंगुलियों की सहायता लेना बंद कर दिया। बुद्धि तेज़ थी ही। लक्षों तक की गुणा मौखिक कर लिया करता था। उर्दू तथा फ़ारसी सीखने के पश्चात् अंग्रेज़ी आरम्भ करनी थी। लाला जी स्वयं अंग्रेज़ी नहीं

जानते थे परन्तु उन्हें अपने पुत्र की शिक्षा में इतनी रुचि थी कि वृद्धावस्था में अंग्रेज़ी पढ़नी आरम्भ की। उस समय के शिक्षा विभाग के निदेशक कर्नल डब्ल्यू. आर.एम. हालरॉइड लिखित 'हाऊ टू स्पीक इंग्लिश' नामक पुस्तक पढ़कर गुरुदत्त को स्वयं अंग्रेज़ी पढ़ानी शुरू कर दी थी ताकि उसे अंग्रेज़ी पढ़ने में रुचि हो जाए।

रामकृष्ण का पढ़ाने का ढंग बड़ा मनोरंजक था। वह मार-पिटाई के पक्ष में नहीं थे। प्राय: गुरुदत्त को खाने-पीने के पदार्थ देकर पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया करते थे। कई बार गुरुदत्त को अपने साथ निकटवर्ती ग्रामों में ले जाते। राह में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रश्न पूछने देते और स्वयं सस्नेह उत्तर देते जाते।

लाला रामकृष्ण डिस्ट्रिक्ट स्कूल, आधीवाल (झंग) में अध्यापक थे। अत: गुरुदत्त को उसी स्कूल में प्रविष्ट करवाया गया। तब उसकी आयु आठ वर्ष थी। उसने उर्दू तथा फ़ारसी में तो पहले ही अच्छी योग्यता अर्जित कर ली थी। अन्य विषयों में भी कक्षा में आगे रहता था। फ़ारसी में थोड़े समय में ही मस्नवियात मौलाना रूम, दीवान-ए- हाफ़िज और शम्स तबरेज आदि पढ़ लिए। इन पुस्तकों के काफी शे'र उसे कण्ठस्थ थे। उर्दू के वाक्यों को सहज ही फ़ारसी पद्य में बदल लिया करता था। विद्यार्थी उसकी योग्यता के कारण उसे 'गुरुजी' कहा करते थे।

उन दिनों गुरुदत्त को दूध और पेड़े का बड़ा चाव था। मांस से उसे सदैव घृणा रही। मिडिल की परीक्षा से पूर्व एक बार पिता जी ने उसे मांस खाने के लिए प्रेरित किया परन्तु तभी गुरुदत्त को कहीं से 'सोलह दलाइल बरखिलाफ़ गोश्त' हाथ लग गया। उसे पढ़कर दृढ़ विश्वास हो गया कि मांस अभक्ष्य है। बस, फिर क्या था! गुरुदत्त ने तुरन्त अपने पिता जी से स्पष्ट कह दिया कि जब तक तर्क एवं प्रमाण से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि मांस-भक्षण पाप नहीं है तब तक मुझे इसके लिए विवश मत कीजिए। तदनन्तर रामकृष्ण ने कभी आग्रह नहीं किया।

गुरुदत्त ने आईना-ए-मज़हब-ए-हनूद-(हिन्दू मत दर्पण) पढ़कर अनहद (असीम) शब्द के जप की रीति सीख ली और जप आरम्भ कर दिया। वह घण्टों आकाश की ओर देखता रहता और उस ईश्वर की कारीगरी पर विचार किया करता। साथ-साथ प्राणायाम का अभ्यास भी शुरू कर दिया। एक दिन नाक पर अंगुली रखकर प्राणायाम करते हुए माता जी ने देख लिया। बहुत क्रुद्ध हुईं और काफी डाँट भी पिलाई। ईश्वर-भक्त बालक

ने सविनय कहा- ''माँ! मैं आकाश की अद्‌भुत चमकीली वस्तुओं को देखता हूँ। जिस प्रभु ने ये चमकने वाले सूर्यादि रचे हैं, उस तक पहुँचने की राह खोज रहा हूँ। तू भी उधर देख और मेरी तरह उस रचयिता को ढूँढ़।'' नाम का वैरागी सच्चा वैरागी बनने की तैयारी कर रहा था।

गुरुदत्त के इस ईश्वर विश्वास तथा श्रद्धा के पीछे कोई शास्त्र या तर्क का आधार नहीं था। स्वल्पायु बालक केवल पारिवारिक संस्कारों एवं वातावरण के कारण इधर झुका हुआ था। यह लघु एवं कोमल पौधा पाश्चात्य विचारधारा की आँधी का मुकाबला करने में अभी समर्थ भी न हो पाया था कि विचारों की स्वतन्त्रता और जिज्ञासा-वृत्ति ने उसे नास्तिकता की ओर धकेल दिया। पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थ पढ़ने से प्राचीन विश्वास हिल गए। पाठ्य-पुस्तकों से भी संशयवाद को प्रोत्साहन मिला। उस समय नवीन सभ्यता की चमक-दमक तथा ईसाइयत के प्रचार ने उथल-पुथल मचा रखी थी। गुरुदत्त पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और वह पड़ा भी। रही सही कसर लुधियाना के मुन्शी कन्हैय्यालाल अलखधारी[1] की पुस्तकों ने पूरी कर दी। वे एक प्रसिद्ध एवं स्वतन्त्र विचारक थे और अपने लेखों में पौराणिक मत के अन्धविश्वासों का खण्डन किया करते थे। उनके विचारों को पढ़कर नास्तिकता को और अधिक बल मिला। विकसित होने से पूर्व ही पौधे पर कोहरा पड़ गया। सूर्य को मेघ ने ढाँप लिया। सरिता का प्रवाह, कुछ समय के लिए ही सही, रुक गया।

उन दिनों हिन्दुओं में बाल-विवाह की प्रथा थी। गुरुदत्त अभी मिडिल में ही पढ़ता था कि उसका विवाह कर दिया गया।[2क] उसकी धर्मपत्नी का नाम सेवीबाई था। सेवीबाई के पिता मेहता मूलचन्द गोडावारा थानेदार थे और मुलतान में ही बोहर दरवाजा के अन्दर गली नौ गजी क़ब्र वाली के निकट रहते थे। सेवीबाई की माता बघई घराने से थी। सेवीबाई का कद लम्बा, सेहत अच्छी, रंग गोरा तथा स्वभाव मधुर था। वह अपने भाई-बहिनों में सबसे बड़ी थी। उससे छोटी तीन बहिनें तथा एक भाई लच्छमनदास था।[3]

उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में धार्मिक जगत् में काफी उथल-पुथल रही। राम और कृष्ण की सन्तान वेद और आर्ष-ग्रन्थों से अनभिज्ञ हो मस्जिद और गिरजाघर की ओर दौड़ रही थी। मन्दिर का दीप बुझा चाहता था। पादरी तथा मौलवी के घर में रौनक बढ़ती जा रही थी। मीन प्यास बुझाने और शान्ति की प्राप्ति के लिए जल से निकल धूल-धूसरित हो रही

थी। ऐसे भयंकर समय में एक साधु आर्यसमाज रूपी अग्नि प्रज्जवलित कर मत-मतान्तरों को भस्म कर रहा था और साथ ही वैदिक धर्म रूपी स्वर्ण को तपाकर कुन्दन बना उसकी ओर पुनः आर्य जाति को आकर्षित करने में लगा हुआ था।

उन्हीं दिनों (1878) गुरुदत्त ने पंजाब शिक्षा विभाग की एंग्लो वर्नाकुलर मिडिल परीक्षा पास कर मुलतान के उच्च विद्यालय में प्रवेश प्राप्त किया। विचारों से नास्तिक, कच्ची आयु – यही कोई चौदह वर्ष, परन्तु ज्ञानोपार्जन की लग्न। यहाँ उसे बहुमुखी विकास के लिए उपयुक्त अवसर हाथ लगा। उसकी ईश्वरप्रदत्त तीव्र बुद्धि, योग्यता तथा अद्‌भुत स्मरण-शक्ति ने अध्यापकों एवं सहपाठियों को चकित कर दिया। दशम कक्षा के विद्यार्थी प्रायः उससे सीखने के लिए आने लगे। कई बार अध्यापक भी उसके प्रश्नों का उत्तर न दे पाते। बुद्धि इतनी कुशाग्र थी कि गणित के प्रश्नों के उत्तर मौखिक दे दिया करता था।

स्कूल के मुख्याध्यापक बाबू मनमोहन सरकार उसे बहुत प्यार करते थे। प्रायः स्वाध्याय के लिए पुस्तकें भी देते रहते थे। गुरुदत्त की स्वाध्याय में बड़ी रुचि थी। उसने पहले स्कूल का पुस्तकालय छान मारा। फिर लहंगा खां के बाग में स्थित पुस्तकालय की अधिकांश पुस्तकें पढ़ डालीं। मास्टर दयाराम वर्मा[4] से आईसिस अन्वेल्ड, द बाइबिल इन इण्डिया तथा इण्डिया इन ग्रीस आदि ग्रन्थ लेकर पढ़े।[5] इन दिनों स्कूल की सामान्य शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों के अतिरिक्त विज्ञान की आरम्भिक पुस्तकों का अध्ययन भी साथ-साथ चलता रहता था।

गुरुदत्त को फ़ारसी की शिक्षा तो पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी। अंग्रेज़ी का वैसे ही बोलबाला था। रही बेचारी संस्कृत, वह अपना प्राचीन गौरव खो चुकी थी। ये उसके दुर्दिन थे। इसी लिए गुरुदत्त सरीखा विद्याव्यसनी भी सर्वभाषाओं की जननी एवं ज्ञान के इस अक्षय भण्डार को मृतभाषा कहकर पुकारा करता था। एक दिन गुरुदत्त अपने सहपाठी तथा मित्र चेतनानन्द के घर गया। वहाँ मनुस्मृति रखी थी। उसे पाँव से ठुकरा कर बोला, ''चेतनानन्द! किस गली-सड़ी एवं मृतभाषा में लिखी पुस्तकें पढ़ते हो?'' परन्तु प्रभु की लीला देखिए। थोड़े दिनों पश्चात् स्वयं गुरुदत्त पर संस्कृत का जादू हो गया। उसके हृदय में संस्कृत पढ़ने की लालसा पैदा हुई। श्रेय गया स्कूल में इतिहास पढ़ाने वाले उस अध्यापक को जो इतिहास पढ़ाते समय अनेक अंग्रेज़ी शब्दों का मूल संस्कृत में बताया करता था। गुरुदत्त ने सोचा - ''क्यों न स्वयं संस्कृत पढ़कर

सच्चाई का पता लगाया जाए?'' बस 'मूल' ने मूल तक पहुँचने की ठान ली। वह संस्कृताध्यापक के पास अन्य विद्यार्थियों के साथ संस्कृत पढ़ने जाने लगा। गुरुदत्त का स्वभाव था प्रत्येक बात की गहराई में जाना। अध्यापक से कई बार उसकी शंकाओं का समाधान न हो पाता। एक दिन उसने गुरुदत्त को झिड़क कर कक्षा से बाहर निकाल दिया और पढ़ाने से इनकार कर दिया। वह अपनी राम-कहानी सुनाने मुख्याध्यापक के पास चला गया। मनमोहन सरकार उसकी योग्यता से पूर्व परिचित थे। कहने लगे – ''बेटा, मेरी राय में तुम स्कूल में संस्कृत मत पढ़ो और स्वतन्त्र अध्ययन करो।''

जल की धारा अपना मार्ग स्वयं बनाने निकल पड़ी। सर्वप्रथम डॉक्टर बेलनटाइन कृत 'ईज़ी लेसन्ज़ इन संस्कृत ग्रामर' पढ़ा। संयोगवश तभी ऋषि दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका हाथ लग गई। उसका संस्कृत भाग शब्दकोश की सहायता से पढ़ लिया। बस, फिर क्या था! संस्कृत पढ़ने की रुचि बढ़ती चली गई। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का पारायण कर आर्यसमाज मुलतान[6] के अधिकारियों से जा कहा – ''मेरा अष्टाध्यायी तथा वेदभाष्य पढ़ने का प्रबन्ध कर दो अन्यथा मैं जनता में प्रसिद्ध कर दूँगा कि तुम्हारे एक भी व्यक्ति में संस्कृत पढ़ाने की योग्यता नहीं है। तुम संस्कृत का केवल ढोल ही पीटते हो।'' विचित्र बालक है। किस चपलता से संस्कृत अध्ययन का प्रबन्ध करवा रहा है? आर्यसमाजियों में भी खूब उत्साह था। तत्काल पण्डित अक्षयानन्द को मुलतान बुलाया गया। भक्त रैमलदास और गुरुदत्त आदि ने संस्कृत पढ़नी आरम्भ कर दी। गुरुदत्त को अष्टाध्यायी पढ़ने की इतनी रुचि थी कि एक बार पूर्णचन्द स्टेशन मास्टर बहावलपुर के निमन्त्रण पर पण्डित अक्षयानन्द वहाँ चले गए तो वह किराया खर्च कर पढ़ने के लिए बहावलपुर ही पहुँच गया[2ख] परन्तु इतिहास की फिर पुनरावृत्ति हुई। पण्डित अक्षयानन्द भी उसे पढ़ाने में असमर्थ सिद्ध हुए। गुरुदत्त कोई साधारण विद्यार्थी तो था नहीं! उसकी सन्तुष्टि न हो सकी। डेढ़ मास में डेढ़ अध्याय अष्टाध्यायी का पढ़ने के पश्चात् अक्षयानन्द से पढ़ना छोड़ दिया। शेष अष्टाध्यायी सम्भवतः ऋषि दयानन्द के वेदांगप्रकाश की सहायता से स्वयं पढ़ी। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी नौ मास में पढ़ ली। कॉलेज में प्रविष्ट होने से पूर्व अष्टाध्यायी पर उसका अच्छा अधिकार था।

भक्त रैमलदास तथा लाला चेतनानन्द गुरुदत्त के अभिन्न सखा थे। ये दोनों युवक आर्यसमाज मुलतान के सदस्य थे। गुरुदत्त उनके साथ प्रायः ईश्वरादि विषयों पर वार्तालाप करता रहता। जब वह दशम कक्षा में हुआ

तो उसने सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण पढ़ा। बस, संस्कृत तथा सत्यार्थप्रकाश के अध्ययन से आर्यसमाज में रुचि बढ़ने लगी। हृदय में सत्य का प्रकाश हुआ। परिणामस्वरूप 20 जून 1880 रविवार के शुभ दिन उसने आर्यसमाज की सदस्यता का फार्म भरकर मन्त्री जी को दे दिया और विधिवत् आर्यसमाज मुलतान का सदस्य बन गया।[7] गुरुदत्त का आर्यसमाज में प्रवेश एक क्रान्तिकारी ऐतिहासिक घटना सिद्ध हुई। इससे दोनों का गौरव बढ़ा। इस दिन नाविक की दृष्टि किनारे पर जा जमी। उसे लक्ष्य मिल गया और आर्यसमाज को एक अजेय योद्धा। माला की शोभा के लिए इस मोती की आवश्यकता थी और मोती की सार्थकता भी माला में पिरोए जाने में ही थी। इस संसार में जो बिंध गया सो मोती, रह गया सो पत्थर। उद्यान में पुष्प खिला तो दोनों का जीवन सफल। साथ ही जग को लाभ। यदि बीहड़ वन में खिल गया तो किस अर्थ?

गुरुदत्त आर्यसमाज में नियमपूर्वक जाने लगा। आर्य सज्जन भी उससे बहुत स्नेह करते तथा उसकी उन्नति में रुचि लेते थे। एक बार आर्योद्देश्यरत्न-माला, अष्टाध्यायी तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में से गुरुदत्त की परीक्षा ली गई। उसकी योग्यता देख उसे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पारितोषिक में दी गई।

जिन दिनों गुरुदत्त मुलतान में अष्टाध्यायी पढ़ा करता था, वहाँ एक पौराणिक साधु आए। उसने आर्यों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। गुरुदत्त के बारे में तो यहाँ तक कह दिया कि वह अभी बालक है। हमारे मुकाबले में उसे जरा भी संस्कृत नहीं आती। लोगों ने कहा – 'महाराज! परीक्षा करके देख लो। उसके पास कोई श्लोक लिख भेजो। बस, उसकी योग्यता का पता चल जाएगा।' साधु को क्या पता था कि यह अभिमन्यु किसी भी चक्र-व्यूह को तोड़ देगा। एक श्लोक भेज बैठा। गुरुदत्त ने तुरन्त उसके उत्तर में कई श्लोक लिख दिए। इन श्लोकों में एक शब्द था – धी चोद्। साधारण भाषा में यह गाली है परन्तु इसका अर्थ है – वह परमात्मा जो बुद्धि को प्रेरणा देता है। बेचारा संन्यासी समझ न पाया तथा कहने लगा कि मेरे लिए अपशब्द प्रयुक्त किए हैं। जब गुरुदत्त ने सही अर्थ किए तो बहुत लज्जित हुआ।

होनहार युवक बौद्धिक विकास के साथ-साथ शारीरिक उन्नति के प्रति भी सजग था। उसे व्यायाम में गहरी रुचि थी। वह स्कूल का प्रसिद्ध खिलाड़ी था और क्रिकेट उसका प्रिय खेल था। सहपाठियों को दौड़ में कभी आगे न जाने देता था। खेल-कूद एवं मनोरंजन में गुरुदत्त ने कभी

गर्मी-सर्दी की चिन्ता नहीं की। मुलतान अपनी असह्य गर्मी के लिए प्रसिद्ध है परन्तु गुरुदत्त ने कभी छाते का प्रयोग नहीं किया। स्कूल से बारह बजे छुट्टी होने पर सीधे घर नहीं आता था अपितु प्रायः सारे नगर का चक्कर लगाकर घूमते-घूमते घर पहुँचा करता था।

गुरुदत्त सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध था। एक बार उसकी कक्षा के विद्यार्थियों में झगड़ा हो गया। गुरुदत्त तथा रैमलदास एक ओर थे, बाकी सब दूसरी ओर। मुख्याध्यापक ने उन दोनों के कथन को विश्वसनीय समझकर निर्णय कर दिया। विद्यार्थियों ने इस निर्णय के विरुद्ध स्कूल निरीक्षक को लिख भेजा। परन्तु उसने भी उन्हीं के पक्ष में निर्णय दिया।

उन दिनों गुरुदत्त की योग में काफी रुचि थी। किसी योगी महात्मा के मुलतान आने का पता चलता तो अवश्य दर्शनार्थ पहुँचता। एक महात्मा प्रायः मुलतान आते रहते थे। उनकी आयु एक सौ बीस वर्ष के लगभग बताई जाती थी परन्तु एक भी बाल सफेद नहीं था। यहाँ उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। गुरुदत्त के चाचा कँवलनयन उनके बड़े श्रद्धालु थे। वह उनके साथ छह वर्ष जंगल में रह चुके थे। गुरुदत्त अपने चाचा के साथ महात्मा जी की सेवा में पहुँच गया और निम्नलिखित वार्तालाप हुआः

गुरुदत्त – महाराज! योग सीखने की सर्वोत्तम विधि कौनसी है? जो महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्रों में वर्णन की है, वह या कोई और?
साधु – पतंजलि की विधि ही ठीक है। अन्य विधियाँ कपोल-कल्पित हैं।
गुरुदत्त – क्या आप स्वामी दयानन्द के विषय में कुछ जानते हो?
साधु – हाँ, हम जंगलों में इकट्ठे रहे हैं। एक बार हम एक स्थान पर भागवत पुराण बांचने वाले एक पण्डित के पास कथा सुनने जाते रहे। स्वामी दयानन्द जी पुराणों की बातें सुनकर दुखी हो जाया करते थे।
गुरुदत्त – क्या वेद समस्त विद्याओं का भण्डार है?
साधु – हाँ।
गुरुदत्त – क्या सैन्य संचालन और व्यूह रचना के नियम भी वेदों में हैं?
साधु – हाँ, हैं। ये सिद्धान्त मैं स्वयं भी जानता हूँ। यदि कोई छह मनुष्य मेरे साथ बन में चलें तो मैं उन्हें महाभारत तथा रामायण के समय की शैली पर शिक्षा दे सकता हूँ।

गुरुदत्त ने महात्मा जी से बुद्धि तीव्र बनाने का ढंग पूछा। इस पर साधु ने उसे एक नुस्खा लिखा दिया जिसमें बहुत-सी औषधियाँ वे ही थीं जो संस्कारविधि में लिखी हैं।

स्वाध्याय में रुचि के कारण गुरुदत्त ने सोलह वर्ष की अल्पायु में ही संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, अरबी, हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। अष्टाध्यायी पर उसका अधिकार था। फ़ारसी तथा अरबी व्याकरण का ज्ञान भी कम न था। अरबी भाषा में सर्फ़मीर तथा नहवमीर पढ़ चुका था।[8] फ़ारसी के भी कई प्रसिद्ध ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था। अंग्रेज़ी साहित्य के सभी अंगों पर पर्याप्त अधिकार था। जॉन मिल्टन, शेक्सपियर, कूपर, हक्सले, हर्बर्ट स्पेन्सर आदि लेखकों के ग्रन्थों का भी पारायण कर चुका था। गणित में उसकी विशेष योग्यता थी। कठिन-से-कठिन प्रश्न पल में हल कर लेता था। दशम कक्षा पास करने तक परीक्षा के सिवाय कभी भी प्रश्न स्लेट या कापी पर नहीं निकाला। वर्गमूल, घनमूल, बीजगणित, रेखागणित के प्रश्नों के उत्तर मौखिक दिया करता था। न्यायदर्शन और भौतिकीय विज्ञान उसके प्रिय विषय थे। विज्ञान के प्रति उसका झुकाव आरम्भ से ही था। भारत तथा इंग्लैंड का इतिहास व भूगोल पढ़ चुका था। तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान के अनेक ग्रन्थ पढ़ डाले थे। स्वाभाविक कवि था और कविता के नियमों का उसे सम्यक् ज्ञान था। छन्दशास्त्र में अच्छी गति थी। उसकी कविता सरल और सुन्दर होती थी। अंग्रेज़ी, फ़ारसी, संस्कृत आदि कई भाषाओं में कविता कर लेता था। फ़ारसी में छोटी-छोटी कविताओं की रचना तो कई बार की परन्तु एक बार लम्बी कविता भी लिख डाली। ईश्वरप्रदत्त तीव्र मेधा-बुद्धि का स्वामी बालक प्रत्येक क्षेत्र में रुचि रखता था। वीणा एक, पर झंकृत स्वर अनेक थे।

गुरुदत्त में अच्छे वक्ता के सभी गुण आरम्भ से ही विद्यमान थे। उसके स्वर, चेष्टा आदि सभी प्रसंग के अनुकूल होते थे। भाव-भंगिमा से ही हृदय का भाव स्पष्ट व्यक्त कर देता था। शेक्सपियर की रचनाओं को इस प्रकार पढ़ता था मानो नाटक खेला जा रहा हो। एक बार मुख्याध्यापक महोदय कोई निबन्ध पढ़ा रहे थे जिसकी समाप्ति 'यह रही' (Here it is.) वाक्य से होती थी। विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने कहा कि जो बालक इस वाक्य का उच्चारण प्रसंग के अनुकूल करेगा उसे पाँच रुपये पारितोषिक दिया जाएगा। कई विद्यार्थियों ने प्रयास किया परन्तु असफल रहे। कई बालक तो दूसरों को असफल देखकर प्रयत्न करने का साहस ही न जुटा पाए। तब गुरुदत्त को बुलाया गया। दूसरों की असफलता के कारण उसने न हिम्मत हारी, न ही विचलित हुआ। जेब में एक पुस्तक डाली। पूरे विश्वास के साथ आगे बढ़ा। फिर मेज पर चढ़ने की अनुमति

माँगी ताकि सब उसे देख सकें। अनुमति मिलते ही फुर्ती के साथ मेज पर चढ़ गया। पहले उससे पूर्व का प्रसंग पढ़ा। ज्यों ही अन्तिम वाक्य पर पहुँचा तो भाव-भंगिमा बिलकुल तदनुरूप बन गई और एकदम जेब में से पुस्तक निकाल कर 'यह रही' ऐसे सुन्दर ढंग और समुचित स्वर से कहा कि अनायास करतल ध्वनि हो उठी। मुख्याध्यापक ने पीठ थपथपाई, प्यार किया और पाँच रुपए पारितोषिक स्वरूप दिए।

प्राणायाम के कारण मन की एकाग्रता इतनी बढ़ गई थी कि काम करते हुए उसे आस-पास की सुध न रहती थी। यही उसकी ग्रहण-शक्ति का कारण था। विषय बदलने से भी वह उलझता नहीं था। वह इतना प्रवीण था कि एक बार पौट्स की युक्लिड के प्रथम भाग के अन्त में दिए हुए सभी प्रश्न एक ही दिन में हल कर दिए। सारा समय इधर-उधर की पुस्तकें पढ़ता रहता। स्कूल की पढ़ाई की ओर कभी ध्यान न देता था। तो भी जब नवम्बर 1880 में पंजाब विश्वविद्यालय कॉलेज, लाहौर[9] की मैट्रिक परीक्षा दी तो प्रान्त में पाँचवें स्थान पर रहा। उनके मित्र तथा आर्यसमाज मुलतान के सदस्य चेतनानन्द ने प्रथम स्थान प्राप्त किया।

स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् गुरुदत्त जनवरी 1881 में गवर्नमेन्ट कॉलेज, लाहौर की एफ.ए. (इन्टरमीडिएट) प्रथम वर्ष में प्रविष्ट हो गया।[10] तब लाहौर में वही एक कॉलेज था। उन दिनों जी.डब्ल्यू. लाइटनर एम.ए., पीएच.डी. प्रिंसिपल थे। गुरुदत्त ने रहने का प्रबन्ध छात्रावास में किया। कॉलेज की फीस दो रुपये तथा छात्रावास की एक रुपया प्रति मास थी। लाजपतराय तथा हंसराज ने भी उसी वर्ष प्रथम वर्ष में प्रवेश लिया। थोड़े ही दिनों में तीनों की मैत्री हो गई। माला में पिरोए जाने के लिए मोती स्वत: ही इकट्ठे होने लगे। चेतनानन्द, (दीवान) नरेन्द्रनाथ, शिवनाथ, भक्तराम व रुचिराम साहनी भी गुरुदत्त के सहपाठी अथवा स्नेही थे।[11]

गुरुदत्त ने थोड़े दिनों में ही सहपाठियों और अध्यापकों के दिलों को जीत लिया। निश्छल जीवन, सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता एवं स्नेहयुक्त व्यवहार की शीघ्र धाक जम गई। गहन स्वाध्याय, विशाल ज्ञान तथा विचारों की अभिव्यक्ति की सुन्दर रीति की छाप लगते देर न लगी। कॉलेज की पढ़ाई की ओर गुरुदत्त प्राय: बहुत कम ध्यान देता था। पाठ भी ध्यान से न सुनता परन्तु अध्यापकों ने कभी बुरा नहीं मनाया। वे गुरुदत्त के स्वभाव और रुचि को समझते थे।

गुरुदत्त की स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि सारी उर्दू प्रवेशिका एक बार सुनकर उसी प्रकार आद्योपान्त सुना देता था। सौ से भी अधिक परस्पर

असम्बद्ध नाम एक बार सुन उसी क्रम से और उल्टे क्रम से भी कह सुनाता। एक बार राजकीय महाविद्यालय, लाहौर का निरीक्षण करने एक सज्जन पधारे। प्रिंसिपल डॉक्टर लाइटनर के कहने पर उनकी उपस्थिति में यह प्रदर्शन करवाया गया। निरीक्षक महोदय अवाक् रह गए।[12] इसी प्रकार मुलतान स्कूल में कमिश्नर साहब के पधारने पर मुख्याध्यापक ने पहले बड़े-बड़े अंक लिखकर श्यामपट भर दिया था। फिर उसे उलट दिया गया। बालक गुरुदत्त ने वे अंक क्रमवार सुनाकर सभी को विस्मित कर दिया था।[13]

कॉलेज में प्रवेश पाते ही गुरुदत्त आर्यसमाज लाहौर[14] के सदस्य बन गए। इस समाज के प्रधान लाला साईंदास[15] नवयुवकों को आर्यसमाज की ओर आकर्षित करने के लिए प्राय: छात्रालय में चक्कर लगाते रहते थे। लाला जी दृढ़निश्चयी, साहसी एवं सत्यवादी व्यक्ति थे। युवकों से उन्हें विशेष स्नेह था। मनुष्यों में रत्न परखने में वह दक्ष थे। हंसराज उन्हीं के प्रभाव में आर्यसमाजी बने थे। जो कोई दो-चार बार उन्हें मिल लेता, सदा के लिए उनका होकर रह जाता। लाला जी गुरुदत्त और हंसराज से पुत्रवत् स्नेह किया करते थे। वे भी उन्हें बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।

इस मित्रमण्डली के हृदय में आर्यसमाज के प्रति गहरी श्रद्धा थी। साथ ही शास्त्रों का अच्छा अध्ययन था। इसका ज्ञान एक घटना से होता है। बात 1881 ई. की है। हंसराज, लाजपतराय, शिवनाथ व गुरुदत्त कॉलेज के बरामदे में खड़े थे। यूँ ही कोई चर्चा हो रही थी। होते-होते बात आर्यसमाज पर आ गई। गुरुदत्त ने हंसराज से पूछा – ''ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में उत्तम पुरुष के प्रयोग की संगति वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के साथ किस प्रकार सिद्ध करोगे?'' उत्तर मिला – ''उत्तम पुरुष का प्रयोग परमात्मा के द्वारा मनुष्य मात्र को यह सिखाने के लिए किया गया है कि उन्हें किस प्रकार उसकी स्तुति करनी चाहिए।'' यह सुनकर गुरुदत्त की सन्तुष्टि हो गई। लाजपतराय से भी ईश्वरीय ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा गया। उत्तर उसका भी सन्तोषजनक था। फिर थोड़ी देर बातें करके चारों मित्र अपने-अपने कार्य में जुट गए।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. आगरा में जन्में प्रसिद्ध समाज सुधारक व लेखक मुन्शी कन्हैय्यालाल अलखधारी (1809-1882) का कार्यक्षेत्र पंजाब था। लुधियाना से नीतिप्रकाश नामक उर्दू पत्र निकालते थे । ऋषि दयानन्द को पंजाब में आमन्त्रित करने वालों में वे प्रमुख थे। (विशेष जानकारी हेतु द्रष्टव्य: दि आर्य, अगस्त 1882, पृष्ठ 114-18)

2. द्रष्टव्य: निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद अर्थात् पण्डित गुरुदत्त एम.ए. और उनकी बेवक्त मौत, (क) पृष्ठ 28, (ख) पृष्ठ 31-32

3. लेखक का श्री दीनानाथ (पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के सम्बन्धी) से दिल्ली में निजी साक्षात्कार, 1968

4. दयाराम वर्मा आर्यसमाज मुलतान के मन्त्री रहे। ऋषि दयानन्द ने उन्हें 31 दिसम्बर 1880 को पत्र लिखा था (भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग 1, पृष्ठ 460)। वह स्कूल में मुख्याध्यापक के. सी. बोस द्वारा ईसाई ट्रैक्ट बांटने के विरुद्ध थे। जब बोस ने आर्यसमाज के विरुद्ध भाषण दिए तो मास्टर दयाराम ने अपने भाषणों में ईसाइयत का खण्डन किया। अत: मुख्याध्यापक ने 1883 में शिक्षा विभाग में शिकायत कर उनका स्थानान्तरण गुजरात स्कूल में करवा दिया। इस स्थानान्तरण का सभ्य समाज ने बहुत बुरा मनाया (द्रष्टव्य: द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, 2 अप्रैल, 25 जून, 2 तथा 30 जुलाई, 26 नवम्बर 1883)। अगले वर्ष उन्हें डिस्ट्रिक्ट स्कूल, होशियारपुर बदल दिया गया। उनकी 'ए गाइड टू ग्रीक नॉमनक्लेचर' लेखमाला दि आर्य में 1882-83 में प्रकाशित हुई थी।

5. आइसिस अन्वेल्ड, द बाइबिल इन इण्डिया तथा इण्डिया इन ग्रीस क्रमश: मैडम ब्लैवेट्स्की, एम.एल. जाक्योल्यो व पोकॉक ने लिखी थीं। आइसिस मिस्र देश की एक देवी है। इण्डिया इन ग्रीस में विद्वान् लेखक ने सभी ग्रीक भौगोलिक नामों का स्रोत भारतीय संस्कृत नाम सिद्ध किए हैं।

6. आर्यसमाज मुलतान की स्थापना ऋषि दयानन्द ने 4 अप्रैल 1878 वीरवार को की थी। आरम्भ में इसके केवल सात सदस्य थे। बाद में यह समाज बहुत सक्रिय रही।

7. **गुरुदत्त ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ पढ़कर स्वयं आर्यसमाज के सदस्य बने थे। उन्हें आर्यसमाजी बनाने का श्रेय किसी व्यक्ति विशेष को नहीं है।** आर्यसमाज मुलतान का सदस्य बनने के लगभग सात महीने पश्चात् वह लाहौर गए। वहाँ उनकी भेंट साईंदास, जीवनदास आदि से हुई। इसके काफी समय पश्चात् लाजपतराय, हंसराज और मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) आर्यसमाजी बने। गुरुदत्त 20 जून को आर्यसमाज के सदस्य बने थे, न कि 2 जून को जैसा कि सत्यव्रत शर्मा ने गुरुदत्त जीवन-चरित में पृष्ठ 17 पर लिखा है।

8. सर्फ़ और नहव मिलकर पूरा अरबी व्याकरण बनता है।

9. पंजाब यूनिवर्सिटी कॉलेज, लाहौर 11 जनवरी 1870 को खुला था। बाद में 5 अक्तूबर 1882 को गवर्नर जनरल ने पंजाब यूनिवर्सिटी बिल को स्वीकृति प्रदान की और 14 अक्तूबर को पंजाब विश्वविद्यालय की विधिवत् स्थापना हुई (जे.एफ. ब्रूस, ए हिस्ट्री ऑफ़ दि यूनिवर्सिटी ऑफ़ पंजाब, पृष्ठ 58, 68-86)। इसका उद्घाटन वायसराय ने 18 नवम्बर 1882 को किया। जहाँ तब अन्य विश्वविद्यालय केवल परीक्षाएँ लेते थे। वहाँ पंजाब

विश्वविद्यालय के तीन मुख्य प्रयोजन थे — परीक्षा, उच्च शिक्षा तथा अनुवाद।

10. केनेथ डब्ल्यू. जॉन्स ने लिखा है कि गुरुदत्त जून 1880 में मुलतान छोड़कर लाहौर पढ़ने चले गए (आर्य धर्म, पृष्ठ 50) — यह सही नहीं है। गुरुदत्त नवम्बर 1880 में मुलतान रहते हुए दसवीं करने के बाद ही अगले वर्ष लाहौर गए थे। गवर्नमेन्ट कॉलेज, लाहौर 1864 में खुला था और यह पंजाब विश्वविद्यालय तथा पंजाब यूनिवर्सिटी कॉलेज दोनों से पुराना था। उसी वर्ष स्थापित गवर्नमेन्ट कॉलेज, दिल्ली 1 अप्रैल 1877 को विधिवत् बंद कर दिया गया यद्यपि इसके छात्र नवम्बर 1876 में ही लाहौर कॉलेज भेज दिए गए थे (जे.एफ. ब्रूस, ए हिस्ट्री ऑफ़ दि यूनिवर्सिटी ऑफ़ पंजाब, पृष्ठ 43, 44, 109)।

11. गुरुदत्त के इन मित्रों ने जीवन में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की। चेतनानन्द गुरुदत्त के सहपाठी, मित्र तथा आर्यसमाजी थे। बी.ए. कर मुलतान में वकील बने। भक्त रैमलदास आर्यसमाज के सदस्य तथा वैदिक यन्त्रालय, अजमेर के प्रबन्धक रहे। अन्तिम समय में भी गुरुदत्त के पास थे। दीवान नरेन्द्रनाथ ने एम.ए. की, अतिरिक्त सहायक कमिश्नर बने और बाद में मुलतान में उपायुक्त भी रहे। शिवनाथ, भक्तराम तथा रुचिराम साहनी क्रमशः उत्तर प्रदेश में इन्जीनियर, मुंसिफ़ तथा गवर्नमेन्ट, कॉलेज लाहौर में सहायक प्रोफेसर नियुक्त हुए। हंसराज (1864-1938) तथा लाजपतराय (1865-1928) आर्यसमाज के स्वनाम धन्य नेता हैं। लाजपतराय जनवरी 1881 से दिसम्बर 1882 तक उनके सहपाठी थे।

12. लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 8; निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद, पृष्ठ 78

13. पण्डित गुरुदत्त के समकालीन पण्डित विष्णुदत्त वकील के 'वैदिक आदर्श,' हैदराबाद में 1934 में प्रकाशित लेख से

14. आर्यसमाज लाहौर की स्थापना ऋषि दयानन्द द्वारा 24 जून 1877 रविवार को डॉक्टर रहीम खान की कोठी पर हुई थी। पंजाब में यह पहली आर्यसमाज थी। यह आर्यसमाज बिच्छोवाली के नाम से जानी जाती है।

15. आर्यसमाज लाहौर की स्थापना के अवसर पर साईंदास, जीवनदास और शारदाप्रसाद भट्टाचार्य मन्त्री चुने गए थे। बाद में साईंदास प्रधान बने। वह ऐसे निष्ठावान देश-भक्त थे कि सरकारी कर्मचारी होते हुए भी उन्होंने साम्राज्ञी के जुब्ली वर्ष (1887) में न तो दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज भवन के एक विंग का नाम साम्राज्ञी के नाम पर रखने दिया, न ही जुब्ली फण्ड खुलने दिया।

मानसिक संघर्ष

लाहौर आकर गुरुदत्त का सारा समय मित्रों के साथ ईश्वरसिद्धि, ईश्वरीय ज्ञान व पुनर्जन्मादि विषयों पर वाद-विवाद करने और पाश्चात्य दार्शनिकों के ग्रन्थों के अध्ययन में व्यतीत होने लगा। उन्हें चार्ल्स ब्रैडले, जेरेमी बैन्थम और ऐलिग्ज़ान्डर बेन के प्रति अगाध श्रद्धा हो गई। बेन को आचार के विषय में परम प्रमाण तथा बैन्थम को महान् नैतिकतावादी मानने लगे। विकासवादी चार्ल्स डार्विन, हर्बर्ट स्पेन्सर और ऑगॅस्ट कूम्टे की प्रतिष्ठा भी उनके हृदय में कम न थी। परन्तु जॉन स्टुअर्ट मिल के पीछे तो मानो पागल ही हो गए थे। उनका जो ग्रन्थ मिला, वही पढ़ डाला। मिल का स्वरचित जीवन-चरित तो अनेक बार पढ़ा। यह पुस्तक उन्हें इतनी प्रिय थी कि मित्रों को भी पढ़ने के लिए प्रेरित किया करते थे। खाली समय में कॉलेज में बैन्थम की 'थीऑरि ऑफ़ लेजिस्लेशॅन'[1] और मिल द्वारा रचित 'यूटिलिटेरिऑनिज़्म'[2] मननपूर्वक पढ़ते रहते। मिल की पुस्तक की एक-एक पंक्ति पर घण्टों वार्तालाप किया करते थे। पाश्चात्य दर्शन पर अंग्रेज़ी में शायद ही कोई ऐसी पुस्तक हो जो भारत में मिलती हो और गुरुदत्त ने उसे कॉलेज के द्वितीय वर्ष में न पढ़ लिया हो।

अधिक अध्ययन, विचार-स्वतन्त्रता तथा प्रखर प्रतिभा ने विचारों में फिर उथल-पुथल पैदा कर दी। पश्चिमी दर्शन तथा विज्ञान की पढ़ाई ने अवसर पाकर विश्वास-भित्ति को हिलाना आरम्भ कर दिया। श्रद्धा तथा विश्वास के अंकुर को ज्येष्ठ मास की धूप ने झुलसा देना चाहा। स्वभाव में जिज्ञासु-वृत्ति के कारण सन्देहशीलता की अति हो गई। उनके मानस पटल पर संशय की छाया स्पष्ट दिखाई देने लगी। ईश्वर है या नहीं— इसी ऊहापोह में पहलवान कई बार अपने दाँव में आकर स्वयं ही गिर जाता। जो बालक वैरागी पैदा हुआ था, उसे ईश्वर की सत्ता में भी अविश्वास होने लगा। राही राह से भटक गया। गुरुदत्त नैतिक गुणों के भण्डार थे। उसकी प्रकृति आध्यात्मिक थी। इसीलिए उसके हृदय में परमात्मा के उपकारों और दया के लिए आभार की भावना थी परन्तु बुद्धि ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानती थी। इसी कारण 1881-83 का समय उनके जीवन में नास्तिकता का काल समझा जाता है। सम्भव है कि नास्तिकता का साम्राज्य पूर्णतया स्थापित न हुआ हो परन्तु संशय की विजय तो थी ही।

उन दिनों शिक्षित समुदाय ब्रह्मसमाज से प्रभावित था। ब्रह्मसमाजी अन्त:करण (कॉन्शॅन्स)[3] पर अधिक बल देते हैं। अत: गुरुदत्त ने 'दि आर्य'[4] मैगज़ीन के अगस्त 1882 के अंक में 'अन्त:करण का स्वरूप'[5] विषय पर निम्नलिखित लेख लिखा, जिससे उनके विचारों पर पड़े प्रभावों का अनुमान लगाया जा सकता है:

''... अन्त:करण के विषय में ब्रह्मसमाज का मत अन्तर्ज्ञानवादियों (सहजबोधवादियों)[6] का मत है।.इस धारणा के अनुयायी कहते हैं कि हमारे अन्दर एक नैतिक शक्ति या नैतिक सहज ज्ञान है जो हमें ठीक या गलत, अच्छे या बुरे का उसी प्रकार अनुभव करवाता है, जिस प्रकार आँख रंग का अनुभव करवाती है। जो लोग इस सिद्धान्त के विरुद्ध हैं, उनकी मान्यता यह है कि अन्त:करण या विवेक कोई सहज शक्ति नहीं है प्रत्युत एक उपार्जित क्षमता है। यह प्रवृत्ति अन्य प्रवृत्तियों से किसी प्रकार भिन्न नहीं है। इसकी प्राप्ति वस्तुत: अनुभव और संगति से होती है। अन्त:करण के स्वरूप की व्याख्या करने का यत्न करने से पूर्व हम अपने पाठकों को इन दो मतों से पैदा होने वाला व्यावहारिक भेद दिखलाना चाहते हैं।''

''इन दो दार्शनिक सम्प्रदायों – सहजबोधवादियों और अनुभव एवं संगति के मानने वालों – का भेद केवल कोरी कल्पना की ही बात नहीं है। यह व्यावहारिक परिणामों से पूर्ण है और उन्नति के इस युग में व्यावहारिक विचारों के सभी बड़े-बड़े भेदों का आधार है। व्यावहारिक सुधारक सदा उन बातों में परिवर्तन चाहता है, जिनका समर्थन प्रबल एवं विस्तृत मनोभाव करते हैं। वह प्रतिष्ठित सत्य घटनाओं की प्रत्यक्ष आवश्यकता एवं अव्यर्थता की परीक्षा करना चाहता है। उन प्रबल मनोभावों का कैसे जन्म हुआ और वे सत्य घटनाएँ कैसे आवश्यक और अव्यर्थ प्रतीत होने लगीं, यह दिखलाना उसकी युक्ति का एक अनिवार्य भाग होता है। इसीलिए इस सुधारक और उस तत्त्वज्ञान के मध्य एक स्वाभाविक शत्रुता है जो परिस्थितियों और संगति आधार पर मनोभाव और नैतिक सच्चाइयों के समाधान को निरुत्साहित करती है। यह ऐसा तत्त्वज्ञान है जो अनुकूल सिद्धान्तों को सहज उपलब्ध सच्चाइयाँ मानने के लिए तत्पर है तथा जो सहजबोध को प्रकृति और ईश्वर की वाणी कहकर उसे हमारे तर्क से अधिक उच्चतर प्रमाण समझता है।''

''उपर्युक्त शब्द उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े दार्शनिकों में से एक की लेखनी से हैं। यह शब्द इस सिद्धान्त से सुधार के लिए असमर्थता और सामान्य उन्नति तथा उत्कर्ष के लिए अव्यावहारिकता स्पष्ट प्रकट करते

हैं। इस विचार-सरणि में चाहे अभी वह अनुद्यम और परिवर्तन-निरोध न भी हो जो ऊपर के शब्दों में दिखाया गया है तो भी यह निश्चित है कि वे भविष्य में इसमें अवश्य पैदा हो जाएँगे। हमारा यह सच्चा विश्वास है कि यह प्रवृत्ति बड़े-बड़े सामाजिक प्रश्नों के युक्तिसंगत समाधान में मुख्य बाधा और मानवोत्कर्ष के लिए एक बड़ी रुकावट रही है। ब्रह्मसमाज की प्रवृत्तियों में इस मौलिक दोष पर एक ब्रह्म सुधारक को अवश्य ध्यान देना चाहिए।''

''यदि अन्त:करण की आज्ञाओं के विपरीत शिक्षा देना किसी स्थिति में भी मेरे लिए असम्भव होता या हमारी क्षमताओं के स्वाभाविक परिवर्तन और व्यापक ह्रास में यह शक्ति पवित्र और एक रस रह सकती तो इस प्रश्न को हम इस प्रकार न उठाते परन्तु दुर्भाग्य से यह शक्ति बाह्य प्रभाव तथा अन्य प्रयोजनों से इतनी शीघ्र वशीभूत हो जाती है कि प्राय: प्रश्न उठता है- 'क्या मुझे अपने अन्त:करण की आज्ञा का पालन करना चाहिए?' और ऐसे अनेक मनुष्य हुए हैं जिन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में 'नहीं' कहा है।''

''इसमें किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता कि विनीत हिन्दू पूर्ण निष्कपटता, श्रद्धाभाव और धर्मनिष्ठा के साथ अपने इष्टदेव की मूर्ति के सामने झुकता है और अपने प्रयत्नों की सफलता के लिए प्रार्थना करता है। न ही हमें इस बात की सत्यता में कुछ कम विश्वास है कि जब प्रतिमा-भंजक महमूद ने सोमनाथ की बहुमूल्य मूर्ति को तोड़ा तो उसका अन्त:करण भी उस ब्रह्मसमाजी से कुछ कम शान्त और गम्भीर नहीं था जो निष्कपट हृदय और शुद्ध अन्त:करण से ईश्वर से प्रार्थना करता है। यदि ये बातें सत्य हैं तो इसमें रत्ती भर भी सन्देह सम्भव नहीं कि चित्त की यह शक्ति यदि पूर्णतया स्वाभाविक भी हो, तो भी अनुभूति की शक्ति नहीं है, अपितु यह हमारे भावों में केवल एक पौष्टिक तत्त्व है। इन भावों को दी जाने वाली दिशा केवल संगति या शिक्षा से प्रतिष्ठित होती है।''

''यह पौष्टिक तत्त्व क्या है? बालक का झूठ बोलने से अनिच्छा का कारण उसके मस्तिष्क में माता-पिता या अन्य मनुष्यों का भय या उन्हें प्रसन्न करने की आशा के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? अब यदि हमें दूसरे मनुष्यों को अप्रसन्न करने का डर या प्रसन्न करने की आशा न हो अथवा यदि यह नरक का भय या स्वर्ग की आशा न हो, अथवा यदि यह प्रभु इच्छा के प्रतिकूल कार्य करने का डर या प्रभु इच्छा के अनुसार कार्य करने की आशा न हो तो कौन-सी शक्ति है जो नियम में बाँधे रखने

वाली होगी ? जितना-जितना यह बाह्य भय या आशा, यह विरोध और सहानुभूति मन पर क्रिया करते हैं, उतना-उतना ही अन्त:करण थोड़ा या बहुत कोमल या कठोर होता जाता है। तब यह रोकने वाली शक्ति हुई – मन में पहले से ही विद्यमान भावों की एक राशि जो हमारी क्रियाओं की व्यवस्था करती है। जब हम पहले से ही विद्यमान उन भावों के विरुद्ध कोई कर्म करते हैं तो यह भावराशि उसका प्रतिरोध करती है और सम्भवत: यही पीछे से अनुताप के रूप में प्रकट होती है। जब यह भाव काफी प्रबल होते हैं और इन्हें पवित्र समझा जाता है तो मनुष्य इन भावों के विरुद्ध कर्म करने को असम्भव समझकर छोड़ देता है। इसी को अन्त:करण की सरलता कहा जाता है। यदि नैतिक क्षमता के विषय में यह मत सत्य है तो अन्त:करण न केवल सहज उपलब्ध क्षमता ही नहीं है, अपितु झूठी एवं सच्ची अनेक प्रकार की संगतियों में प्रतिरुद्ध होने और शिक्षा तथा बाह्य प्रक्रिया के प्रभावों में झुक जाने के कारण यह शुद्ध एवं पूर्ण नैतिकता के आधार का युक्तिसंगत हेतु नहीं हो सकता।'' आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज की तुलना करते हुए गुरुदत्त ने आगे लिखा था, ''आर्यसमाज का उद्देश्य संसार से बुराई तथा सन्ताप को मिटाकर सबके हित को बढ़ावा देना है। वे काम जो मनुष्यों के सुख को बढ़ाने की अपेक्षा उनके लिए अधिक बाधाएँ उत्पन्न करते हैं, समाज उन्हें अनैतिक कहता है। किन्तु जो व्यक्ति नि:स्पृह भाव से जनसामान्य की भलाई के लिए काम करता है, समाज उसे ही आदर तथा सम्मान देता है।''

अठारह वर्ष की आयु में लिखा हुआ यह लेख गुरुदत्त की दर्शन शास्त्र में रुचि, मनोयोगपूर्ण स्वाध्याय, विचारों की गहनता, भावों की गम्भीरता तथा तत्त्वज्ञान की जटिल समस्याओं पर अधिकारपूर्ण समालोचना की क्षमता का प्रशंसनीय उदाहरण है। साथ ही यह बात भी स्पष्ट दिखाई देती है कि उन दिनों वह खुले मस्तिष्क के साथ घूम रहा था। प्रत्येक तर्कसंगत विचार का स्वागत करता था। वह सत्यान्वेषण हेतु सागर का मन्थन कर रहा था। महापुरुषों के जीवन की यही विशेषता होती है। वे अपना मार्ग स्वयं खोजते हैं। ऋषि दयानन्द ने इसीलिए कन्दराओं, वनों, पर्वत गुफाओं ... को छाना था। बुद्ध ने राजगृह का परित्याग किया था। गुरुदत्त उसी राह का राही है। वह सभी विचारधाराओं का अध्ययन कर रहा है। उसने अपने घर के दरवाजे बंद नहीं किए अपितु खोल रखे हैं। हर दिशा से वायु आती है और अपना प्रभाव डालकर चली जाती है। एक झोंका उन्हें एक ओर झुकाता है तो दूसरा दूसरी ओर। कभी आस्तिकता के भाव प्रबल होते तो कभी नास्तिकता

के। ऐसी मनोदशा में भी गुरुदत्त आर्यसमाज के सदस्य बने रहे। किश्ती भँवर में भले ही फंस गई पर नाविक की दृष्टि किनारे पर जमी रही। इसी उधेड़बुन का परिचय जनवरी 1883 में दिए गए उनके एक व्याख्यान से भी मिलता है। भाषण का विषय था – धर्म। इसमें धर्म के आदि मूल पर विचार किया गया था। उस समय यह भाषण धर्म के विरुद्ध एक आक्रमण समझा गया था। काफी हलचल मची थी। जीवनदास, उपप्रधान आर्यसमाज लाहौर के पास यह भाषण काफी समय तक सुरक्षित पड़ा रहा। ट्रैक्ट के रूप में यह सम्भवत: कभी प्रकाशित ही नहीं हुआ। अब इस लेख का कुछ भाग ही उपलब्ध है।[7] भाषण का आरम्भ इस प्रकार किया गया था:

''धर्म की व्यापक कल्पना पर इन व्याकुल कर देने वाली परन्तु पूर्णतया सत्य चिन्ताओं के वर्णन से मेरा वास्तविक उद्देश्य यह दिखलाना है कि मनुष्य जाति और विशेषतया व्यक्तियों के भाव धर्म द्वारा किस प्रकार प्रभावित होते हैं। यह एक ऐसी शिक्षा की ओर संकेत करती है जिसका ध्यान में रखा जाना हमारे ध्येय के लिए बहुत आवश्यक है। यदि इस शिक्षा को प्रकट करना अभीष्ट न होता तो मैं इन खिन्न चिन्ताओं का वर्णन करने का कभी कष्ट न उठाता। शिक्षा यह है कि धर्म सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर विचार करते समय हमें स्वयं को अपनी भावनाओं से प्रभावित नहीं होने देना चाहिए अपितु केवल अपने तर्क का ही पूर्णतया अवलम्बन करना चाहिए। कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं जिनमें व्यक्ति के अपने प्रिय विचार लुप्त हो जाते हैं। परन्तु धर्म के विषय में हमारा सम्बन्ध केवल सत्य के साथ है, जहाँ तक उसे तर्क के द्वारा मालूम किया जा सकता है। निस्संदेह दूसरों की भावनाओं और विचारों को अज्ञानपूर्वक ठेस लगाने से बढ़कर अन्य कोई कुत्सित कार्य नहीं। इस कारण मैं अनावश्यक रीति से धार्मिक सत्यता के उच्चतर प्रश्न के मूल पर विचार नहीं करूँगा जिससे मेरा वर्तमान विषय सर्वथा भिन्न है। मैं अपने विषय पर पूरी वैज्ञानिक रीति से विचार करना चाहता हूँ। यह ऐसी पद्धति है जो न ही दार्शनिक और न ही तत्त्वज्ञानी के हितों के प्रतिकूल है। मैं निज प्रयोजनों के लिए मानव स्वभाव के सुप्रतिष्ठित नियमों और अन्य अनुभव पर आधारित व्यापकताओं को अनुमान का आधार बनाऊँगा तथा अपने परिणामों को विश्व के इतिहास की घटनाओं से सिद्ध करूँगा।''

इस भाषण में नास्तिकता की झलक थी। वैसे उन दिनों भी गुरुदत्त विद्यार्थियों में आर्यसमाज की प्रशंसा करते रहते थे। वह अपने मित्र हंसराज के साथ मिलकर ब्रह्मसमाज का खण्डन भी किया करते थे। इसका एक

कारण था ब्रह्मसमाज पर ईसाइयत की छाप। गुरुदत्त को आर्यसमाज की विचारधारा प्रभावित तो करती थी परन्तु संशय-निवृत्ति नहीं हो पाई थी। विचारों में पूर्ववत् संघर्ष चल रहा था। गुरुदत्त छल-कपट तथा लोकाचार से रहित थे। उन्हें हृदय की बात छिपानी अभीष्ट नहीं थी। आर्यसमाज का सदस्य होते हुए भी मानसिक संघर्ष जब उन्हें नास्तिकता की ओर धकेलता तो सत्यवादी उसे स्पष्ट स्वीकार कर लेता। जब आस्तिकता के भाव प्रबल होते तो उन्हें भी वह किसी से छिपाता नहीं था। उनका जीवन एक खुली पुस्तक थी। कोई क्या कहेगा — इसकी उन्हें कुछ चिन्ता न थी।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. बैन्थम के विधि निर्माण के सिद्धान्त
2. उपयोगितावाद; कालान्तर में वैदिक शास्त्रों के अध्ययन करने पर उन्हें बैंथम के नैतिक सिद्धान्त गौण लगते थे।
3. कॉन्शॅन्स का अर्थ है: अन्त:करण, विवेक, सदसद्विवेक।
4. रत्नचन्द बेरी की देखरेख में प्रकाशित 'दि आर्य' अथवा 'दि आर्य मैगज़ीन' एक ही पत्रिका है। प्रत्येक अंक पर केवल 'दि आर्य' नाम छपा होता था। पहले अंक के प्रथम पृष्ठ से पूर्व जुड़े पृष्ठ पर पत्रिका का विवरण छपा है, केवल उसी पर 'दि आर्य मैगज़ीन' मुद्रित है। यह अंग्रेज़ी मासिक पत्रिका आर्य मैगज़ीन आफिस, सय्यद मीठा बाजार, लाहौर से छपती थी। मार्च 1882 से इसका प्रकाशन आरम्भ हुआ था।
5. इस लेख का शीर्षक था 'द नेचर ऑफ़ कॉन्शॅन्स'। हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में उपलब्ध पण्डित गुरुदत्त लेखावलियों में यह लेख 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' में छपा बताया गया है — यह सही नहीं है। वैसे भी रिजेनरेटर 1 जनवरी 1883 को छपना आरम्भ हुआ था। यह लेख 'दि आर्य' के अगस्त 1882 के भाग 1, अंक 6. पृष्ठ 109-12 पर छपा था। इस पर लेखक का नाम पण्डित गुरा दत्ता विद्यार्थी लिखा है (द्रष्टव्य: रामप्रकाश (सम्पादक), वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, पृष्ठ 195-198)।
6. अन्तर्ज्ञानवादी, अन्तर्दृष्टिवादी, इन्ट्यूइशॅनिस्ट
7. इस भाषण के उपलब्ध अंश के लिए द्रष्टव्य: रामप्रकाश (सम्पादक), वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, पृष्ठ 289-300

कार्यक्षेत्र में पदार्पण

1881-82 में हिन्दी-उर्दू विवाद काफी ज़ोर से चला। शिक्षा और प्रशासन की भाषा क्या हो — इस पर बहस चलती रही। लार्ड रिपन ने 3 फरवरी 1882 को विलियम हंटर की अध्यक्षता में प्रथम भारतीय शिक्षा आयोग नियुक्त किया।[1] तब कई संस्थाएँ हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि के लिए प्रयत्नशील थीं। विशेषकर आर्यसमाज हिन्दी को पंजाब में जनभाषा बनाने के लिए प्रबल आन्दोलन कर रहा था।[2] गुरुदत्त, हंसराज तथा लाजपतराय ने भी हिन्दी का पक्ष लिया। गुरुदत्त तथा लाजपतराय ने हिन्दी के पक्ष में एक प्रार्थनापत्र पर सहस्त्रों विद्यार्थियों के हस्ताक्षर करवाए। पठित-अपठित सभी इस कार्य में रुचि ले रहे थे। किसी-किसी मुसलमान ने भी हिन्दी के पक्ष में हस्ताक्षर किए थे। यहीं से गुरुदत्त का सार्वजनिक जीवन आरम्भ हुआ।

उन्हीं दिनों एक रोचक घटना घटी। लाजपतराय ने कॉलेज में अरबी तथा फ़ारसी ले रखी थी। उर्दू गद्य के प्रमुख लेखक मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद उन्हें अरबी तथा फ़ारसी पढ़ाया करते थे। एक दिन उन्होंने कक्षा में हिन्दी के बंगाली समर्थकों की खिल्ली उड़ानी आरम्भ कर दी। लाजपतराय से यह कैसे सहन हो सकता था? उसी समय मौलवी जी के आक्षेपों का ऐसा करारा उत्तर दिया कि वह नाराज हो गए परन्तु दिल्ली के विद्यार्थियों को छोड़कर शेष सभी लाजपतराय के साथ थे, अत: मौलवी बेचारा अपना-सा मुँह लेकर रह गया।[3]

अस्वस्थता तथा साथ-साथ लॉ के अध्ययन के कारण लाजपतराय आज़ाद साहब की कक्षा में नियमपूर्वक नहीं जा पाते थे। मौका पाकर मौलवो जी ने प्रिंसिपल के पास शिकायत कर दी। इधर आर्यसमाज हिन्दी-संस्कृत के पक्ष में जनमत जाग्रत कर ही रहा था। मित्र मण्डली ने लाजपतराय को समझाया कि अरबी तथा फ़ारसी की पढ़ाई के पीछे अराष्ट्रीय भावना निहित है। बात लाजपतराय की समझ में आ गई और उसने मौलवी जी से पढ़ना छोड़ दिया। गुरुदत्त ने उसे संस्कृत लेने के लिए प्रेरित किया तथा उसे अपने साथ संस्कृत के प्रोफेसर पण्डित भगवानदास के पास ले जाकर बोले, "आपके लिए एक नया शिष्य खोज लाया हूँ।" "संस्कृत का ज्ञान कितना है?" पण्डित जी ने पूछा। भला लाजपतराय क्या उत्तर देते? उसने तो हिन्दी वर्णमाला

सीखनी भी अभी-अभी आरम्भ की थी परन्तु गुरुदत्त ने मुस्कराते हुए कहा, ''नया रंगरूट है। अब तक मुसलमान था। अभी हिन्दू बनाया है।'' यह सुनकर पण्डित भगवानदास भी हँस पड़े। लाजपतराय ने संस्कृत ले ली और गुरुदत्त ने उसे विश्वास दिलाया कि वह एक वर्ष में इतनी संस्कृत सीख जाएगा जिससे परीक्षा में पास हो सके।

गुरुदत्त ने 1882 के आरम्भ में एक फ्री डिबेटिंग क्लॅब (स्वतन्त्र वाद-विवाद सभा) स्थापित की। सर्वसम्मति से गुरुदत्त को मन्त्री बना दिया गया। लाजपतराय, शिवनाथ, हंसराज, चेतनानन्द, नरेन्द्रनाथ सरीखे उनके सभी प्रमुख मित्र तथा पण्डित रामेश्वरनाथ कौल, पण्डित हरिकृष्ण, रुचिराम और सदानन्द आदि अनेक युवक सदस्य बन गए। सबकी आयु लगभग बीस वर्ष थी। सभा में सभी मतमतान्तरों के मानने वाले सम्मिलित थे।

दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं शैक्षणिक — सभी विषयों पर खुलकर वाद-विवाद होता था। कभी अकबर बनाम औरंगजेब, कभी मनु कौन था, तो कभी विद्युत-तरंग बनाम हर्ट्स-तरंग ... वाद-विवाद का विषय बन जाते। कोई विषय नवयुवकों ने अछूता न छोड़ा। चढ़ती जवानी और उभरते अरमान। फिर विषय विशेष की चारदीवारी में कौन बँधा रहे? वैसे भी उन्मुक्त नभ में विहार करने वाले पक्षियों के लिए सीमाएँ कब निर्धारित हो पाईं? सभी सदस्य विचाराधीन प्रश्नों का समाधान ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर अपनी-अपनी मान्यताओं की दृष्टि से करते थे। हृदय में निज पक्ष-पोषण की इच्छा होती परन्तु सत्य को ग्रहण करने में संकोच न था। तर्क के तीर चलते पर ज़िद न थी। यद्यपि यह सभा दो-तीन वर्ष ही चल पाई परन्तु इन युवकों को इससे बड़ा लाभ रहा। यह अर्जित ज्ञान उन्हें भावी जीवन में बहुत काम आया।

आरम्भ में गुरुदत्त वाद-विवाद में सदैव वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध पक्ष लेते थे। शायद इसीलिए कि सत्य को सबल सम्बल की आवश्यकता नहीं। सम्भाल तो कागज़ के घरौंदे की करनी पड़ती है। बाकी सदस्य मिलकर भी कुशल खिलाड़ी के वार न रोक पाते थे। अकेला गुरुदत्त सबको निरुत्तर कर देता था। इस प्रकार सत्य के स्थान पर असत्य का मण्डन होने लगा। नवयुवक नास्तिकता के प्रभाव में बहने लगे। इस कुप्रभाव को रोकने के लिए गुरुदत्त ने 1882 के अन्त में आर्य सिद्धान्तों का पक्ष-पोषण शुरू कर दिया। एकदम नदी के बहाव का रुख मुड़ गया। पहले विरोधी पक्ष लेकर रूढ़िवाद का खण्डन किया। फिर वैदिक सिद्धान्तों का मण्डन कर आर्य

विचारधारा का बीज बो दिया। फलस्वरूप विद्यार्थियों की वैदिक सिद्धान्तों में श्रद्धा होने लगी। स्वयं लाजपतराय ने लिखा है – ''**मैं उनमें से एक हूँ जो गुरुदत्त की हृदय परिवर्तन की अद्भुत विधि से लाभान्वित हुए थे। मैं सम्भवतः सर्व प्रथम व्यक्ति हूँ जो उनके द्वारा प्रतिपादित एवं प्रसारित आर्यसमाजी विश्वासों का अनुयायी बना था। ... मैं गौरवान्वित अनुभव करता हूँ कि मुझे आर्यसमाज के माध्यम से भारत के पुनरुद्धार हेतु काम करने की दीक्षा देने वाला वह व्यक्ति था।**''[4क] इस कायाकल्प के लिए लालाजी सदैव गुरुदत्त के आभारी रहे। लाजपतराय को आर्यसमाजी बनाना गुरुदत्त की महत्त्वपूर्ण विजय थी। केवल इसलिए नहीं कि उन्होंने बाद में बड़ी श्रद्धा से आर्यसमाज की सेवा की अपितु विशेषतः इसलिए कि उन्हें माता-पिता से भी अवैदिक संस्कार मिले थे। लाजपतराय की माता सिख परिवार में पैदा हुई। उनके पिता मुन्शी राधाकृष्ण पहले जैनी थे, फिर मुसलमान अध्यापक के प्रभाव में आकर इस्लाम की ओर झुक गए। वह नमाज़ पढ़ते, रोज़े रखते तथा पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री[5] के 'बिरादरे हिन्द' पत्र में आर्यसमाज के विरुद्ध लेख लिखा करते थे। आनन्द की बात यह है कि तब तक उन्होंने आर्यसमाज के विषय में एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी।

सत्यानन्द अग्निहोत्री उन दिनों ब्रह्मसमाज के नेता थे। वह लाजपतराय पर भी अपना जाल डाल रहे थे परन्तु उस पर सच्चे जादूगर गुरुदत्त का जादू चल गया। लाहौर आर्यसमाज का उत्सव निकट था। लाजपतराय अपने अभिन्न मित्र गुरुदत्त के साथ 2 दिसम्बर 1882 शनिवार को पहली बार आर्यसमाज के उत्सव में प्रवचन सुनने गए। वहाँ लाला साईंदास मिल गए। जो बीज गुरुदत्त ने बोया था उसे साईंदास ने अपने स्नेह से अंकुरित किया। लाला जी लाजपतराय को एक ओर ले गए। बड़े प्यार से उसकी पीठ थपथपाते हुए कहने लगे, ''बेटा, हमने बहुत समय तक आपकी प्रतीक्षा की है। अब आप अवश्य हम में मिल जाइए।'' ... और जब लाजपतराय ने आर्यसमाज के सदस्यता फार्म पर अपने हस्ताक्षर कर दिए तो साईंदास को ऐसा लगा मानो त्रिलोकी का राज्य मिल गया।[4ख] साईंदास ने गुरुदत्त को बुलाया और लाजपतराय को उसके हवाले कर दिया। शायद छोटे पौधे को अभी देख-रेख के लिए माली की आवश्यकता थी।

साईंदास दोनों युवकों को वेदी पर ले गए। उस समय मदनसिंह 'आर्यसमाज के उद्भव और भविष्य' पर भाषण दे रहे थे। उनका व्याख्यान समाप्त हुआ तो लाजपतराय ने भाषण दिया। जनता ने करतल ध्वनि से भाषण

की सराहना की।

इस उत्सव के पश्चात् आर्य प्रेस, लाहौर के स्वामी शालिगराम ने इन युवकों के आर्यसमाज के प्रति प्रेम और उत्साह का लाभ उठाना चाहा। उन्होंने लाजपतराय से दो साप्ताहिक पत्रों का संचालन करने की प्रार्थना की तथा सारा व्यय स्वयं उठाने का वचन दिया। एक पत्र अंग्रेज़ी में तथा दूसरा उर्दू में निकालने का विचार बना। फिर यही प्रस्ताव गुरुदत्त, हंसराज व शिवनाथ के सामने रखा गया। सभी ने सहमति प्रकट कर दी। लाजपतराय के सुझाव पर उर्दू पत्र का नाम 'देशोपकारक'[6] और अंग्रेज़ी पत्र का नाम 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त'[7] रखा गया। ये पत्र जनवरी 1883 में आरम्भ किए गए। शालिगराम ने उनके कहने पर पत्रों की बचत आर्यसमाज को देनी स्वीकार कर ली। सम्पादकीय कार्य का भार चारों मित्रों ने सम्भाल लिया। वैसे अंग्रेज़ी पत्र का अधिक कार्य गुरुदत्त तथा हंसराज ने मिलकर निभाना शुरू किया। दोनों इस पत्र के सम्पादक नियुक्त हुए। उर्दू पत्र का कार्यभार लाजपतराय को सौंपा गया परन्तु उन्हीं दिनों लालाजी वकालत करने के लिए हिसार चले गए और इधर विशेष ध्यान न दे सके। इस मित्रमण्डली ने इन पत्रिकाओं का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया। अंग्रेज़ी पत्र का सम्पादन और वह भी भारतीय विद्यार्थियों के द्वारा – यह अपने आप में उस समय एक विचित्र घटना थी। निष्ठा ऐसी कि इन पत्रों की एक प्रति भी कभी मुफ़्त नहीं ली[8] क्योंकि लाभ आर्यसमाज को मिलना था। कुछ समय के पश्चात् शालिगराम ने बचत आर्यसमाज को देने से इनकार कर दिया और इन युवकों को सम्पादन कार्य के लिए वेतन देना चाहा। आर्यसमाज के दीवानों ने स्पष्ट कह दिया कि हम धन के लिए नहीं अपितु केवल आर्यसमाज के लिए कार्य करते हैं। इस कारण चारों मित्रों ने दोनों पत्रों से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।[9]

एफ.ए. में पढ़ते समय गुरुदत्त लाहौर से अपने घर मुलतान आए। वहाँ कैलाशचन्द्र बोस मुख्याध्यापक, डिस्ट्रिक्ट स्कूल ने ईसाई मत के पक्ष में और आर्यसमाज के विरुद्ध भाषण दिया था। इसके उत्तर में गुरुदत्त ने अंग्रेज़ी में जो व्याख्यान दिया उसे सुनकर विदेशी श्रोता भी चकित रह गए। इन्हीं दिनों गुरुदत्त ने बावा निहालचन्द वेदान्ती के साथ शास्त्रार्थ में जीव और ईश्वर को अलग-अलग सिद्ध किया। फिर लाला परमानन्द के मकान पर सदानन्द से भी जीव तथा ईश्वर की सत्ता की भिन्नता पर वाद-विवाद हुआ। सदानन्द ने प्रभावित होकर स्वीकार किया कि भविष्य में उनका बावा निहालचन्द वेदान्ती से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।[10]

गुरुदत्त रूढ़िवाद के पोषक नहीं थे। वह चाहते थे कि धार्मिक लोग बुद्धिपूर्वक मनन करना आरम्भ करें। इसलिए उन्होंने मार्च 1883 में आर्यसमाज की ओर से लाहौर में विज्ञान का एक स्कूल खोलने का विचार किया जिसमें शिल्प-विद्या भी सिखाई जा सके।[11] स्थानीय राजकीय कॉलेज के प्रोफेसर जे.सी. ओमन, एम.ए. अपने योग्य शिष्य गुरुदत्त से पुत्रवत् स्नेह करते थे।[12] उन्होंने इस कार्य के लिए उन्हें काफी प्रेरित किया। आरम्भ में प्रौढ़ों के लिए रात्रि स्कूल शुरू करने का आर्यसमाज लाहौर ने प्रस्ताव पारित किया।[13क] धन संग्रहार्थ अपील छपवाई गई। उन दिनों वैदिक मिशन फण्ड एकत्र किया जा रहा था। अत: आर्यसमाज लाहौर के कोष से धन नहीं लिया गया। कुछ स्थानों से ही अल्प समय में चार सौ रुपये इकट्ठे हो गए। इस प्रस्तावित आर्यसमाज साइंस इन्स्टीट्यूशन में हस्त शिल्प सिखाई जानी अभीष्ट थी।[14] लगभग दो सौ पचास रुपये का बिजली का सामान लंदन से मँगवाया गया। इसका अनुमानित किराया पचास रुपये था। आरम्भ में बिजली का काम सिखाना तय हुआ।[13ख] विदेश से सामान आने पर 12 अप्रैल 1884 शनिवार को सायं छह बजे यह इन्स्टीट्यूशन खोल दिया गया। प्रोफेसर जे.सी. ओमन का व्याख्यान हुआ, तत्पश्चात् गुरुदत्त विद्यार्थी ने बिजली के प्रयोग करके दिखाए।[13ग,15,16] बाद में भी यहाँ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के विज्ञान सम्बन्धी व्याख्यान होते रहे।

वैज्ञानिक बोध की दिशा में गुरुदत्त का यह प्रयास उनकी आरम्भिक दिनों की प्रमुख उपलब्धि मानी जा सकती है। तत्कालीन पंजाब में ही नहीं अपितु समूचे देश में पश्चिमी वैज्ञानिक बोध के भारतीय संस्कृति के साथ जुड़ाव के ये शुरू के दिन थे। सामान्यतया भारतीय जन मानस अभी आधुनिक विज्ञान से अछूता था। गुरुदत्त उन भारतीय वैज्ञानिकों की प्रथम पीढ़ी में अग्रणी थे जिन्होंने विज्ञान को लोकप्रिय बनाने तथा वैज्ञानिक परम्परा स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। गुरुदत्त के प्रयास के समानान्तर पंजाब साइंस इन्स्टीट्यूट की स्थापना विदेशी प्रोफेसर ओमन ने अगले वर्ष 1885ई. में की। फिर 1887 में बंगाल में 'दि इण्डियन ॲसोसिएॅशन फ़ॉर द कॅल्टीवेशॅन ऑफ़ साइंस' महेन्द्रलाल सरकार द्वारा स्थापित की गई। इण्डियन साइंस कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन तो कहीं जाकर 1914 (15 जनवरी) में हुआ था।

उधर एफ.ए. की परीक्षा सिर पर थी। गुरुदत्त को तैयारी के लिए न फुरसत थी, न ही चिन्ता। जब देखो किसी न किसी भाषा के व्याकरण

का अध्ययन हो रहा है। दर्शनशास्त्र, भौतिकीय विज्ञान, गणित तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य के अनुशीलन से ही समय न बच पाता था। अरबी व्याकरण, फ़ारसी पुस्तकों तथा संस्कृत ग्रन्थों का विशेष अध्ययन भी चल रहा था। न कॉलेज में कभी पढ़ाई की ओर ध्यान दिया, न ही छात्रालय में पाठ्य-पुस्तकों को नियमपूर्वक पढ़ा। लाजपतराय उनके मित्र एवं सहपाठी थे। उन्होंने गुरुदत्त को उन दो वर्षों में घर पर पाठ्य-पुस्तकें पढ़ते नहीं देखा। रटने से उन्हें घृणा थी। परीक्षा से पूर्व पुस्तकों को एक बार अवश्य पढ़ा। यही कुल तैयारी थी। इसी के सहारे मई 1883 में पंजाब विश्वविद्यालय से इण्टरमीडिएट (आर्ट्स) की परीक्षा दे दी और प्रान्त में प्रथम रहे।[17] मित्रों के हर्ष और विस्मय का ठिकाना न था।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. इस शिक्षा आयोग की नियुक्ति की जानकारी ऋषि दयानन्द को मुंबई में मिली। तब तक लाहौर और मुलतान की आर्यसमाजें स्मरण-पत्र दे चुकी थीं। आयोग से प्राप्त प्रश्नावली का उत्तर आर्यसमाज लाहौर ने 20 जून 1882 को भेज दिया था। ऋषिवर ने विशेष रुचि लेकर कई आर्यसमाजों को स्मरण-पत्र देने के लिए लिखा (भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग 2, पृष्ठ 602-06, परिशिष्ट 5, पृष्ठ 160-74)। कुल 118 स्मरण-पत्रों में से 29 स्मरण-पत्र आर्यसमाजों के थे। अकेले पंजाब की आर्यसमाजों ने लगभग एक दर्जन स्मरण-पत्र भेजे। आयोग की 600 पृष्ठ की रिपोर्ट में लगभग वही कुछ दोहराया गया है जो 1857 के आज्ञा-पत्र द्वारा स्वीकार किया जा चुका था।
2. द्रष्टव्य : 'दि आर्य', मार्च, जून, जुलाई, अगस्त, दिसम्बर 1882 के अंक; आर्य दर्पण, 31 अगस्त 1882, पृष्ठ 253; भारत सुदशा प्रवर्त्तक, जुलाई 1882, जनवरी, जुलाई 1884
3. लाजपतराय, ऑटोबाइऑग्रॅफिकल राइटिंग्ज़, पृष्ठ 79-80
4. लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, (क) पृष्ठ 19, (ख) लाजपतराय लिखते हैं, "यद्यपि लाला साईंदास का यह जादू-भरा स्पर्श भी अपरिमित प्रभाव डालने वाला था, किन्तु यदि पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने इसके लिए उचित आधार तैयार न किया होता, तो उसका कारगर होना कठिन ही था (पृष्ठ 19)।"
5. शिवनारायण अग्निहोत्री (1850-1929) गवर्नमेन्ट हाई स्कूल, लाहौर में ड्रॉइंग मास्टर थे। आरम्भ में ब्रह्मसमाजी थे, फिर साधारण ब्रह्मसमाजी बने। संन्यास के बाद सत्यानन्द अग्निहोत्री नाम से जाने गए। इन्होंने 16 फरवरी 1887 को देवसमाज स्थापित की।
6. उर्दू साप्ताहिक 'देशोपकारक' का प्रकाशन जनवरी 1883 में आरम्भ हुआ। इस साप्ताहिक की चर्चा 25 फरवरी तथा 24 नवम्बर 1884 के 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' में है। अत: यह पत्र भी काफी समय प्रकाशित हुआ था।

7. 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' 1 जनवरी 1883 को प्रथम बार प्रकाशित हुआ था, न कि 1882 में। यह प्रति सोमवार आर्य प्रेस, लाहौर से निकलता था। लेखक ने 12 फरवरी 1883 से 29 दिसम्बर 1884 तक के अंक (केवल 5 नवम्बर 1883 का अंक छोड़कर) स्वयं पढ़े हैं। अत: यह दो वर्ष तो अवश्य छपा था। कुछ लेखकों का यह लिखना सही नहीं है कि यह केवल चार महीने छपा था।

8. गुरुदत्त, हंसराज, तथा शिवनाथ ने 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' का वार्षिक चन्दा दिया — यह इस पत्र के 16 अप्रैल 1883 के अंक के सप्लीमेन्ट के पृष्ठ 2 पर अंकित है। वहाँ गुरुदत्त का नाम पण्डित गुरुदत्त लाहौर मुद्रित है।

9. हंसराज का 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' के सम्पादक के नाम पत्र 24 सितम्बर 1883 के अंक में पृष्ठ 8 पर छपा है। अत: इससे पूर्व ही इस पत्र से उनका सम्बन्ध टूट गया था।

10. निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद, पृष्ठ 39

11. ऋषि दयानन्द ने ऐसे स्कूल की आवश्यकता अनुभव करते हुए मूलराज को 30 नवम्बर 1880 के पत्र में लिखा था — "अब यह स्पष्ट है कि बहुत पढ़े लिखे लोगों को भी नौकरी नहीं मिलती या वे जीवन निर्वाह का प्रबन्ध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था देखकर मैं एक कला कौशल के स्कूल की आवश्यकता विचारता हूँ" (द्रष्टव्य : भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग 1, पृष्ठ 450)।

12. बाद में यह स्थिति नहीं थी। महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) लिखते हैं- "जब शिष्य (गुरुदत्त) गुरु (प्रोफेसर ओमन) को बहुत पीछे छोड़कर पदार्थ विद्या की अपेक्षा वेदों का अधिक मान करने लग गया तो गुरु को कुछ क्षोभ भी हुआ" (द्रष्टव्य : महात्मा मुन्शीराम, ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, भाग 1, भूमिका)।

13. द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, (क) 12 मार्च 1883, पृष्ठ 1,2,7, (ख) 27 अगस्त 1883, पृष्ठ 4, (ग) 14 अप्रैल 1884, पृष्ठ 5

14. जवाहरसिंह, मन्त्री आर्यसमाज लाहौर के 16 मार्च, 18 अप्रैल तथा 13 अक्तूबर 1883 को ऋषि दयानन्द को लिखे पत्र (द्रष्टव्य : युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग 3, पृष्ठ 306-7, 350)

15. द ट्रिब्यून, 12 अप्रैल 1884

16. पहले यह इंस्टीट्यूट आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर नवम्बर 1883 में खोलने का विचार था। ऋषि दयानन्द के देहावसान के कारण ऐसा न हो सका।

17. गुरुदत्त, चेतनानन्द, हंसराज तथा पण्डित हरिकृष्ण ने एफ.ए. परीक्षा में क्रमश: पहला, सातवां, तेरहवां और सतरहवां स्थान प्राप्त किया था (द ट्रिब्यून, 16 जून 1883)।

कायाकल्प

देवासुर संग्राम की कहानी धरती का इतिहास है। रात्रि का काला कलुषित घोर अन्धकार प्रतिदिन प्रकाश के हाथों पराजित होकर भी भुवन भास्कर को ढक लेने का कुप्रयास करने की धृष्टता से बाज नहीं आता। ऋषि दयानन्द रूपी सूर्य को अनेक बार रूढ़िवाद के बादलों ने ढकना चाहा। जब स्वार्थी, दम्भी एवं दुष्ट जन ऋषि का सामना न कर सके तो प्राण लेने पर उतारू हो गए। कितनी बार जीवन दीप बुझाना चाहा पर बचाने वाला बचाता रहा। अन्ततः 29 सितम्बर 1883 को ऋषिवर को दूध में विष पिलाने में सफल हो ही गए। हित के बदले अहित और अमृत के बदले विष; कृतघ्नता की यह पराकाष्ठा है।

चिकित्सा की गई परन्तु सब व्यर्थ। रोग बढ़ता चला गया। शीघ्र ही यह समाचार सर्वत्र फैल गया।[1] सब स्थानों से श्रद्धालु ऋषिराज की सेवा के लिए राजस्थान की ओर चल पड़े। लाहौर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा में उपप्रधान जीवनदास व गुरुदत्त को सेवा-शुश्रूषा के लिए भेजने का निश्चय किया गया।[2] वयोवृद्ध लोगों के होते हुए उन्नीस वर्ष के विद्यार्थी का आर्यसमाज लाहौर जैसी प्रमुख संस्था के द्वारा चुना जाना कम महत्त्व की बात नहीं थी। वैसे गुरुदत्त भी तेरहवीं कक्षा का विद्यार्थी मात्र ही नहीं था। वह था एक तरुण दार्शनिक और ऋषि के स्वप्नों की मूर्ति। सन् 1878 में देव दयानन्द मुलतान आए थे।[3] परन्तु बालक गुरुदत्त उस समय झंग बैठा था। तब गंगा घर आई परन्तु प्यासा प्यास न बुझा पाया। अब प्यासा स्वयं गंगा के पास जा रहा है। जीवनदास और गुरुदत्त लाहौर से चलकर सीधे आबू रोड पहुँचे। वहाँ स्टेशन पर उन्हें पता चला कि ऋषिवर एक दिन पहले अजमेर चले गए हैं।[4] अतः ये दोनों भी 28 अक्तूबर को अजमेर (भिनाय राजा की कोठी) पहुँच गए। अभी स्वामी जी दाँतुन करके पलंग पर लेटे ही थे। विनम्रतापूर्वक नमस्ते कर जीवनदास चुपचाप पलंग के पायताने की ओर बैठ गए। महाराज ने आँख खोलकर उन्हें देखा और उनका हाथ खींचकर उनकी तथा अन्य सामाजिक लोगों की कुशल-क्षेम पूछी। तदनन्तर लाला जी ने पण्डित गुरुदत्त का परिचय करवाया। गुरुदत्त ने उठकर नम्रतापूर्वक श्रीचरण छू नमस्ते की।[5]

महाराज के सारे शरीर पर फफोले थे। हिचकियाँ आ रही थीं। फेफड़ों

की सूजन जोरों पर थी। एक मास की बीमारी ने बिलकुल निर्बल कर दिए थे। डॉक्टर लक्ष्मणदास[6] की औषधि चल रही थी। आज (29 अक्तूबर) ऋषि की स्थिति कुछ बेहतर है, यह सोचकर डॉक्टर लक्ष्मणदास अपने सम्बन्धी राय भागराम के मकान पर भोजन लेने चले गए। ऋषिवर को गर्मी अनुभव हो रही थी अत: पीछे से उनकी चारपाई बरामदे में कर दी गई। डॉक्टर लक्ष्मणदास ने वापिस आकर यह देखा तो दुखी हुए और चारपाई फिर अन्दर करवा दी। उन्होंने तभी गुरुदत्त से कहा कि बरामदे में चारपाई करने से जो ठण्डी हवा लगी है उसके कारण रात को फिर रोग जोर पकड़ जाएगा। डॉक्टर लक्ष्मणदास और गुरुदत्त रात्रि के समय बारी-बारी सेवा करते रहे। अभी बारह भी नहीं बजे थे कि गुरुदत्त ने डॉक्टर लक्ष्मणदास को जगाकर कहा कि ऋषिवर की नब्ज नहीं मिल रही, सम्भवत: श्वास भी गति नहीं कर रहा। डॉक्टर महोदय ने उस समय तो स्थिति सम्भाल ली परन्तु अनहोनी होने की आशंका से दुखी हो किसी अन्य डॉक्टर को बुलाने का सुझाव दिया। प्रात: अजमेर के सिविल सर्जन कर्नल न्यूमैन को बुलाया गया। डॉक्टर न्यूमैन ऋषि दयानन्द को देखकर आश्चर्यचकित रह गए। रोग इतना भयंकर और यह व्यक्ति फिर भी शान्त है! कष्ट से व्यथित और विचलित होना तो एक ओर रहा, उसके मुख मण्डल पर सहज मुस्कान खेल रही है। कैसी दिव्य आत्मा है! न्यूमैन ने भी दवाई दे दी परन्तु कोई लाभ न पहुँचा। फिर उन्होंने तीन-चार सेर दूध में अलसी पकवाकर छाती पर बंधवा दी। डॉक्टर लक्ष्मणदास इस पक्ष में न थे। उन्होंने गुरुदत्त से कहा कि ऋषिवर तीन चार दिन और जीवित रह जाते परन्तु अब भारत-भाग्य आकाश का यह सूर्य सम्भवत: रात्रि होने से पूर्व छिप जाएगा। दोनों सेवा में जुटे रहे।

गुरुदत्त ने जिस भक्तिभाव से पुत्रवत् सेवा की, उससे सभी लोग बहुत प्रभावित हुए। ऋषि को भी इनसे विशेष स्नेह हो गया। 30 अक्तूबर दोपहर बाद जीवनदास ने पूछा,''महाराज, इस समय कहाँ है?'' उत्तर मिला, ''ईश्वरेच्छा में।'' चार बजे के पश्चात् स्वामी जी ने बाहर से आए हुए सज्जनों को बुलाया और सबकी ओर ऐसे निहारा मानो मूक भाषा में उपदेश दे रहे हों। हृदय की उन भावनाओं को शब्दों में बाँधने का किसमें सामर्थ्य है? फिर साढ़े पाँच बजे सब भक्तों को पीछे खड़े होने का आदेश दिया। केवल गुरुदत्त को कमरे में ठहराये रखा। ऋषि की तीक्ष्ण दिव्य दृष्टि ने आर्यों के समूह में से इस रत्न को पहचान लिया था। जो चाहिए था वह मिल गया, इसलिए जब सामने कोई नहीं रहा तो ऋषि ने इन्हें अपने अति निकट बुलाकर

बहुत स्नेह के साथ दो-चार शब्द में कुछ कहा भी।[7] तब सभी दरवाजे और रोशनदान खुलवा दिए। फिर पूछा कि कौन सा पक्ष, क्या तिथि और वार है? मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने उत्तर दिया कि कृष्ण पक्ष, अमावस्या और मंगलवार। फिर छत और दीवारों की ओर देखा तथा वेदमन्त्रों का पाठ किया। मुखमण्डल पर एक विशेष प्रसन्नता के साथ पहले ईश्वर का गुणगान और फिर गायत्री तथा 'विश्वानि देव' मन्त्र का जाप किया। थोड़ी देर के लिए समाधिस्थ हुए। नेत्र खोले। सीधे लेट गए। फिर बोले - "हे दयामय सर्वशक्तिमान् परमेश्वर! तेरी यही इच्छा है। तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा! तूने अच्छी लीला की।" तदनन्तर स्वयं करवट बदली। सांस को रोककर एकदम बाहर फेंक दिया और बस कार्तिक बदि अमावस्या विक्रमी सम्वत् 1940 (30 अक्तूबर 1883) मंगलवार सायंकाल छह बजे अमृत-पुत्र ने स्वेच्छा से पिता की गोद में स्थान पा लिया।[8] जो मृत्यु एक मास से दरवाजे तक आकर भी दस्तक देने का साहस न कर पा रही थी – उसका वरण कर लिया। मृत्यु की मृत्यु हो गई और वे अमर हो गए। भक्त बेचारे रोते रह गए, उनका तो सर्वस्व लुट चुका था। वायु गतिविहीन हो गई। सूर्य से भी यह दृश्य देखा न गया। उस पर उदासी का पीलापन छा गया और ... और दुखी हो उसने दूर कहीं पश्चिम की ओर जा मुँह छिपाया। दीवाली के चेहरे को शोक ने गहरे काले अन्धेरे के आवरण से ढक लिया। लाख दीप जले परन्तु अब तक अन्धेरा दूर न हो सका।

यह विचित्र घटना गुरुदत्त की आँखों के सामने घटी परन्तु उसने जो देखा, उसका सही चित्रण वह स्वयं भी न कर सके। 'गूंगे का गुड़' की कहावत प्रसिद्ध है। भला गूंगा तो गूंगा ठहरा। वह बताएगा भी कैसे? यहाँ तो वाणी है। वाणी भी साधारण नहीं अपितु ऐसी जिस पर सरस्वती निवास करती है। फिर भी नेत्रों ने जो देखा, हृदय ने जो अनुभव किया – वाणी उसे कभी कह न पाई। योगी दयानन्द उसके मस्तिष्क और हृदय पर कुछ ऐसे छा गए कि उसे चारों ओर दयानन्द और केवल दयानन्द ही नज़र आ रहा था। अपने मुक्तिधाम को जाने से पूर्व जब ऋषि ने उन्हें अपने निकट रहने दिया, उस समय कमरे में सर्वनियन्ता प्रभु, महर्षि और गुरुदत्त – बस, यही तीन ज्योतियाँ विद्यमान थीं। तब गुरुदत्त को ऐसे लगा जैसे एक दयानन्द चारपाई पर लेटा हुआ है तथा दूसरा दयानन्द छत के पास समाधि में बैठा हुआ उपदेश दे रहा है।[9]

गुरुदत्त ने उस ब्रह्मोपासक योगी को जीवन-यज्ञ की पूर्णाहुति देते

हुए देखा तो देखते ही रह गए। छह फुट लम्बा शरीर, उसके रोम-रोम से विष फूट कर बह रहा है। रोग असाध्य, महापीड़ा परन्तु चेहरे पर ऐसी मुस्कराहट मानो कुछ हुआ ही नहीं। मुखमण्डल पर एक अपूर्व तेज है। प्रभु-भक्त को मृत्यु से कुछ भय नहीं। उसके लिए भूत और भविष्यत् एक अनन्त जीवन है। उधर कोने में बेचारी मृत्यु दुम दबाए सिमटी बैठी है। भयभीत है, मुँह खोलने का साहस नहीं बटोर पा रही।

ऋषि की भयंकर बीमारी के कारण गुरुदत्त उनसे कोई विशेष वार्तालाप नहीं कर पाए। केवल दर्शन हुए हैं परन्तु जो चीज डार्विन और स्पेन्सर, न्यूटन और बेकन से न मिल सकी, वह मिल गई है। दर्शन मात्र से जीवन में शान्ति हो गई। जन्म मंगलवार को हुआ था और पुनर्जन्म भी मंगल को हो गया। गुरुदत्त जब घर से चला था तब अर्धनास्तिक तो था ही। लम्बे समय से विचारों में उथल-पुथल मचती रही है। अपनी डायरी में 12 जनवरी 1883 को तो यहाँ तक लिख दिया था – ''लाला लिखते हैं कि हमें अपने नास्तिक होने की घोषणा कर देनी चाहिए।'' अत: अनीश्वरवादिता का पूर्ण साम्राज्य न सही, संशय का इतना प्रभाव तो रहा ही कि कितने ही मनुष्य संशय और नास्तिकता के मध्य रेखा न खींच सके। निस्सन्देह लाहौर में उस समय एक ऐसा दल भी था जो यह मानता था कि गुरुदत्त जैसे सुयोग्य संस्कृतज्ञ और विज्ञानवेत्ता के लिए यह सम्भव ही नहीं है कि वह किसी पुस्तक को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार कर सके।[10] अजमेर आने से पूर्व आर्यसमाज का विस्तृत भावी स्वरूप भी आँखों से ओझल न था। मित्रों ने मैत्री का वास्ता भी दिया होगा। तार्किकों ने अपने तर्क भी आजमाए थे, भक्तों ने भक्ति; परन्तु गुरुदत्त की वाणी मौन न हो पाई थी। आज ऐसे पराजित हुए, योगी के मौन ने ऐसे मौन किए कि क्या मजाल जो फिर कभी किसी वैदिक सिद्धान्त पर सन्देह कर पाए हों। हृदय की गुफा का अन्धेरा दूर हुआ, प्रकाश फैल गया। दीपक ने बुझते-बुझते भी एक और दीपक को प्रकाशित कर दिया। जीवन से जीवन-दान की कहानी अनेक बार सुनी परन्तु मृत्यु से जीवन मिला हो, यह अनोखी घटना पहली बार घटी। कितने ही जीवन इस मृत्यु पर न्योछावर किए जा सकते हैं, जिससे एक भटके हुए को राह मिल गई, प्यासे की प्यास बुझ गई।[11] बुझे भी क्यों न? जब सायं को सूर्य छिपते समय अपनी लालिमा लुटाता है तो निर्धन से निर्धन नाविक भी अपने हाथ में सोने का चप्पू अनुभव करता है। और आज तो सूर्यों का सूर्य अस्त हुआ है। उसने मुक्त हस्त से अपना वैभव लुटाया है। इसलिए हर भिक्षुक अपने पात्र को हीरों से भरा पा रहा है। हाँ, वह प्रत्येक भिखारी पा रहा है, जो

खाली हाथ नहीं है। जिसके पास पात्र है, फिर चाहे वह टूटा-फूटा, नया-पुराना कैसा ही है। पात्र ही नहीं तो भरेगा क्या? आवश्यकता केवल पात्र की है। यही कारण है कि अनगिनत बार मूर्ति पर चूहे चढ़े परन्तु केवल मूलशंकर ही दयानन्द बन पाया। एक ने सेब को गिरते देखा तो उठाकर खा लिया परन्तु दूसरा न्यूटन बन गया। एक ने ज्योति विलीन होते देखी तो रो दिया, दूसरा गुरुदत्त बन गया।

जब वैदिक भानु अस्ताचल की ओर चलने लगा तो उसने सब ओर निहारा; मानो पाप, पाखण्ड तथा दम्भ के अन्धकार के साथ लड़ने के लिए किसी को खोज रहा हो। परन्तु क्या किसी ने आह्वान स्वीकार किया? न, नहीं। बड़े-बड़े प्रकाशपुञ्जों का प्रकाश एकदम क्षीण हो गया। कौन चले इस राह पर? यहाँ धन नहीं, निर्धनता है; मान नहीं, अपमान है; पुष्प नहीं, कण्टक हैं। इस राह पर चलने के लिए देव दयानन्द जैसा ईश्वरानुराग, बल, विद्या, धैर्य, साहस और हृदय चाहिए। फिर भी किश्ती न जाने किनारे पर लग पाए या मँझधार में ही डूब जाए। यही सोच दिशाओं ने मौन साध लिया। तो क्या अब साधु की साधना व्यर्थ जाएगी? क्या प्रकाश की मौत अन्धकार के हाथों होगी? यह विचार उत्पन्न होना था कि युवक गुरुदत्त रूपी लघु दीप ने उस महान् सूर्य के समक्ष मस्तक झुका दिया – "गुरुदेव! अच्छा, आप चल दिए तो अब अन्धकार से मैं लड़ूँगा। मुझे आशीर्वाद दीजिए। मुझ में आप जितना प्रकाश नहीं, बल नहीं, सामर्थ्य नहीं, परन्तु हृदय में लग्न है, भावना है, भावना में सत्यता है, पैरों में चलने की अभिलाषा है। बस, तुम्हारी राह पर मैं चलूँगा। हे देव, जब तक इस दीप में किंचित् मात्र भी बत्ती तथा तेल रहेगा, यह तिल-तिल करके जलता रहेगा और अन्धकार से टक्कर लेगा।"

विचित्र मन:स्थिति थी, वाणी कुछ कह न पाई परन्तु हृदय ने कहा, हृदय ने सुना और बात हो गई। अब जब गुरुदत्त लाहौर की ओर चले तो बदले-बदले से थे। अब वह पहले का सा संशय और अविश्वास भूत की कहानी बन चुका था। प्यासे की प्यास बुझ चुकी थी। भटके हुए को राह मिल गई थी। उन्हें ऐसा लगा मानो ऋषि ने अपना उत्तराधिकारी उन्हें चुन लिया है, मिशन का भार उन पर ही डाल दिया है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. आर्यसमाज अजमेर के एक सभासद ने 12 अक्तूबर 1883 के राजपुताना गज़ट में ऋषिवर की बीमारी की खबर पढ़कर आर्य सामाजिक पुरुषों को सूचित किया। तब जेठमल सोढा को स्वामी जी के पास भेजा गया। जब उसने बीमारी का दु:खद समाचार दिया तो

लाहौर आदि आर्यसमाजों को तार दिए गए।

2. जिस राय मूलराज के प्रति ऋषिवर दयानन्द महाराज का व्यवहार बहुत सहानुभूतिपूर्ण रहा, वह महाराज के अन्तिम दर्शनार्थ अजमेर नहीं गए। मूलराज ने पूरे चार साल पहले नवम्बर 1879 में दिल्ली में अन्तिम बार ऋषि के दर्शन किए थे (द्रष्टव्य: ऑटोबाइऑग्राफ़ि ऑफ़ मूलराज, पृष्ठ 37)। न ही किसी श्रद्धाञ्जलि सभा में भाग लेने का उनका विवरण कहीं मिलता है। ऐसी थी मूलराज की ऋषि के प्रति श्रद्धा!

3. ऋषि दयानन्द 12 मार्च 1878 मंगलवार को मुलतान पधारे थे। वे वहाँ सैंतीस दिन विराजमान रहे और छत्तीस प्रवचन किए।

4. ऋषि दयानन्द 26 अक्तूबर को आबू से चलकर रेल द्वारा 27 अक्तूबर शनिवार सायं चार बजे अजमेर पहुँचे थे।

5. लक्ष्मण आर्योपदेशक, मुकम्मिल जीवन चरित्र महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती (उर्दू), पृष्ठ 913-14; सत्यानन्द स्वामी, श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ 446

6. डॉ. लक्ष्मणदास पंजाब के शाहपुर जिले के भेरा कस्बे निवासी तथा आर्यसमाज के अनुयायी थे। उनका उन्हीं दिनों राजकीय चिकित्सालय, आबू पर्वत से अजमेर स्थानान्तरण हुआ था।

7. जीवनदास लिखते हैं कि स्वामी जी ने "हुक्म दिया कि तमाम आदमी उनके कमरे से निकल जावें — सिर्फ पण्डित गुरुदत्त जी मेरे पास रहें। जब कमरा खाली हो चुका तो स्वामी जी ने पण्डित जी को अपने बहुत नजदीक बुलाया और निहायत गहरे प्रेम से अपनी मौज़ज़ा असर जुबान से न मालूम दो चार लफ़्ज़ों में क्या जादू फूंका कि पण्डित गुरुदत्त जी जब बाहर तशरीफ़ लाए तो इस खास मुलाक़ात से कमाल मतासर पाए गए" (द्रष्टव्य: लाजपतराय, जीवन चरित्र पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी (उर्दू), संस्मरण लाला जीवनदास, पृष्ठ 44)।

8. प्राण त्यागने पर ऋषिवर की आँखें खुली रह गई थीं। जीवनदास ने बंद कीं परन्तु पूरी बंद न हुईं (लक्ष्मण आर्योपदेशक, मुकम्मिल जीवन चरित्र महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 917)।

9. पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के मित्र सरदार सरूपसिंह सेवा-निवृत्त अतिरिक्त सहायक कमिश्नर के संस्मरण के आधार पर (द्रष्टव्य: मुनि गुरुदत्त लेखावली, अनुवादक सन्तराम तथा भगवद्दत्त)।

10. प्रकाश (साप्ताहिक) के 15-22 अक्तूबर 1933 के अंक में महात्मा हंसराज का लेख

11. इस महान् चमत्कारी घटना के बारे चमूपति लिखते हैं — "ऋषि दयानन्द ने एक गुरुदत्त को ही अपना शिष्य बनाया होता तो उनकी सफलता का यही एक प्रमाण पर्याप्त था" (द्रष्टव्य: चमूपति, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का सचित्र इतिहास, पृष्ठ 12)।

डी.ए.वी. कॉलेज की स्थापना

ऋषि दयानन्द के देहावसान के कारण सर्वत्र उदासी छा गई। स्थान-स्थान पर शोक सभाएँ हुईं। ऐसी ही एक सभा का आयोजन आर्यसमाज मन्दिर, लाहौर में पहली नवम्बर सायं छह बजे किया गया।[1] ऋषिराज को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिए सारा नगर उमड़ पड़ा। आर्यसमाज मन्दिर के प्रांगण, छत तथा दीवारों पर आदमी-ही-आदमी दिखाई देते थे। जिसे जहाँ स्थान मिला, वह वहीं अटक गया। इस पर भी कितने ही लोगों को स्थानाभाव के कारण निराश लौट जाना पड़ा। उपस्थिति के विषय में ट्रिब्यून ने लिखा था, ''इस सभा से अधिक भावपूर्ण एवं उत्तेजित सम्मेलन कभी लाहौर में देखने को नहीं मिला।''[2क] सभा में लाजपतराय मुख्य वक्ता थे। और भी कई सज्जनों ने ऋषि जीवन पर प्रकाश डाला।

तदनन्तर ऋषि के आदर्शों के अनुकूल उनका स्मारक बनाने का विचार उत्पन्न हुआ। स्मारक क्या हो – यह निश्चित न हो पाया। इतना अवश्य था कि सभी उसे वैदिक संस्कृति और वेद की शिक्षा का केन्द्र बनाना चाहते थे।[3] इतने में गुरुदत्त व जीवनदास भी अजमेर से लौट आए। तब 6 नवम्बर 1883 को आर्यसमाज लाहौर की अन्तरंग सभा की बैठक हुई जिसमें दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल की स्थापना करने का निश्चय किया गया। धन संग्रहार्थ लालचन्द एम.ए., भाई जवाहरसिंह, जीवनदास, गुरुदत्त व चार अन्य सदस्यों पर आधारित एक उपसमिति बना दी गई। लालचन्द इस उपसमिति के प्रधान तथा भाई जवाहरसिंह मन्त्री नियुक्त किए गए।[4]

महान् ऋषि का स्मारक स्थापित करने के लिए 8 नवम्बर वीरवार सायं को आर्यसमाज मन्दिर में एक सार्वजनिक सभा की गई।[5] खूब भीड़ थी। इतनी भीड़ लाहौर की जनसभाओं में प्रायः देखी नहीं गई। कार्यवाही भाई जवाहरसिंह ने आरम्भ की। फिर गुरुदत्त ने ऋषि दयानन्द की बीमारी के कारणों पर प्रकाश डाला और जिस धैर्य और गम्भीरता से शान्त चित्त ऋषि ने मृत्यु का सामना किया – उसकी चर्चा की। उन्होंने बताया कि ऋषिवर ने जीवन लीला संवरण करने से कुछ क्षण पूर्व प्रभु की स्तुति की, वेदमन्त्रों का पाठ किया, गायत्री तथा विश्वानि देव मन्त्र का जाप किया, करवट बदली और यह नश्वर संसार त्याग दिया।[2ख]

गुरुदत्त ने जिस भावपूर्ण एवं हृदय-द्रावक शब्दों में ऋषिवर के

स्वर्गवास होने का वृत्तान्त सुनाया, उससे कहने और सुनने वालों की आँखों से गंगा-यमुना बह निकली। पाषाण हृदय भी पिघल गए। गुरुदत्त ने ही डी.ए.वी. स्कूल व कॉलेज के रूप में ऋषि का स्मारक बनाने का प्रस्ताव रखा, उसे जनता ने बहुत पसन्द किया तथा सर्वसम्मति से स्वीकार किया।[6] एतदर्थ वहीं सभा में सात हजार रुपये से अधिक धन संग्रहीत हो गया।[7] देवियों ने अपने आभूषण तक भेंट कर दिए। गुरुदत्त ने अपनी एक मास की छात्रवृत्ति के पच्चीस रुपये तुरन्त दान में दे दिए। सभा को जीवनदास ने भी सम्बोधित किया।

आर्यजन पूरी श्रद्धा से अपने आचार्य का स्मारक बनाने में जुट गए। शोक का स्थान उत्साह ने ले लिया। आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर 18 दिसम्बर 1883 रविवार को गुरुदत्त, लाजपतराय, माता भगवती आदि सभी वक्ताओं ने कॉलेज की स्थापना पर बल दिया। गुरुदत्त ने बताया कि वैदिक साहित्य में सत्य विद्याएँ भरी पड़ी हैं। अत: आध्यात्मिक एवं भौतिक ज्ञान और जातीय अस्मिता के लिए दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलेज की स्थापना आवश्यक है। तत्पश्चात् आर्यसमाज के भामाशाह ज्वालासहाय (मियानी शाहपुर) ने आठ हजार रुपये से भरी आठ थैलियाँ दानस्वरूप भेंट कर दीं। आर्यसमाज मुलतान ने दो सहस्र छह सौ रुपये दान दिया। मुलतान, लुधियाना और गुजरांवाला की आर्यसमाजों ने क्रमश: तीस, इक्कीस व पन्द्रह रुपये मासिक दान देने की घोषणा की। देवियों ने स्वर्ण आभूषण तक दान कर दिए। अनेक सज्जनों ने मासिक दान लिखवाया।

आर्यसमाज लाहौर की ओर से कॉलेज के लिए पहली अपील (इल्तिमास)23 दिसम्बर 1883 को प्रसारित की गई। इस अपील को आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री मदनसिंह व गुरुदत्त ने लिखा था।[8] इसमें कहा था – "... आर्यसमाज ने बहुत विचार-विमर्श के पश्चात् यह योजना बनाई है कि उस महात्मा तथा ब्रह्मर्षि के स्मारक के रूप में एक ऐसा महाविद्यालय बनाया जाए जिसमें संस्कृत भाषा का उच्च कक्षा तक अध्ययन हो और वेद तथा वेद विद्या के ग्रन्थ पढ़ाए जाएँ। उसमें अंग्रेज़ी शिक्षा भी उच्च कक्षा तक हुआ करेगी क्योंकि जीविकोपार्जन तथा पाश्चात्य विद्याओं की प्राप्ति के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा का होना भी आवश्यक है। इस प्रकार के कॉलेज को दृढ़ आधार पर स्थिर करने के लिए एक बृहत् राशि की आवश्यकता है, जिसके ब्याज अथवा लाभ से उसका सम्पूर्ण व्यय सदा के लिए निकलता रहे। इस राशि का अनुमान दस लाख रुपया लगाया गया है।"[8]

इस प्रस्तावित कॉलेज के प्रारूप सम्बन्धी एक परिपत्र में इसके मुख्य उद्देश्य ''राष्ट्रीय तथा देशी भाषा के पठन-पाठन को प्रोत्साहित कर शिक्षित व अशिक्षित वर्ग में ऐक्य स्थापित करना, वैदिक संस्कृत के अध्ययन को अनिवार्य करके चारित्रिक एवं आध्यात्मिक सच्चाइयों का प्रसार करना, छात्रों में संयत जीवन-पद्धति द्वारा नियमित, सुदृढ एवं सक्षम आदतों का निर्माण करना, अंग्रेज़ी साहित्य की ठोस जानकारी को प्रोत्साहित करना तथा भौतिक एवं क्रियात्मक विज्ञान का ज्ञान देकर देश में भौतिक स्मृद्धि पैदा करना'' बताए गए थे।[9, 10] इस परिपत्र में यह भी स्पष्ट किया गया था – ''(आर्य) समाज अपना यह निश्चित मत एकदम बलपूर्वक घोषित करता है कि यह इस देश के लोगों के लिए हिन्दी को प्राथमिक शिक्षा का एकमात्र स्वाभाविक, सुविधाजनक तथा सर्वोत्तम माध्यम मानता है ... (यद्यपि) समाज इस बात से अनभिज्ञ नहीं है कि अभी सरकार ने हिन्दी को इस देश की मुख्य भाषा स्वीकार नहीं किया है। वास्तव में सरकारी पत्रव्यवहार, ... कानूनी कार्यवाही अभी उर्दू भाषा और लिपि में ही की जाती है।''[9] क्योंकि स्कूल सरकारी सहायता पर आश्रित नहीं था, अत: स्वेच्छानुसार पाठ्यक्रम बनाना सम्भव था। तब पंजाब विश्वविद्यालय ने मैट्रिक परीक्षा के लिए पाठ्यपुस्तकें निश्चित नहीं कर रखी थी, अत: संस्कृत पर अधिक बल देने से विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में किसी प्रकार का व्यवधान पड़ने की आशंका नहीं थी।

स्मारक स्थापित करने की योजनाएँ अजमेर, प्रयाग, मेरठ, फिरोजपुर, लाहौर, मुलतान आदि कई स्थानों पर बन रही थीं७ परन्तु लाहौर वालों के उत्साह ने उन्हें सबसे आगे निकाल दिया। गुरुदत्त ने भी अन्य लोगों के साथ कॉलेज के लिए गले में झोली डाल ली। उन्होंने धन संग्रहार्थ आर्यसमाजों के उत्सवों पर जाकर भाषण दिए। लेख लिखे। यद्यपि 1884 में उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं रहा, तो भी वे पूरी श्रद्धा से इस कार्य में जुटे रहे।

आर्यसमाजों में गुरुदत्त की मांग निरन्तर बढ़ रही थी। उन्हें सुनने के लिए जनता उमड़ पड़ती थी। उनकी विद्वत्ता, चरित्र की निर्मलता तथा ऋषि के सिद्धान्तों में श्रद्धा के कारण लोग स्वत: आकर्षित हो जाते थे। आर्यजन उनकी मनमोहक एवं प्रभावशाली अपील पर दिल खोलकर दान देते थे। वस्तुत: दयानन्द कॉलेज आन्दोलन की सफलता के लिए गुरुदत्त सरीखे ऐसे वक्ता की महती आवश्यकता थी जिसने पूर्व और पश्चिम दोनों का अवलोकन किया हो, जो न केवल पाश्चात्य विज्ञान का ही विद्वान् हो अपितु वेदशास्त्रों का भी ज्ञाता हो और जो तुलनात्मक विवेचन कर प्राचीन आर्य गौरव की पताका लहरा सके। शिक्षित वर्ग कपिल और कणाद को

भूल बैठा था तथा डार्विन, हक्सले, विलसन, मोनियर विलियम्स प्रभृति पाश्चात्त्य विद्वानों का अन्ध श्रद्धालु बनता जा रहा था। जनसाधारण रूढ़िवाद के भंवर में फँसा हुआ था। ऐसे समय में गुरुदत्त ने न केवल उन सब से टक्कर ली अपितु स्थान-स्थान पर भाषण देकर कॉलेज के लिए धन भी एकत्र किया। गुरुदत्त कहीं वेद वेदांग, कहीं वैदिक संस्कृति, कहीं ब्रह्मचर्य, कहीं संस्कृत, कहीं प्राचीन शिल्प आदि के पुनरुद्धार के नाम पर दयानन्द कॉलेज के लिए जब धन मांगते तो लोग धन की वर्षा कर देते थे। देवियाँ हाथों की चूड़ियाँ और अनन्त तक उतार देती थीं।

सन् 1885 में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न ने आर्यसमाजियों का ध्यान खींच लिया। समस्या थी दयानन्द कॉलेज प्रबन्धक कमेटी के सम्बन्ध में। कॉलेज कमेटी का प्रत्येक सदस्य आर्यसमाजी ही होना चाहिए या कोई गैर-आर्यसमाजी भी सदस्य बन सकता है? निर्वाचन की विधि क्या हो? निर्वाचन का अधिकार किसे दिया जाए? ऐसे अनेक प्रश्नों ने आर्यसमाज रूपी शान्त सागर में ज्वारभाटा पैदा कर दिया। कहीं इस वैधानिक विवाद के कारण मनोमालिन्य न हो जाए! सीधे धागे में गाँठ न पड़ जाए! ऐसी आशंकाएँ पैदा होने लगीं।

प्रश्नों के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता परन्तु समस्या सुलझ नहीं रही थी। सुलझाए भी कौन? ऋषिवर चले गए। पहले कोई समस्या होती तो वह झटपट उसका समाधान कर देते थे। माली सिर में मिट्टी पड़ने की चिन्ता किए बिना पौधे की देखभाल कर रहा था। अब इस पौधे की रक्षा नियमों की बाड़ ने ही करनी है। यदि बाड़ सुदृढ़ न बन पाई तो पौधे की रक्षा कैसे होगी? कहीं से भी कमजोर रह गई तो शत्रु अन्दर घुस पौधे को कुचल देंगे। सारी तपस्या व्यर्थ चली जाएगी। इसीलिए समस्या गम्भीर तथा विकट थी।

गुरुदत्त का अधिक समय इन समस्याओं के समाधान में व्यतीत होने लगा। आर्यसमाज लाहौर की अन्तरंग सभा में कई मास तक इन प्रश्नों पर विचार-विमर्श होता रहा। अन्तरंग सभा की बार-बार बैठकें हुईं। अकेले नवम्बर महीने में अन्तरंग सभा की नौ बैठकें हुईं। आर्यसमाज मन्दिर में अधिवेशनों द्वारा भी वाद-विवाद हुआ। अन्ततोगत्वा अन्तरंग सभा दो दलों में बंट गई। एक के नेता साईंदास तथा दूसरे के अग्रणी लाला (बाद में रायबहादुर) लालचन्द एम.ए. थे। साईंदास कॉलेज का प्रबन्ध केवल आर्यसमाजियों के हाथ में रखने के पक्ष में थे परन्तु लालचन्द अन्य लोगों को भी प्रतिनिधित्व देना चाहते थे। ये दोनों सज्जन परस्पर निकट सम्बन्धी थे।[11] फिर भी जमकर

बहस होती थी। प्राय: बैठकें सायंकाल को प्रारम्भ होकर आधी रात तक चलती रहतीं। दोनों पक्ष आर्यसमाज के हित की भावना से वाद-विवाद में उलझे हुए थे। वे सत्य के निर्णयार्थ ऊहापोह कर रहे थे। कोई व्यक्तिगत आक्षेप या दुराग्रह न था। गर्मी थी परन्तु कटुता न थी।

गुरुदत्त व साईंदास की सूझ-बूझ से समस्या सुलझ ही गई। नियम बन गए तथा इन्होंने उदार हृदय से उन्हें स्वीकार कर लिया। निश्चित हुआ कि जो आर्यसमाज एक सहस्र रुपया नकद चन्दा दे, वह एक सदस्य कॉलेज प्रबन्धक सभा में भेज सकता है (नियम 5क)। इस प्रकार निर्वाचित सदस्य यदि चाहें तो किसी गैर-आर्यसमाजी को उसकी विशेष योग्यता एवं उपयोगिता के कारण सदस्य बना सकेंगे परन्तु ऐसे सहयोगी सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों की संख्या के एक-तिहाई से अधिक न होगी (नियम 7)। आर्यसमाज लाहौर के निमन्त्रण पर 31 जनवरी 1886 को लाहौर में एकत्रित हुए लाहौर, अमृतसर, मुलतान, गुजरांवाला, लुधियाना तथा रोहतक की छह प्रमुख आर्यसमाजों के नौ प्रतिनिधियों द्वारा ये नियम पारित कर दिए गए। साथ ही दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज ट्रस्ट एन्ड मैनेजिंग सोसॉइटी का औपचारिक रूप से गठन कर दिया गया। गुरुदत्त ने इस पारस्परिक विवाद को मिटाकर शान्ति स्थापनार्थ विशेष परिश्रम किया। वर्ष भर नभ धूलि-धूसरित रहा, जल में बड़े वेग से तूफान उठते रहे परन्तु उनके पुनीत प्रयासों के कारण नैय्या सुरक्षित किनारे पर पहुँच ही गई।

कॉलेज रूपी यज्ञ के लिए हव्य-सामग्री का संग्रह किया जा रहा था। चारों ओर व्यापक उत्साह था। जनसाधारण ने अपनी थैलियों के मुँह खोल दिए थे। देवियाँ अपने आभूषण तक दे रही थीं। छोटे-छोटे बच्चे भी किसी से पीछे न थे। इसीलिए 1885 तक बीस सहस्र रुपये नकद तथा इकत्तीस सहस्र रुपये की प्रतिज्ञाएँ प्राप्त हो चुकी थीं। नव-स्नातक हंसराज ने भी इस यज्ञ में भाग लेना चाहा। सोचा, क्या यह धन ही सर्वोत्तम हव्य पदार्थ है? क्या इससे अधिक मूल्यवान् और कोई हवि नहीं? उत्तर मिला – है क्यों नहीं। है तो यह दुर्लभ मनुष्य जीवन, परन्तु कोई दे भी? बस, हंसराज ने यह हव्य पदार्थ स्वयं भेंट करने की ठान ली। अपने बड़े भाई मुलकराज से सलाह की। उन्होंने भी थपकी दे दी, ''बहुत शुभ कार्य है। तुम उन्हें अपना जीवन दो। मैं तुम्हें अपनी कमाई का आधा भाग दूँगा।'' लक्ष्य पवित्र था। दोनों की भावनाएँ शुभ थीं। बस, निश्चय होते क्या देरी लगनी थी। हंसराज की आँखों में उन दिनों कुछ तकलीफ थी। अत: मुलकराज ने हंसराज की ओर से आर्यसमाज लाहौर के प्रधान को नवम्बर 1885 में पत्र लिख दिया –

''दयानन्द स्कूल खुलने पर मैं अवैतनिक हैडमास्टर बनने के लिए तैयार हूँ।'' इस पत्र पर हंसराज ने हस्ताक्षर कर दिए।[12] बस, फिर क्या था। आर्यों में नवजीवन का संचार हो गया। अब उनका यज्ञ कोरी कल्पना नहीं, वास्तविकता है – इस विचार ने उन्हें गुदगुदा दिया।

एक बार हंसराज तथा लाजपतराय ने सलाह की कि लाजपतराय भी क्यों न स्कूल को अपनी अवैतनिक सेवाएँ दे दें और सैकिण्ड मास्टर बन जाएँ? परन्तु निर्वाहार्थ धन कहाँ से आएगा? फिर बी.ए. भी तो नहीं कर रखी। न जाने उनकी सेवाओं का कोई लाभ समझा भी जाएगा या नहीं। इस कारण लालाजी दुखी रहने लगे। कई बार तो घण्टों रोते रहते। ऐसी स्थिति में एक दिन गुरुदत्त ने उन्हें देख लिया। बहुत प्यार से समझाया, ''तुम वकालत करो और धन द्वारा स्कूल को सहयोग दो। यही सर्वोत्तम सेवा होगी।''

उन्नीस-सदस्यीय कॉलेज कमेटी की पहली बैठक 27 फरवरी 1886 को हुई। फिर 20 मार्च को चुनाव हुआ। लालचन्द प्रधान व कोषाध्यक्ष, मदनसिंह मन्त्री और गुरुदत्त सदस्य निर्वाचित हुए।[13] गुरुदत्त कमेटी में आर्यसमाज पेशावर[14] के प्रतिनिधि थे। मैनेजिंग कमेटी में युवक मण्डली में से केवल गुरुदत्त ही लिए गए। उनकी योग्यता, पाण्डित्य, योगदान एवं महत्ता के कारण आर्यसमाज पेशावर का निर्णय सराहनीय था। आर्यसमाज का प्रतिनिधि बनने के लिए आर्यसभासद होना जरूरी था परन्तु यह अनिवार्य नहीं था कि वह उसी समाज का पञ्जीकृत सदस्य हो (नियम 8)।

फिर 24 अप्रैल की बैठक में डी.ए. वी. स्कूल की स्थापना के लिए पहली जून निश्चित की गई। इसी बैठक में पाठ्यक्रम भी तय कर दिया गया (द्रष्टव्य: परिशिष्ट क)। कक्षाओं का वर्गीकरण वही रखा गया जो सरकारी स्कूलों में था। प्राइमरी तथा मिडिल कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम आर्य भाषा (हिन्दी) तथा अपर कक्षाओं में अंग्रेज़ी तय हुआ। हिन्दी व संस्कृत आरम्भ से पढ़ाई जानी थीं। दोनों भाषाएँ अनिवार्य थीं परन्तु उर्दू के विषय में सदस्यों में मतभेद रहा। इसे वैकल्पिक विषय बनाया गया। उर्दू की पढ़ाई चौथी कक्षा से आरम्भ की गई और वह भी केवल कामचलाऊ।[15] उन दिनों सरकारी तथा ईसाई स्कूलों में हिन्दी-संस्कृत नहीं पढ़ाई जाती थी। उर्दू तथा फ़ारसी पर ही ज़ोर था। अत: स्कूल में उर्दू की व्यवस्था करनी पड़ी।

31 मई को आर्यसमाज मन्दिर, लाहौर में आयोजित सभा में पण्डित गुरुदत्त ने अपने भाषण में स्कूल की आवश्यकता और उद्देश्यों पर प्रकाश डाला तथा जनता में इस पवित्र कार्य के लिए उत्साह भर दिया। आर्यजन बहुत उत्सुकता से सुबह होने की प्रतीक्षा करने लगे।

आखिर प्रतीक्षा की घड़ियाँ समाप्त हुईं और 1 जून 1886 मंगलवार को आर्यसमाज मन्दिर गली बिच्छोवाली में एक सार्वजनिक सभा करके डी.ए.वी. स्कूल की स्थापना कर दी गई। अधिक गर्मी के कारण कोई बहुत बड़ा आयोजन नहीं किया गया। इस अवसर पर गुरुदत्त का भाषण हुआ। हंसराज हैडमास्टर तथा दुर्गाप्रसाद[16] सैकिण्ड मास्टर नियुक्त हुए। उनके अतिरिक्त नौ और अध्यापक रखे गए। अगले दिन मन्दिर में ही विद्यार्थियों को प्रविष्ट करना आरम्भ कर दिया गया। बालक एकदम इस स्कूल की ओर आकर्षित हो गए और पहले सप्ताह में ही संख्या तीन सौ से ऊपर चली गई। प्रथम वर्ष की समाप्ति पर यह संख्या पाँच सौ पाँच तक पहुँच गई थी। बड़ी कक्षाओं में विद्यार्थी ऐसे स्कूलों से आए थे जिनमें हिन्दी की पढ़ाई का प्रबन्ध न था। अत: उन्हें भी हिन्दी तथा संस्कृत पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया।

गुरुदत्त स्कूल में बहुत रुचि लेने लगे। वह कभी-कभी अध्यापन भी कर देते थे। उनके 1887 में स्कूल की मैट्रिक की गृह परीक्षा में गणित व संस्कृत के परीक्षक होने की जानकारी भी मिलती है। वैसे लाला गंगाराम, प्रबन्धक इञ्जीनियर और पण्डित गुरुदत्त स्कूल के निरीक्षक नियुक्त किए गए थे तथा उनसे प्रार्थना की गई कि वे पन्द्रह दिन में एक बार अवश्य स्कूल जाया करें और इस प्रकार मुख्याध्यापक को स्कूल के कार्यों में सहयोग एवं मार्गदर्शन प्रदान करें।

पण्डित गुरुदत्त स्कूल के संस्थापक सदस्य तो थे ही, जून 1886 में स्कूल की उपसभा के सदस्य भी लिए गए। मदनसिंह ने स्थानान्तरित हो जाने के कारण त्यागपत्र दे दिया। अत: दिसम्बर मासान्त में जीवनदास को स्थानापन्न मन्त्री और पण्डित गुरुदत्त को सहायक मन्त्री नियुक्त किया गया। वे अप्रैल 1887-अप्रैल 1888 तक कॉलेज कमेटी के संयुक्त मन्त्री तथा अप्रैल 1888-अप्रैल 1889 तक मन्त्री रहे।[17] कॉलेज कमेटी में वे न केवल सब से छोटी आयु के पदाधिकारी थे अपितु सहायक मन्त्री और संयुक्त मन्त्री बनने वाले प्रथम व्यक्ति थे। उनके मित्र लाला लाजपतराय तथा हंसराज को कुछ वर्ष बाद पदाधिकारी लिया गया।[18]

17 अगस्त 1886 को दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज ट्रस्ट एण्ड मैनेजिंग सोसॉइटी की रजिस्ट्री करवा दी गई। उस समय लालचन्द एम.ए., ईश्वरदास एम.ए., मलिक ज्वालासहाय ठेकेदार, पण्डित गुरुदत्त एम.ए., साईंदास, मदनसिंह, द्वारकादास एम.ए., गंगाराम सिविल इञ्जीनियर, जीवनदास, लाजपतराय तथा मूलराज एम.ए. आदि सोसॉइटी के उन्नीस सदस्य थे। रजिस्ट्री

करवाते समय डी.ए.वी. कॉलेज सोसॉइटी के निम्नलिखित उद्देश्य घोषित किए गए :

(1) पंजाब में स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्मान में स्मारक के रूप में एक एंग्लो वैदिक कॉलेज संस्था जिसमें एक स्कूल, एक कॉलेज, एक छात्रालय होगा, की निम्नांकित सांझे उद्देश्यों सहित स्थापना करना :

(क) हिन्दी साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहित, उन्नत तथा लागू करना,

(ख) प्राचीन संस्कृत और वेद के अध्ययन को उत्साहित और प्रचलित करना,

(ग) अंग्रेज़ी साहित्य, सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक विज्ञान को उत्साहित और प्रचलित करना।

(2) दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज संस्था के साथ तकनीकी शिक्षा देने के साधन प्रदान करना, जहाँ तक वे प्रथम उद्देश्य की पूर्ति में बाधक न हों।[19]

समाज में शिक्षित वर्ग तथा जनसाधारण के बीच बढ़ती जा रही दूरी को कम करने के लिए आर्यभाषा (हिन्दी), वैदिक धर्म एवं आध्यात्मिक मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए संस्कृत, समय के साथ चलने के लिए अंग्रेज़ी व भौतिक विज्ञान तथा स्वरोजगार के योग्य बनाने के लिए तकनीकी शिक्षा प्रदान करने हेतु एक स्कूल व कॉलेज और अनुशासित दिनचर्या सिखाने के लिए छात्रावास की स्थापना इस संस्था के उद्देश्य निर्धारित किए गए थे। अत: स्पष्ट है कि कॉलेज के संस्थापक इसे ऐसी सर्वांगीण संस्था बनाना चाहते थे जहाँ संस्कृत के उच्च ज्ञान के साथ पाश्चात्य विज्ञान, शिल्प तथा अंग्रेज़ी की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध हो ताकि छात्र विश्वविद्यालय से उपाधियाँ प्राप्त कर जीविकोपार्जन सुविधापूर्वक कर सकें। यह पूर्व और पश्चिम के समन्वय का संकल्प था, जिसमें प्राचीन भारतीय ज्ञान एवं विज्ञान को पाश्चात्य शिक्षा की अपेक्षा प्रथम स्थान देना अभीष्ट था।

छात्रावास में अनुशासित दिनचर्या थी। सोने, जागने, नित्य स्नान करने, खेलने तथा पढ़ने का निर्धारित समय था। प्रात:कालीन सन्ध्या अनिवार्य थी। केवल शाकाहारी भोजन दिया जाना निश्चित हुआ था।[20]

संचालकों ने किसी समय भी कॉलेज का लक्ष्य आर्यसमाज के लिए उपदेशक तैयार करना नहीं बताया परन्तु संस्कृत की उच्च शिक्षा देना, वेद तथा वेद विद्या का पढ़ाना इसके निश्चित घोषित उद्देश्य थे। वैसे कागज़ पर लिखे उद्देश्यों और जनता के स्वप्नों में कुछ अन्तर आरम्भ से ही रहा। लाहौर का नेता वर्ग धीरे-धीरे कॉलेज को सामयिक दृष्टिकोण से देखने लगा था परन्तु गुरुदत्त तथा सामान्य आर्यजगत् उसे **कृण्वन्तो विश्वमार्यम्** का स्वप्न साकार करने का माध्यम समझते थे। जनता अपने स्वर्णिम भविष्य की कल्पना

और धार्मिक जोश में ऐसी मस्त रही कि उसने लिखित उद्देश्यों की ओर अधिक ध्यान ही नहीं दिया। दे भी कैसे? जनता से अपील तो धर्म, ऋषि दयानन्द, वेद, संस्कृत और ब्रह्मचर्यादि के नाम पर ही की जाती थी। यह समूचा धन भी एंग्लो और वैदिक के समन्वय मात्र के लिए नहीं अपितु एंग्लो पर वैदिक की प्रभुता के लिए दिया गया था। दान अधिकतया धनियों ने नहीं, साधारण जनता ने दिया था, परन्तु उसका स्वप्न स्वप्न ही रह गया।

डी.ए. वी. स्कूल का दसवीं कक्षा का परीक्षाफल 1888 ई. में प्रान्त में सर्वोत्तम रहा। इस आश्चर्यजनक सफलता से प्रभावित होकर जनता ने इसे कॉलेज बनाने की माँग की। गुरुदत्त व साईंदास ने इसका समर्थन किया। इस प्रकार कुछ लोग अविलम्ब कॉलेज खोलने के पक्ष में हो गए। परन्तु लालचन्द आदि कुछ सज्जन इस पक्ष में न थे। उनके विचारानुसार अभी समय उपयुक्त नहीं था तथा स्कूल की स्थिति को और सुदृढ़ बनाना आवश्यक था। उनकी नीति थी – धीरे चलो। फलत: परस्पर दो विचार हो गए। आर्यसमाज लाहौर का अधिवेशन कॉलेज कक्षाएँ (ग्यारहवीं तथा बारहवीं) खोलने के विषय में निर्णय करने के लिए 28 अप्रैल 1888 को बुलाया गया। उस समय पण्डित गुरुदत्त बहुत बीमार थे तो भी वह बैठक में शामिल हुए। मीटिंग में गुरुदत्त, साईंदास, लाजपतराय और हंसराज आदि कॉलेज खोलने के पक्ष में थे परन्तु लालचन्द, द्वारकादास, राय गंगाराम और मदनगोपाल विरोध कर रहे थे। संयोग देखिए कि मतदान से ठीक पूर्व मदनगोपाल उठकर चले गए और साईंदास तथा गुरुदत्त का प्रस्ताव एक मत की अधिकता से पारित हो गया। पक्ष में तेरह मत पड़े तथा बारह विपक्ष में। कॉलेज चलाने के लिए उपसभा बना दी गई, जिसमें लालचन्द और गुरुदत्त भी लिए गए। तत्काल धन संग्रहादि का कार्य उत्साहपूर्वक आरम्भ कर दिया गया। ज्वालासहाय ने पचपन रुपये मासिक तथा गुरुदत्त ने एक वर्ष के लिए दस रुपये मासिक दान लिखवाया।

पंजाब विश्वविद्यालय की सिंडीकेट ने 18 मई 1889 को एक प्रस्ताव द्वारा कॉलेज को मान्यता प्रदान कर दी। अत: कॉलेज की प्रथम वर्षीय कक्षा 1889 ई. में पहली जून से नियमित ढंग से शुरू कर दी गई।[21] गुरुदत्त गणित तथा विज्ञान अवैतनिक पढ़ाने लगे। गणित प्राध्यापक मिलने पर उन्होंने गणित पढ़ाना छोड़ दिया परन्तु विज्ञान का अध्यापन कई मास तक करते रहे।[22] पौधा धीरे-धीरे विशाल वृक्ष बनने लगा।[23]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. इन्द्र विद्यावाचस्पति 1 नवम्बर की इस सभा में गुरुदत्त तथा जीवनदास की उपस्थिति दर्शाते हैं (द्रष्टव्य: आर्यसमाज का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 152)। यह सही नहीं है क्योंकि

यदि वे दोनों अन्त्येष्टि संस्कार के तुरन्त बाद भी अजमेर से चल पड़ें तो भी 1 नवम्बर सायं तक लाहौर पहुँचना असम्भव है। उन दिनों मुंबई मेल लाहौर से दिल्ली पहुँचने में ही पूरे बीस घण्टे लेती थी (द्रष्टव्य: द ट्रिब्यून, 23 मार्च 1885)।

2. द ट्रिब्यून, (क) 3 नवम्बर 1883, (ख) 10 नवम्बर 1883, (ग) 5 जून 1886

3. महर्षि दयानन्द के जीवनकाल में ही आर्यसमाजी एक ऐसी संस्था की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे जहाँ वैदिक साहित्य और अंग्रेज़ी साथ-साथ पढ़ाई जा सकें (दि आर्य, मई 1882, पृष्ठ 43-45)। ईसाई स्कूलों में बाइबिल की पढ़ाई पर अधिक जोर दिए जाने के कारण वे एक ऐसे राष्ट्रीय स्कूल के पक्षधर थे जो पूर्णतया भारतीयों द्वारा संचालित हो और जहाँ अपने धर्म की शिक्षा दी जाए। दसवीं तक के एक ऐसे स्कूल का खर्चा तब चार सौ रुपये मासिक आंका गया था (दि आर्य, जून 1882, पृष्ठ 65-67)। एक मिशन स्कूल की पूरी कक्षा के सभी सताइस विद्यार्थी ईसाई बनाए जा रहे थे, अत: ''आर्यसमाज का विचार एक ऐसे एंग्लो-आर्यन स्कूल स्थापित करने का है, जिस में अंग्रेज़ी और संस्कृत की पढ़ाई होगी। फ़ारसी भाषा या तो बिलकुल भी नहीं पढ़ाई जाएगी या उसकी शिक्षा नाम मात्र की होगी'' (द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, 3 सितम्बर 1883, पृष्ठ 3)। इसका नाम एंग्लो आर्यन हो या एंग्लो वैदिक — यह अभी तय नहीं हुआ था।

4. जवाहरसिंह ने शीघ्र ही त्यागपत्र दे दिया। तब 15 दिसम्बर 1883 को अच्छरूराम को अस्थायी मन्त्री और फिर मदनसिंह को पहले अस्थायी तथा 19 दिसम्बर 1884 को स्थायी मन्त्री बनाया गया (द्रष्टव्य : प्रथम पच्चीस वर्षों (1886-1911) में दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलेज के विकास की लालचन्द द्वारा 15 अप्रैल 1911 को प्रस्तुत रिपोर्ट)।

5. इस जनसभा की सही तिथि 8 नवम्बर है, न कि 9 नवम्बर (द्रष्टव्य: द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, 12 नवम्बर 1883, पृष्ठ 5; द ट्रिब्यून, 10 नवम्बर 1883)।

6. हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, आर्यसमाज का इतिहास, पृष्ठ 55

7. जनसभाओं में तब जो दान मिलता रहा, उसका सही मूल्यांकन करने के लिए रुपये का वर्तमान मूल्य जानना आवश्यक है। पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के एक अर्थशास्त्री के अनुसार उपभोक्ता मूल्य सूचकांक के आधार पर उस समय का एक रुपया 1998 के 75-80 रुपये के बराबर है।

8. लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 27; यह अपील अंग्रेज़ी तथा उर्दू में प्रकाशित की गई थी। यहाँ उद्धृत अंश उसका उर्दू से हिन्दी में किया गया रूपान्तर है।

9. ड्रॉफ्ट स्कीम फ़ॉर दि प्रपोज्ड दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलेज, विद्या प्रकाशक प्रेस, लाहौर

10. लाला लाजपतराय ने भी 1921 में डी.ए.वी. आन्दोलन का यही उद्देश्य बताया था (द्रष्टव्य: स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज की मौजूदा हालत, पृष्ठ 19-20)।

11. साईंदास के सुपुत्र सुन्दरदास का विवाह लालचन्द की सुपुत्री ईश्वरकौर से हुआ था।

सुन्दरदास साईंदास एंग्लो-संस्कृत स्कूल जालन्धर के संस्थापक मुख्याध्यापक थे।

12. हंसराज का यह पत्र आर्यसमाज की अन्तरंग सभा में 3 नवम्बर 1885 को रखा गया।। फिर उन्होंने अपनी यह पेशकश आर्यसमाज लाहौर के आठवें वार्षिकोत्सव में 28 फरवरी 1886 रविवार प्रातः स्वयं घोषित की (द्रष्टव्यः आर्य समाचार, चैत्र संवत् 1943 वि.)।

13. आर्य पत्रिका, 7 सितम्बर 1886, पृष्ठ 7

14. आर्यसमाज पेशावर 1880 में स्थापित हुई थी। पण्डित लेखराम 1880-87 तक इस समाज में बहुत सक्रिय थे। वे पहले इसके मन्त्री तथा फिर 1886 में प्रधान बने।

15. आर्य पत्रिका, 4 मई 1886, पृष्ठ 3-4; 25 मई 1886, पृष्ठ 4-5

16. मास्टर दुर्गाप्रसाद सिद्धान्त-प्रेमी आर्यसमाजी थे। विरजानन्द प्रेस, लाहौर ने उनके स्वामित्व में बहुत साहित्य प्रकाशित किया, विशेषकर शाकाहार पर। दुर्गाप्रसाद ने 'गोकरुणानिधि' का अनुवाद अंग्रेज़ी में 'ओशॅन ऑफ़ मॅरसि' शीर्षक से किया था।

17. द्रष्टव्य : प्रथम पच्चीस वर्षों (1886-1911) में दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलेज के विकास की लालचन्द द्वारा 15 अप्रैल 1911 को प्रस्तुत रिपोर्ट

18. वही, तुलना, महात्मा हंसराज द्वारा 1921 में लाला लाजपतराय को लिखा पत्र (द्रष्टव्यः खुशहालचन्द, महात्मा हंसराज, पृष्ठ 107); लाजपतराय लगातार चौदह वर्ष (1892-1906 ई.) कमेटी के मन्त्री या उपप्रधान रहे, यथा- 1892-95, 1900-1901, 1902-03 तक मन्त्री और 1895-1900, 1901-1902, 1903-1906 तक उपप्रधान। हसंराज जून 1886 में मुख्याध्यापक, 1889 में कॉलेज के प्राचार्य, 1888-1890 तक कॉलेज कमेटी में सहायक मन्त्री और 1913-1919 तक प्रधान रहे।

19. आर्य पत्रिका 24 अगस्त 1886, पृष्ठ 5-6 पर उद्देश्य 1क में हिन्दी साहित्य शब्द है, न कि हिन्दू साहित्य। लाजपतराय की 'दि आर्यसमाज' नामक पुस्तक में पृष्ठ 186 पर हिन्दू साहित्य छपा है, जो नितान्त अशुद्ध है।

20. द्रष्टव्यः छात्रावास के 21 मार्च 1887 तथा 1 फरवरी 1888 ई. को प्रकाशित नियम

21. प्रथम वर्षीय अनियमित कक्षाएँ 1 जून 1888 से शुरू कर दी गई थीं। तब दिल्ली सहित पंजाब में गवर्नमेन्ट कॉलेज लाहौर, सेन्ट स्टीफन कॉलेज दिल्ली तथा क्रिश्चयन कॉलेज लाहौर ही तीन कॉलेज थे, जिनकी स्थापना क्रमशः 1864, 1882 तथा 1886 में हुई थी।

22. तब पंजाब प्रान्त में विज्ञान के पठन-पाठन का अधिक प्रचलन नहीं था परन्तु डी.ए.वी. कॉलेज में 1888 से ही विज्ञान की पढ़ाई की व्यवस्था कर दी गई थी।

23. कालान्तर में बी.ए., एम.ए. (संस्कृत), इञ्जीनियरिंग तथा सिलाई विभाग, बढ़ईगिरी और आयुर्वेदिक कक्षाएँ क्रमशः 1893, 1895, 1895, 1896-97 तथा 1901 में शुरू की गईं। इस प्रकार एक दशक में ही आर्यसमाज मन्दिर में शुरू किया गया यह स्कूल स्नातकोत्तर कॉलेज बन गया।

कार्यक्षेत्र में (1)

गुरुदत्त एक सक्रिय विद्यार्थी थे। चाहे 1881-82 का हिन्दी-उर्दू विवाद था, चाहे 1883 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की गिरफ़्तारी, उन्होंने प्रत्येक आन्दोलन में पूरी रुचि ली। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की गिरफ़्तारी के विरुद्ध 26 मई 1883 सायं को छह सौ से अधिक छात्रों ने ट्रिब्यून परिसर में एक सफल सभा की। इसमें गुरुदत्त का भाषण सर्वाधिक प्रभावोत्पादक था। ट्रिब्यून ने लिखा था कि गुरुदत्त ने ''एक अत्युत्तम भाषण दिया और कहा कि इस दु:ख भरे देदीप्यमान अवसर पर मेरे प्रसन्नता और दु:ख के मिश्रित भाव हैं। दु:ख इसलिए कि हमें एक बन्दी सम्पादक के लिए आँसू बहाने पड़ रहे हैं और देदीप्यमान इसलिए कि आज सभी साथी विद्यार्थी एक सांझे ध्येय के लिए एकत्र हुए हैं तथा ऐसे बीज बोए गए हैं जिनसे सामाजिक एवं नैतिक स्वाधीनता का फल प्राप्त होगा। उन्होंने कहा कि जब भावना और तर्क में टकराव हो तो निर्णय लेना कठिन हो जाता है।''[1]

ऋषि दयानन्द सरस्वती के देहावसान पर जब जालन्धर में शिवनारायण वकील के कमरे में शोकसभा करने का विचार बना तो आर्यसमाज लाहौर से वक्ता मांगे गए। एतदर्थ गुरुदत्त और हंसराज को जालन्धर भेजा गया। महात्मा मुन्शीराम अपने साथियों सहित उनके स्वागतार्थ स्टेशन पर पहुँचे। छोटी आयु के साधारण-से दुबले-पतले दो विद्यार्थियों को देखकर सब सोचने लगे कि आर्यसमाज लाहौर ने यह क्या मज़ाक किया! ये क्या भाषण देंगे प्रबुद्ध लोगों के समक्ष! परन्तु जब हंसराज तथा गुरुदत्त ने क्रमश: उर्दू तथा अंग्रेज़ी में ऋषिवर का गुणगान किया तो सब विस्मित रह गए। कोई भी वकील उनके धन्यवाद में कुछ बोलने का साहस न कर सका। आखिर देवीचन्द्र वकील ने दो-चार शब्दों में औपचारिकता निभाई।

ऋषि दयानन्द के निर्वाणोपरान्त गुरुदत्त पूरा वर्ष कॉलेज सम्बन्धी गतिविधियों में व्यस्त रहे। वे चाहे कई वर्षों से सार्वजनिक कार्यों में रुचि ले रहे थे; लेख लिखते रहे थे; भाषण भी दे रहे थे परन्तु अभी बड़ी सार्वजनिक सभाओं में अंग्रेज़ी में भाषण देना आरम्भ नहीं किया था। आर्यसमाज लाहौर के सप्तम् वार्षिकोत्सव पर 30 नवम्बर 1884 रात को उनका अंग्रेज़ी में पहला भाषण हुआ। उनसे पहले मदनसिंह ने 'आर्यसमाज के वर्तमान, भूत और भविष्य' पर भाषण दिया। फिर गुरुदत्त ने अपने भाषण में मदनसिंह के

विचारों का अनुमोदन किया। 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' के अनुसार उनकी वक्तृता अत्यधिक भावपूर्ण थी जिसका श्रोताओं पर बहुत प्रभाव पड़ा।[2] 'दि आर्य' मैगज़ीन के सम्पादक ने इस भाषण पर टिप्पणी देते हुए लिखा था, ''यद्यपि उनके व्याख्यान के संकेत और शब्द अत्यन्त कठिन थे तो भी भाषण बहुत लाभदायक तथा उत्तम था और श्रोताओं ने उसे अत्यधिक प्रशंसा के साथ सुना।''[3] इस भाषण से पठित जनता पर उनकी विद्वत्ता की अच्छी छाप लगी।

गुरुदत्त 1883-84 में बहुत व्यस्त रहे। कॉलेज जाने के लिए समय भी न जाने कैसे निकलता रहा। तो भी जब मई 1885 में बी.ए. की परीक्षा हुई, वे पंजाब विश्वविद्यालय में प्रथम रहे।[4] उनके मित्र हंसराज को तीसरा स्थान प्राप्त करने का गौरव मिला। गुरुदत्त ने एम.ए. में प्रवेश ले लिया परन्तु हंसराज ने आगे पढ़ाई बंद कर दी।

डी.ए.वी. कॉलेज आन्दोलन की सफलता के लिए एक पत्रिका की आवश्यकता थी। इसीलिए आर्यसमाज लाहौर ने 20 जून 1885 को अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'आर्य पत्रिका' आरम्भ की।[5] उसमें प्राय: गुरुदत्त के लेख छपते रहते थे।

धीरे-धीरे आर्यसमाजों की संख्या बढ़ती जा रही थी। अत: वेद प्रचार के कार्य को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए एक शिरोमणि सभा की स्थापना की आवश्यकता अनुभव होने लगी।[6] एतदर्थ पंजाब के आर्यों ने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब स्थापित करने का निश्चय किया। सभा के नियमों तथा प्रतिनिधियों के चुनाव आदि विषयों पर आर्यसमाजों में कई महीने विचार-विमर्श होता रहा। गुरुदत्त ने इस कार्य में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। उनकी रुचि का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि एक बार उन्होंने अपनी डायरी में लिखा– ''अमृतसर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव निकट आ रहा है। वहाँ पर उन्होंने समाजों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विचार-विमर्श करना तय कर रखा है। देखिए, प्रतिभा एवं योग्यता को प्राथमिकता मिलती है या धन तथा संख्या को? ... की चौकड़ी मेरी राय की सर्वथा अपेक्षा करती है। मैं अमृतसर में एक प्रतिनिधि के रूप में भेजा जा रहा हूँ। वह योजना वहाँ प्रस्तुत करनी है। हमें तुरन्त वास्तविक तथा सत्कार्य करने के लिए उद्यत रहना चाहिए। लाहौर में या अन्यत्र भी सिवाय लाला साईंदास के हमारी राय का समर्थन करने वाला कोई नहीं है।''

आर्यसमाज अमृतसर[7] का यह उत्सव 17 तथा 18 अक्तूबर 1885

को था। इस अवसर पर पंजाब की बीस तथा उत्तरप्रदेश की पाँच प्रमुख आर्यसमाजों के प्रतिनिधि एकत्रित हुए और आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की स्थापना पर विचार किया गया। पहली रात विचार-विमर्श के पश्चात् कुछ संशोधनों के साथ नियमों का प्रारूप पारित हुआ। यह भी तय हुआ कि आर्यसमाज लाहौर इन्हें सभी समाजों को भेजे ताकि जो अनुपस्थित हैं, उनकी भी राय ली जा सके।[8क] अगले वर्ष 4 तथा 5 अक्तूबर 1886 को लाहौर में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की स्थापना कर दी गई[8ख] और साईंदास प्रथम प्रधान, मदनसिंह मन्त्री तथा जीवनदास कोषाध्यक्ष निर्वाचित हुए।

अमृतसर उत्सव पर गुरुदत्त ने निम्नलिखित मन्त्र की व्याख्या की:

वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ ऋ. 1.1.2.1

भाषण में प्रमाण तथा युक्तियाँ इतनी प्रबल थीं कि जनता पर यह प्रकट हो गया कि वास्तव में ही वेद सब सत्य विद्याओं का भण्डार है। गुरुदत्त ने अपनी ओजस्वी एवं अधिकारपूर्ण वाणी में वेद-विरोधियों को ललकारा कि वे वेद में एक भी अनावश्यक, असत्य एवं सारहीन बात दिखाएँ अन्यथा बिना स्वाध्याय किए वेद विषय में मिथ्या धारणाएँ फैलाना अत्यन्त अशोभनीय है। उन्होंने यह भी कहा कि जो लोग वेद को सारहीन मानते हैं उन्हें भी वेद के स्वाध्याय एवं प्रचार में गहरी रुचि लेनी चाहिए क्योंकि वेद के प्रति श्रद्धा और विश्वास समाप्त करने का यही एक ढंग है। इस भाषण का जनता पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा और उनकी अपील पर डी.ए.वी. कॉलेज के लिए दस सहस्र रुपये चन्दा लिखा दिया गया। आर्य पत्रिका (31 अक्तूबर 1885) में इस भाषण की बहुत प्रशंसा की गई।

गुरुदत्त ने 31 अक्तूबर तथा 1 नवम्बर 1885 को आर्यसमाज रावलपिण्डी के वार्षिकोत्सव में भाग लिया। श्रोता उन द्वारा आर्यसमाज और वेद विषय पर दिए मधुर भाषण से ऐसे मन्त्र मुग्ध हुए कि सभा स्थल पर ही कॉलेज के लिए सोलह सौ रुपये एकत्र हो गए तथा आर्यसमाज के बीस नए सदस्य बन गए।

आर्यसमाज लाहौर का आठवां वार्षिकोत्सव 27 तथा 28 फरवरी 1886 को मनाना तय हुआ था।[8ग] इस अवसर पर पहली रात आठ से साढ़े नौ बजे तक गुरुदत्त विद्यार्थी का भाषण हुआ। उन्होंने प्राचीन भारत में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की चर्चा की और आर्यसमाज की स्थापना के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा – ''आर्यसमाज इस देश में कार्यरत देशज शक्तियों से

उत्पन्न हुआ था। इसके प्रादुर्भाव का कारण कोई विदेशी तत्त्व नहीं था। इसके संस्थापक एक ऐसे व्यक्ति थे जो अंग्रेज़ी का एक शब्द भी नहीं जानते थे। उन्होंने समस्त कार्य संस्कृत की सहायता से किया। अत: यह स्पष्ट है कि यह संगठन एक राष्ट्रीय आन्दोलन है, अन्तत: यह समाज लोगों द्वारा प्यार की जाएगी और प्रशंसित होगी।'' तालियों की गड़गड़ाहट में भाषण समाप्त हुआ। भाषण की सराहना करते हुए आर्य पत्रिका ने लिखा –''गुरुदत्त आर्यसमाज के एक सर्वाधिक लब्ध प्रतिष्ठित सदस्य हैं और वास्तव में उन सर्वोत्तम रत्नों में से एक हैं जो एकदम समाज का भूषण हैं और समाज जिस पर गर्व कर सकता है। इस अवसर पर उनका भाषण पूर्ण सफल था।''[8घ]

28 फरवरी रविवार प्रात: ट्रिब्यून के सम्पादक यदुनाथ मजूमदार के भाषण के पश्चात् पण्डित गुरुदत्त ने अपने प्रवचन में बताया कि भौतिक विज्ञान में उन्नत यूरोप आध्यात्मिक ज्ञान में पिछड़ा हुआ है परन्तु भारतीय शास्त्रों एवं वेदों में आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ विज्ञान के सिद्धान्त भी वर्णित हैं। अत: सभी लोगों को दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल की स्थापना में सहयोग देना चाहिए। फिर लाला हंसराज ने ऋषि दयानन्द के यज्ञमय जीवन की चर्चा करते हुए उनकी स्मृति में स्थापित होने वाले स्कूल की अवैतनिक सेवा करने के अपने संकल्प की सार्वजनिक घोषणा की।[9]

आर्यसमाज के प्रचार को गति देने के लिए लाहौर समाज में आर्य डिबेटिंग क्लॅब 15 मार्च 1886 सोमवार को स्थापित की गई। गुरुदत्त मन्त्री और भक्तराम सहायक मन्त्री नियुक्त हुए। इसकी तीसरी साप्ताहिक बैठक में 29 मार्च सायं को गुरुदत्त ने अपना लेख पढ़ा।[8ङ]

गुरुदत्त आर्यसमाज तथा कॉलेज के कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहे। एम.ए. की पुस्तकें पढ़ने के लिए न तो उनके पास समय था और न ही ऐसा करने की प्रबल इच्छा। जब दूसरे विद्यार्थी सांसारिक उन्नति की चिन्ता करते हुए पढ़ने में संलग्न थे, तब वैरागी गुरुदत्त अपने महान् गुरु की स्मृति को चिरस्थायी बनाने में व्यस्त था। प्रतिदिन घर में मिलने आने वाले सज्जनों के साथ धार्मिक वार्तालाप करने में ही काफी समय चला जाता था। इस पर भी मार्च 1886 में विज्ञान (नैचरॅल साइंस) की एम.ए. परीक्षा में पंजाब विश्वविद्यालय में प्रथम आए तथा रिकार्ड स्थापित किया।[10] यह उनकी अद्भुत स्मरणशक्ति, मेधा बुद्धि, अपरिमित ज्ञान व ईशकृपा का ही परिणाम समझना चाहिए। वैसे तो विद्यार्थी जीवन में भी वे सामाजिक कार्य करते रहे परन्तु एम.ए. कर लेने के बाद उन्होंने अपने आपको पूर्णतया सार्वजनिक कार्यों

तथा शास्त्राध्ययन के लिए अर्पित कर दिया।

24 तथा 25 अप्रैल 1886 को आर्यसमाज पेशावर का उत्सव था। पण्डित लेखराम आर्यपथिक उस वर्ष इस समाज के प्रधान थे। वे स्वयं उत्सव में उपस्थित रहे। गुरुदत्त ने उत्सव पर भाषण दिए और डी.ए.वी. कॉलेज के लिए छब्बीस सौ रुपये चन्दा एकत्र किया। यहाँ गुरुदत्त और पण्डित मनीराम (संस्कृत अध्यापक, डी.ए.वी. स्कूल) का पौराणिक पण्डितों से श्राद्ध और मूर्तिपूजा पर वाद-विवाद भी हुआ जिसका श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव पड़ा। वापसी पर दोनों रावलपिण्डी, जेहलम और गुजरांवाला की समाजों में होते हुए आए।[8च] बागवानपुरा तथा फिरोज़पुर आदि के उत्सवों में गए, प्रभावशाली भाषण दिए तथा कॉलेज के लिए धन संग्रह किया।

इस वर्ष (1886) यह निश्चित हुआ था कि ग्रीष्मावकाश में गुरुदत्त एक शिष्ट मण्डल के साथ संयुक्त प्रान्त व अवध (वर्तमान उत्तरप्रदेश) जाकर कॉलेज के लिए धन संग्रह करेंगे। दुर्भाग्यवश लाला रामकृष्ण उन छुट्टियों में बहुत बीमार हो गए। सेवा-शुश्रूषा के लिए गुरुदत्त का वृद्ध पिता के पास ठहरना अत्यावश्यक था। अत: वे शिष्टमण्डल के साथ जाने में असमर्थ थे। इस कारण उन्हें जो मानसिक कष्ट हुआ, वह 10 जुलाई 1886 को लाजपतराय के नाम लिखे निम्नलिखित पत्र में स्पष्ट झलकता है:

''मेरे पिता जी मुजफ्फरगढ़ में बहुत निर्बल और रोगग्रस्त हैं। उनकी इच्छा है कि मैं उनके साथ रहूँ। अब लाहौर में केवल एक अस्थायी पद पर नियुक्त हूँ। उनके यहाँ आने पर अनावश्यक व्यय बढ़ जाएगा। इसके अतिरिक्त उनके यहाँ आने से मैं लाहौर से न हिल सकूँगा। इस प्रकार सामाजिक एवं अन्य कार्यों के लिए जाने का मेरा संकल्प पूरा न हो पाएगा। पिता जी तथा देश के प्रति कर्त्तव्यों में परस्पर द्वन्द्व है। मन किंकर्त्तव्य विमूढ़ है। प्रत्येक छुट्टी में मुलतान जाता हूँ और लौट आता हूँ।''

पत्र का एक-एक शब्द गुरुदत्त की मानसिक वेदना की कहानी कह रहा है। ऋषि का कार्य भी नहीं छोड़ा जाता और पितृभक्त इस अवस्था में पिता को छोड़कर जाने में भी असमर्थ है। फिर पिता जी को छोड़े भी किसके सहारे? वही तो एक उसके बुढ़ापे की लाठी है। उधर मुलतान में पिता जी को आराम नहीं आ रहा अत: चिकित्सा के लिए लाहौर लाने का विचार बन रहा है। फिर तो प्रचारार्थ जाना और भी कठिन हो जाएगा। बस, इसीलिए इतने दुखी हैं जैसे मीन बिन नीर तड़प रही हो। गुरुदत्त को कॉलेज प्राणों से प्यारा है। यह उसके गुरु, नहीं नहीं जीवनदाता, मानस-पिता की

स्मृति है। उसके अपने मस्तिष्क की कल्पना, हृदय की श्रद्धा का केन्द्रबिन्दु, हाथों की निर्मित मूर्ति, तीन-चार वर्ष की सतत साधना का फल है। गुरुदत्त कॉलेज है और कॉलेज गुरुदत्त। जब कॉलेज के द्वारा ऋषि के अरमानों के पूरा होने का स्वप्न देखते हैं तो मस्ती में झूम उठते हैं। आज कॉलेज रूपी यह यज्ञ हवि माँग रहा है। क्या यज्ञ की अग्नि प्रज्चलित रखने के लिए गुरुदत्त रूपी समिधा मात्र की आवश्यकता है? नहीं, नहीं। बात इतनी-सी होती तो गुरुदत्त कब से **'इदन्न मम'** कहकर आहुति दे देते। उन्हें निज प्राणों का नहीं, अति प्रिय देवता-तुल्य पिता के प्राणों का मोह सता रहा है। पितृ-ऋण भी तो महान् ऋण है। उसे न उतारना भी महापाप है। यही विचार हाथों की कर्मण्यता छीन लेता है। पाँव को जकड़कर खड़ा कर देता है। कितने ही दिन यही मन:स्थिति चलती रही।

22 जुलाई को लाहौर से लाजपतराय के नाम दूसरे पत्र में फिर लिखा:

''गुरुदत्त विद्यार्थी को यह जानकर खेद है कि वह मुजफ्फरगढ़ नहीं छोड़ सकता और सम्भवत: उसे अपना पूरा ग्रीष्मावकाश वहीं गुजारना पड़ेगा। वह प्रचार के लिए बाहर जाने में पूर्णतया असमर्थ है। पिता जी सख्त बीमार हैं तथा वह प्रत्येक क्षण मुझे अवश्य अपने पास रखना चाहते हैं। मैं जानता हूँ कि मुझे उन्हें प्रसन्न करने के लिए क्या-क्या करना होगा। कहिए, आप क्या सलाह देते हैं? ... लाजपतराय, क्या तुम राष्ट्रीय कार्य में सहयोग देने की कोई अधिक स्थायी योजना नहीं सोच सकते? तुम हिसार या रोहतक में रह कर क्या कर रहे हो? जीवन उस ढंग से व्यतीत करने योग्य नहीं है, जिस प्रकार इसे तुम गुज़ारते हुए प्रतीत होते हो। क्या वहाँ तुम्हारे आनन्द के लिए कोई घनिष्ठ मित्र है? (यदि ऐसा है तो प्रसन्न और आनन्दित रहो।) क्या तुम्हें वहाँ अपने देश को उन्नत बनाने की कोई आशा बन पड़ती नज़र आती है? क्या तुम्हें अपनी आन्तरिक प्रकृति के निर्देशों का पालन करने, अपनी क्षमताओं और योग्यताओं को निखारने, अपनी उस अद्‌भुत वक्तृत्वकला को जो अब निम्न स्तर की अशक्त वाणी बन गई है, पूर्व सदृश बनाने की कोई सम्भावना है? मैं तुम्हारी परिस्थिति को भली प्रकार विचार करता और सोचता हूँ। यदि सम्भव हो तो देश और जाति की उन्नति के विषय में सोचो।... मान एक विचित्र प्रेरणा है। पर ऐ मेरे प्रिय मित्र! मान के पीछे मत मरो। जितने मान के तुम अधिकारी हो, उससे अधिक मान पाने का यत्न किए बिना अपने देश की ठोस सेवा करो। चुपचाप काम करते चलो। इसका फल तुम्हें भावी पीढ़ी

के हृदय में प्रतिष्ठा के रूप में मिलेगा। वर्तमान पीढ़ी ऐसी नहीं है कि जिससे तुम्हें मान-मन्दिर में प्रवेश पाने का वर माँगना चाहिए। उस व्यक्ति पर बहुत खेद है जो व्यर्थ में कीर्ति का इच्छुक बनकर इस देवी के पीछे भागता है।''

यह पत्र स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। जिस निष्काम कर्म का उपदेश गीता में दिया गया है, वही भाव गुरुदत्त ने व्यक्त किए हैं। विशेष महत्त्व इस बात का है कि गुरुदत्त का यह उपदेश केवल दूसरों के लिए नहीं है अपितु यह उसके जीवन का आधारभूत सिद्धान्त है। उसकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं है। उसने स्वयं सदैव मान को विष और अपमान को अमृत समझा है। गुरुदत्त की नस-नस में देश-धर्म का प्यार भरा पड़ा है। सोते-जागते, उठते-बैठते उसे एक ही चिन्ता है। पिता जी भयंकर रोग से ग्रस्त हैं, परन्तु उसे इस समय भी देश प्रेम सता रहा है। लाजपतराय के साथ सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। औपचारिकता का स्थान आत्मीयता ने ले रखा है। इसीलिए वह लालाजी को देश सेवा के विस्तृत क्षेत्र में कूदने के लिए प्रेरित ही नहीं अपितु विवश कर रहे हैं। वस्तुत: लाजपतराय को लाजपतराय बनाने में पण्डित गुरुदत्त का काफी हाथ है। लाजपतराय ने अपनी आत्मकथा में स्वयं स्वीकार किया है कि उनके विचार पण्डित गुरुदत्त के प्रभाव में आकर ही राष्ट्रवादी बने।

लाला रामकृष्ण इतने बीमार हो गए कि गुरुदत्त को उनके बचने की आशा न रही। इसलिए वह मुजफ्फरगढ़ (जिला डेरा गाजीखाँ) रहकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करते रहे। उनमें अपने पिता के प्रति इतनी भक्ति भावना थी कि दवाई भी स्वयं पिलाते थे। प्रभु कृपा से साधना फलीभूत हुई। रामकृष्ण नीरोग हो गए परन्तु तब तक अवकाश भी समाप्त हो चुका था। बस, उन दिनों में आर्यसमाज की सेवा न कर पाने का खेद गुरुदत्त को लगा ही रहा।

गुरुदत्त इस वर्ष (1886) फिर आर्यसमाज अमृतसर के उत्सव पर पधारे। यह नवम वार्षिकोत्सव था। 8 अक्तूबर प्रात: अग्निहोत्र के पश्चात् इलाहाबाद के डॉक्टर गंगादीन का हवन से सम्बन्धित व्याख्यान हुआ। उन्होंने वैज्ञानिक आधार पर बताया कि होम स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के लिए अत्योपयोगी है और जब तक इस प्राचीन विधि का प्रचलन रहा तब तक हैजा और मलेरिया आदि बुखार शायद ही कभी सुने गए हों। तत्पश्चात् गुरुदत्त ने अपने संक्षिप्त भाषण में वेद-मन्त्रों के आधार पर डॉक्टर महोदय के कथन की पुष्टि की।[48] अगले दिन दोपहर बाद लाजपतराय के बाद गुरुदत्त का कॉलेज विषयक व्याख्यान इतना प्रभावोत्पादक रहा कि जनता को विश्वास

हो गया कि संस्कृत तथा विज्ञान के अध्ययन के लिए कॉलेज अत्यावश्यक है। व्याख्यान के अन्त में उन्होंने अपनी ओर से एक सौ रुपये दान दिए। फिर बराबर दान आता गया।[11] परिणामस्वरूप उनकी अपील पर स्वर्ण की दो अंगूठियाँ, चाँदी का एक चन्द्रमा व छह अनन्त, नौ सौ आठ रुपये चार आने नकद तथा दो सौ पच्चीस रुपये उधार प्राप्त हुए। इस भाषण ने उनकी योग्यता की धाक बाँध दी। आर्यों के तो वे हृदय सम्राट् ही बन गए। **जनता ने प्रतिभा व विद्वत्ता से प्रभावित हो कर उन्हें 'पण्डित' के आदरसूचक शब्द से विभूषित किया।** यह ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था की प्रथम तथा महान् विजय थी। होनहार शिष्य ने गुरुदेव की पवित्र कल्पना को मूर्त रूप दे दिया। फिर भी सादगी, सरलता व निरभिमानता का यह हाल था कि समूचा आर्यजगत् तो गुरुदत्त को उनके अपरिमित ज्ञान के कारण पण्डित गुरुदत्त कहता रहा[12] परन्तु वे अपने आप को 'विद्यार्थी' ही मानते रहे।

अमृतसर के पश्चात् 27 तथा 28 नवम्बर को आर्यसमाज लाहौर का नवम वार्षिकोत्सव था। इसमें आर्यसमाज, जालन्धर के प्रधान महात्मा मुन्शीराम तथा भक्त अमीचन्द भी पधारे। उत्सव में लाजपतराय ने कॉलेज के लिए अपील की। उन्होंने महर्षि के कार्यों की प्रशंसा करते हुए कहा, ''केवल इसीलिए देशवासियों को कॉलेज की सहायता नहीं करनी चाहिए कि वे स्वामी जी के सेवामय उपकारों के बोझ से दबे हुए हैं परन्तु इसलिए भी कि इस समय सदाचार और धर्म की शिक्षा का नितान्त अभाव है।'' पण्डित गुरुदत्त का एक व्याख्यान हिन्दी में 'दयानन्द कॉलेज' विषय पर हुआ। उन्होंने कहा, ''ऋषि दयानन्द इस संसार में केवल परोपकार के लिए जीये। स्वामी जी ने आत्म-बलिदान का अत्योत्तम अनुकरणीय उदाहरण स्थापित किया है। देश की बलिवेदी पर आत्म-बलिदान के बिना कोई महान् उपलब्धि सम्भव नहीं है। डी.ए.वी. आन्दोलन किन्हीं भद्र पुरुषों के त्याग से कुछ बन पाया है।'' अन्त में इस आन्दोलन की सफलता के लिए बहुत प्रभावोत्पादक अपील की। आर्यसमाज अमृतसर के सदस्य वंशीलाल इस व्याख्यान से इतने प्रभावित हुए कि तुरन्त कीमती स्वर्ण कंगन, कान की बालियाँ तथा अंगूठियाँ दान दे दीं। फिर तो आभूषणों और नगदी की वर्षा आरम्भ हो गई। फलतः लगभग छह सहस्र रुपये नकद, एक सहस्र रुपये की प्रतिज्ञाएँ और कोई चार सौ रुपये के आभूषण प्राप्त हुए। प्रत्यक्षदर्शी ईसाई विद्वान् प्रोफेसर ओमन को भी इस व्याख्यान को ''भारतीय सज्जन का एंग्लो-वैदिक कॉलेज पर उर्दू में एक अत्युत्तम भाषण'' लिखना

पड़ा। जिस तरह धन बरसा, उससे ओमन बहुत विस्मित हुए।[13] महात्मा मुन्शीराम उनके भाषण से इतने प्रभावित हुए कि अगले दिन उन्हें मिलने गए। दोनों में परस्पर प्रेम बढ़ने लगा। धीरे-धीरे मुन्शीराम को यह अनुभव हुआ कि "यही एक आत्मा है जिसके साथ उनके आत्मिक भाव ऐक्य को प्राप्त हो सकते हैं।"[14] रात को गुरुदत्त का आर्यसमाज पर अंग्रेज़ी में भाषण हुआ, तब चाँदी का एक आभूषण, कानों की दो स्वर्ण बालियाँ, इक्यावन रुपये बारह आने और छात्रावास के लिए अठारह बर्तन प्राप्त हुए।

इस वर्ष आर्यसमाज गुजरांवाला के उत्सव पर उनका भाषण बहुत प्रभावोत्पादक रहा। एक सज्जन ने कॉलेज के लिए एक सौ रुपये दान लिखवाया था परन्तु वह भाषण से इतना प्रभावित हुआ कि तुरन्त यह राशि एक सौ रुपये से बढ़ाकर एक हजार रुपये करने की घोषणा कर दी। सभा में उपस्थित एक किसान के पास देने के लिए कुछ न था। केवल थोड़ा-सा मक्खन था। उसने वही दान कर दिया। चार पाँच आने के इस मक्खन की वहीं नीलामी हुई और यह सात रुपये में बिका। एक ब्राह्मण ने दान देने के लिए अपनी जाकेट की जेबें टटोली, सभी जेबें खाली थीं। तब उसने जोश में आकर अपनी जाकेट ही कॉलेज को दान कर दी।[15] इतना प्रभाव पड़ता था जनता पर गुरुदत्त की धर्म धुन तथा भाषण का।

गुरुदत्त की सेहत खराब चल रही थी। कई बार गले के अन्दर से माँस उतरने लगता (कौआ गिरना) था। लाहौर के उत्सव से अगले दिन भी यही हालत रही परन्तु प्रभुभक्त सांसारिक बाधाओं से घबराने वाला नहीं था। जब तक शरीर में प्राण रहे, वे अबाध गति से चलते रहे।

इस वर्ष (1886) दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में पण्डित गुरुदत्त, साईंदास, लाजपतराय, मदनसिंह व शिवदत्तराम अमृतसरी एक शिष्टमण्डल बनाकर डी.ए.वी. कॉलेज के लिए धन संग्रहार्थ दिल्ली पहुँचे। वहाँ दिल्ली नगरपालिका के सदस्य गिरधारीलाल वकील के निवास स्थान पर पण्डित जी के दो भाषण हुए। कॉलेज के लिए दिल्ली से पर्याप्त धन भी मिला। एक दिन शिष्टमण्डल के सभी सदस्य दिल्ली के प्राचीन ऐतिहासिक स्थान देखने चले गए। पृथ्वीराज के किले को देखकर पण्डित जी को अपने पूर्वजों का गौरव याद हो आया। तब सहसा गहरी साँस ली और आह भरी। पूर्वजों के अनन्य उपासक पण्डित गुरुदत्त से वर्तमान दशा देखी न गई। इसके पश्चात् कुतुब मीनार तथा हुमायुँ का मकबरा भी देखने गए।

गुरुदत्त शिष्टमण्डल के साथ मेरठ पहुँचे। आर्यसमाज मेरठ का

उत्सव 20 से 27 दिसम्बर 1886 तक मनाया जा रहा था। 28 तथा 29 दिसम्बर को प्रस्तावित संयुक्त प्रान्तीय सभा के लिए बैठकें और धर्म प्रचार चलता रहा। इस अवसर पर पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध की अड़तालीस आर्यसमाजों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। मुन्शी लक्ष्मणस्वरूप प्रधान आर्यसमाज की प्रार्थना पर गुरुदत्त ने अपने साथियों सहित उस बैठक में भाग लिया जिसमें इस प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के नियम बनाए जाने थे। बहुत विचार-विमर्श हुआ पर नियमों को अन्तिम रूप न दिया जा सका। यहाँ नियमों का जो ढाँचा बन पाया वह आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के नियमों से कुछ भिन्न था। निश्चय हुआ कि प्रस्तावित नियम छपवाकर आर्यसमाजों में भेज दिए जाएँ और अगले अधिवेशन में अन्तिम निर्णय किया जाए। कार्य चलाने के लिए 29 दिसम्बर को आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त[16] की स्थापना भी कर दी गई। मेरठ उत्सव पर गुरुदत्त ने अपने जादुई भाषण में देश की धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक अवस्था की चर्चा की और कॉलेज की स्थापना की आवश्यकता दर्शाई। भाषण से प्रभावित होकर सभा स्थल पर लगभग चार हजार रुपये एकत्र हुए।[17]

गुरुदत्त 27 दिसम्बर को मेरठ से जालन्धर पहुँच गए। इन दिनों (26, 27 दिसम्बर 1886) जालन्धर का आर्यसमाज अपना प्रथम वार्षिकोत्सव मना रहा था। पौराणिकों से यह सहा न गया। उन्होंने इससे पन्द्रह-बीस दिन पूर्व 'धर्मसभा' बनाकर उसका प्रथम वार्षिकोत्सव भी इन्हीं तिथियों में रख दिया। आर्यसमाज के उत्सव को असफल बनाने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगाया गया। लोगों के घर जा-जाकर भी उन्हें उत्सव में जाने से रोका गया। आर्यसमाज की बड़ी निन्दा की गई, परन्तु मेघ सूर्य को ढक न सके। भारी संख्या में धर्मप्रेमियों ने भाग लिया। गुरुदत्त के डी.ए. वी. कॉलेज विषयक भाषण ने जनता को मन्त्रमुग्ध कर दिया। उन्हें एक आदर्श प्रचारक, उद्भट विद्वान् तथा कुशल वक्ता के रूप में असाधारण ख्याति प्राप्त हुई। वे आर्यजनता की श्रद्धा का एक मात्र केंद्र बन गए। परिणामस्वरूप कॉलेज के लिए उन्नीस सौ रुपये प्राप्त हुए। महात्मा मुन्शीराम ने गुरुदत्त के विशाल ज्ञान और इस धारणा से कि ऋषिकृत ग्रन्थों की नई आवृत्ति पर सदा नए विचार मिलते हैं, प्रेरित होकर ऋषिकृत ग्रन्थों का गहन अध्ययन आरम्भ कर दिया।

31 जनवरी 1887 को पण्डित जी ने गुजरांवाला में भाषण दिया। यह व्याख्यान यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र से आरम्भ किया।[18] पण्डित जी ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा, ''जो लोग शास्त्र की

बात नहीं मानते वे आत्मघाती हैं। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की महिमा गाई गई है। आज की बुराइयों का मूल कारण बाल-विवाह है। अज्ञानता, निर्बलता तथा कुटिलता इसी के परिणाम हैं।'' ब्रह्मचर्य पालन पर बल देते हुए उन्होंने बताया – ''मेरी युवा आँखे भी ऋषि दयानन्द की दृष्टि का मुकाबला नहीं कर सकती थीं। अन्तिम समय में भी उनके शरीर में रक्त का प्रवाह पूरे वेग से हो रहा था। आज ब्रह्मचर्य के बिना जीवन दु:खमय हो रहे हैं। जब तक हम वेद-शास्त्रों का सहारा नहीं लेंगे, तब तक ब्रह्मचर्य तथा धर्म के दूसरे अंगों का पालन करना असम्भव है। डी.ए. वी. कॉलेज से देश को बड़ा लाभ होगा क्योंकि उसमें शास्त्रों और धर्म का ज्ञान करवाया जाएगा।''[19क] वाणी में जादू तो था ही। बस, उनकी अपील पर उसी समय कॉलेज के लिए एक सहस्र रुपये नकद तथा दो सहस्र रुपये के वचन प्राप्त हो गए। इस उत्सव पर हंसराज तथा द्वारकादास के भाषण भी हुए।

9 मार्च 1887 को आर्यसमाज लाहौर में होली पर्व मनाया गया। इसमें श्री गुरु सिंह सभा और कायस्थ सभा ने भी भाग लिया। हंसराज ने वेद मन्त्र द्वारा प्रार्थना करवाई। गुरुदत्त ने अपने संक्षिप्त भाषण में उस मन्त्र की व्याख्या की और कहा, ''मनुष्य जाति को अपने छोटे-छोटे भेदभाव भुलाकर परस्पर परिवार की तरह रहना चाहिए – यही सुख का मार्ग है।'' साथ ही श्री गुरु सिंह सभा और कायस्थ सभा का धन्यवाद किया।[19ख]

27 मार्च 1887 को जेहलम में डी.ए.वी. कॉलेज के लिए अपील करते हुए 'वेद ईश्वरीय ज्ञान है' विषय पर भाषण दिया और बताया कि वेदों की शिक्षा भारत के लिए अत्यावश्यक है। यहाँ लगभग एक हजार रुपये नकद तथा एक हजार रुपये की प्रतिज्ञाएँ प्राप्त हुईं। इस भाषण के पश्चात् आर्य पत्रिका ने पण्डित जी का नाम रख दिया – **डी.ए.वी. कॉलेज आन्दोलन के लिए उत्सवों पर हमारे प्रसिद्ध वक्ता**।[19ग]

सारा वर्ष अधिक कार्य करने के कारण गुरुदत्त का स्वास्थ्य बिगड़ गया। अपनी पञ्जिका में उन्होंने 28 जनवरी 1886 को लिखा, ''अतिसार रोग से ग्रस्त हूँ।'' इस व्याधि ने लगभग सारा वर्ष पीछा नहीं छोड़ा। फरवरी में जिगर में दर्द हो गया। अगस्त में बाईं भुजा टूट गई। और भी न जाने कितने रोग साथ लगे रहे। वज्र समान दृढ़ शरीर कार्यभार के कारण धीरे-धीरे टूट रहा था।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. द ट्रिब्यून, 2 जून 1883
2. द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, 8 दिसम्बर 1884, पृष्ठ 3

3. दि आर्य, जनवरी 1885

4. गुरुदत्त, नरेन्द्रनाथ, हंसराज, निहालचन्द तथा चेतनानन्द क्रमशः पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें स्थान पर रहे। परीक्षाफल में नाम गुरुदत विद्यार्थी लिखा है (द्रष्टव्यः द ट्रिब्यून, 20 जून 1885)।

5. आर्य पत्रिका प्रति शनिवार प्रकाशित होती थी। यह 2 फरवरी 1886 तक विद्या प्रकाशक प्रेस, लाहौर में छपी, फिर प्रति मंगलवार ट्रिब्यून प्रेस, लाहौर में छपती रही।

6. इस आशय का प्रस्ताव परोपकारिणी सभा ने भी ऋषि दयानन्द के देहावसान के पश्चात् अपनी पहली बैठक में 28 दिसम्बर 1883 को पारित किया था (द्रष्टव्यः द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, 11 फरवरी 1884, पृष्ठ 2-4; गुलराजगोपाल गुप्त, परोपकारिणी सभा के अधिवेशनों का रिपोर्ट संग्रह 1883-1926, पृष्ठ 4)। आर्यसमाज मुंबई के उपप्रधान सेवकलाल कृष्णदास ने सितम्बर 1884 में प्रस्ताव किया था कि सम्पूर्ण भारत का एक प्रधान समाज बनाया जाए। मुंबई में निर्मित आर्यसमाज के नियमों में तीसरा नियम ही यह था – ''इस समाज में प्रति देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।''

7. आर्यसमाज अमृतसर की स्थापना ऋषि दयानन्द ने मियां मोहम्मद जान की कोठी पर 12 अगस्त 1877 रविवार को की थी। इसे आजकल आर्यसमाज लोहगढ़ कहते हैं।

8. आर्य पत्रिका, (क) 31अक्तूबर 1885, पृष्ठ 2, (ख) 19 अक्तूबर 1886, पृष्ठ 5, (ग) 9 जनवरी 1886, पृष्ठ 7, (घ) 9 मार्च 1886, पृष्ठ 4, (ङ) 30 मार्च 1886, पृष्ठ 4, (च) 11 मई 1886, पृष्ठ 4, (छ) 12 अक्तूबर 1886, पृष्ठ 1

9. आर्य समाचार (मेरठ), चैत्र सम्वत् 1943 वि.

10. उन दिनों कम छात्र ही एम.ए. करते थे। इस वर्ष गुरुदत्त तथा नरेन्द्रनाथ ने क्रमशः नैचरॅल साइंस तथा फ़िलासफ़ी में एम.ए. किया था (द ट्रिब्यून, 15 मई 1886)। तब विज्ञान विषयों से स्नातक एवं स्नातकोत्तर परीक्षाएँ पास करने पर ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की प्रथानुसार क्रमशः बी.ए. तथा एम.ए. की उपाधि दी जाती थी, न कि बी.एस-सी. एवं एम. एस-सी. की। उन दिनों एम.ए. एक वर्ष की थी।

11. भारत सुदशा प्रवर्तक, नवम्बर 1886, पृष्ठ 11; आर्य पत्रिका, 12 अक्तूबर 1886, पृष्ठ 2

12. **यूँ तो गुरुदत्त को उनकी योग्यता के कारण 1882 ई. में भी पण्डित कहकर पुकारते थे (द्रष्टव्य : दि आर्य, अगस्त 1882, पृष्ठ 109), परन्तु अब उन्हें सब पण्डित मानने लग गए थे।** उनके देहावसान पर विभिन्न भाषाओं एवं विचारधाराओं के देश भर में छपे उपलब्ध छब्बीस समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख निहालचन्द भण्डारी ने अपनी पुस्तक 'उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद अर्थात् पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम.ए. और उनकी बेवक्त मौत' (पृष्ठ 211-83, 296, 297) में संग्रहीत किए हैं। इनमें से तेइस

लेखों में उन्हें पण्डित के सम्मानसूचक शब्द से याद किया गया है। उन्हें पण्डित मानने वालों में सर सैय्यद अहमद खां, मिशन कॉलेज दिल्ली के प्रिंसिपल रेवरेण्ड आलनट, मिशन कॉलेज लाहौर के प्रिंसिपल रेवरेण्ड जे.सी.आर. ईविंग तथा देवसमाज के संस्थापक बावा अग्निहोत्री भी सम्मिलित हैं। और तो और, अरोड़ बंस सभा, लाहौर ने अपनी पंचायत में 23 मार्च 1890 को पारित शोक प्रस्ताव में अपने ''वंश में कुलदीपक'' गुरुदत्त के लिए पण्डित शब्द का प्रयोग किया है। उन्हें लाला लिखने वालों में मुख्य अख़बार-ए-आम (उर्दू) का सम्पादक गोपीनाथ था जो सनातन धर्म सभा पंजाब का अगुवा था। जन्म जाति के मिथ्याभिमानी पण्डित गोपीनाथ का मानना था — ''पण्डित का शब्द हमारी बपौती है। यह किसी अन्य ज़ात के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता।'' इस पर साप्ताहिक आर्य गज़ट ने 15 मई 1890 को सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा था, ''रस्सी जल गई परन्तु बट (बल) न गया।'' उन्नीसवीं सदी में गुण कर्म के आधार पर किसी को पण्डित मानना बहुत बड़ी बात थी अन्यथा उस समय पंजाब में खत्रियों को आदर से लाला कहा जाता था। गोपीनाथ के विषय में अधिक जानकारी हेतु द्रष्टव्य: इन्द्र विद्यावाचस्पति, आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 256-57

13. जे.सी. ओमन, कॅल्ट्स कॅसटॅम्स एन्ड स्यूपॅस्टिशॅन्स ऑफ़ इण्डिया, पृष्ठ 166
14. श्रद्धानन्द स्वामी, कल्याण मार्ग का पथिक, पृष्ठ 106
15. निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद, पृष्ठ 71-2
16. वर्तमान उत्तर प्रदेश को 1902-47 तक आगरा तथा अवध के संयुक्त प्रान्त तथा 1902 से पूर्व उत्तर पश्चिमी प्रान्त तथा अवध नाम से जाना जाता था।
17. आर्य समाचार, माघ सम्वत् 1943, पृष्ठ 315; आर्य पत्रिका, 11 जनवरी 1886
18. मन्त्र इस प्रकार है :

    असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
    ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।

19. आर्य पत्रिका, (क) 1 मार्च 1887, पृष्ठ 5, (ख) 15 मार्च 1887, पृष्ठ 2, (ग) 12 अप्रैल 1887, पृष्ठ 6

आजीविका की समस्या

जब गुरुदत्त ने एम.ए. कर ली तो जीविकोपार्जन की समस्या सामने आई। वैसे भी पिताजी वृद्ध थे। सेवा-निवृत्त हो चुके थे। उन्हें केवल सामान्य पेन्शन मिलती थी। आय का और कोई साधन था नहीं। जीवन निर्वाहार्थ धन की आवश्यकता थी ही। उसके बिना जीवन रथ चले तो कैसे? यदि पण्डित जी चाहते तो कोई अच्छी सरकारी नौकरी मिल सकती थी। उन जैसे प्रतिभाशाली एवं योग्य व्यक्ति थे ही कितने? परन्तु सच्चे आर्य को ऐसा व्यवसाय चाहिए था जो उसके जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक न हो, जिससे आत्मोन्नति में बाधा न पड़े, आत्मा स्वतन्त्र रहे। उनका लक्ष्य महान् था। साधारण लोगों की तरह खा-पीकर जीवन व्यतीत करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। यही कारण है कि उन्मुक्त नभ में विहार करने वाला पक्षी धन की कैंची से अपने पर काट लेना नहीं चाहता था। इसीलिए वकील, डॉक्टर, इन्जीनियर, न्यायाधीश, प्रशासक, व्यापारी आदि बनने पर विचार किया पर कोई व्यवसाय उन्हें जँचा नहीं।

इस समस्या ने उन्हें विद्यार्थी-काल से ही उलझाए रखा। कभी सन्तोषजनक समाधान न हो पाया। मस्तिष्क में पर्याप्त उथल-पुथल मची रही। इस कारण वे एक भार अनुभव करते रहे। उनकी मन:स्थिति की झलक लाजपतराय के नाम लिखे पत्रों से मिलती है :

''लाहौर

13 जनवरी 1886

इस अपेक्षा में मेरी आशाएँ, स्पष्ट-अस्पष्ट सी, चंचल लपटों की भाँति अस्थिर हो उठी हैं। नहीं, नहीं, नहीं, कोई राय बहादुर या खान बहादुर आइसिस[1] की प्रतिमा को ढांपने वाले परदे को उठाने का कभी भी साहस नहीं कर सकता। जीवन की सर्वरोगनाशक औषधि को पाने के लिए मरुस्थल में बहुत दूर निकल जाने जैसा प्रयास करना होता है। ... मैं विशेष दुखी नहीं हूँ, प्रसन्न भी नहीं; अपितु ऐसी मन:स्थिति में हूँ जो संघर्षरत है ... ऐसा आत्मसंघर्ष, जहाँ हर वस्तु अस्पष्ट व धुँधली लगती है। इसलिए मेरी उपेक्षा का इससे अधिक कुछ अर्थ न लेना कि बेचारा गुरुदत्त विद्यार्थी अपने आत्मसंघर्ष में उस प्यार को देना भूल बैठता है जिसके भागीदार और हैं।

सदा की भाँति तुम्हारा,

गुरुदत्त विद्यार्थी''

दूसरा पत्र 24 जनवरी 1886 को लिखा गया, जो निम्नलिखित था :

''मेरे प्रिय लाजपतराय,

मैं तुम्हारे कृपा-पत्रों को प्राप्त कर प्रसन्न हुआ, बहुत प्रसन्न हुआ। मैं हृदय से तुम्हारी उन कामनाओं के लिए आभारी हूँ, जो तुमने मुझे दी हैं, यद्यपि मेरे विचार में मैं उस योग्य नहीं हूँ। पंजाब में एक विचारक नेता होना संघर्ष करने योग्य एक उच्च पद है जिसे स्वप्नों के अतिरिक्त कभी सिद्ध हुआ नहीं सोचा। ...

मेरे प्रिय लाजपतराय, मुझे पता है कि अब तक ऐसे बहुत कम लोग हुए हैं जो ... व्यावसायिक संसार में प्रवेश करके उसमें से सुरक्षित निकल पाए हैं। मैं जानता हूँ कि जब वे विद्यार्थी थे तब उन्होंने अपने देश के पुनरुत्थान के लिए बहुत सी योजनाएँ व उपाय सोचे परन्तु जब उनका सामना संसार की, व्यावसायिक संसार की कठोर सच्चाइयों से हुआ तो धन के लोभ ने उन्हें जकड़ लिया। उनकी आशाएँ दम तोड़ गईं। उनके व्यावसायिक स्वभाव ने उन्हें देश के उत्थान व पतन के प्रति भी निष्ठुर और जड़ बना दिया। उनके साथ भी ऐसा ही होता रहा है जिन्होंने कानून को व्यवसाय बनाया है, उनके साथ भी जिन्होंने न्यायालय सम्बन्धी पद पाया है और उनके साथ भी जो डॉक्टर बने हैं। वे थोड़े से भी जिन्होंने शिक्षा विभाग में प्रवेश लिया है, रूपान्तरित हो गए हैं। सम्भवतः व्यवसाय के मृदुतर प्रभाव में कठिनाइयों का सामना करने वाली उस भावना को बनाए रखना कठिन है, ... जो विद्यार्थी जीवन का अभिन्न अंग है। मैं जानता हूँ कि एक बार एक ... विद्यार्थी था जो मौलिकता से अधिक मौलिक तथा उत्साह से अधिक उत्साही था। वह मेधा बुद्धि तथा अपने देश का आराधक था परन्तु यद्यपि वह औरों से अच्छा रहा, उसमें भी वह सजीव चिंगारी नहीं रही। वह एक राष्ट्रीय योगी की तरह रह सकता है। मैं एक स्नातक को जानता हूँ जिसमें कार्लाइल के क्रामवैल[2] ने उत्साह की अग्नि भरी थी। उसने इतिहास की आराधना की। परन्तु संसार एक भिन्न दृश्य प्रस्तुत करता है जहाँ पुस्तकों तथा इतिहास का स्थान ताश तथा शतरंज ने और व्याख्यान का स्थान भोज तथा सलाम ने ले लिया है। मेरा एक अन्य व्यक्ति से परिचय है जिसने प्रोमथिस[3] की भाँति देवलोक से अग्नि चुराई प्रतीत होती है परन्तु वह भी संसार के जल सागर में गिर शीघ्र बुझ गई।...

आर्यावर्त, तूने अपने कुलीन रक्त के वंश को खो दिया। प्रिय महाशय, ये हैं हमारे पूर्व दृष्टान्त जो उस चेतावनी के सूचक हैं जिससे हमें जूझना है।

क्या मैं ... के अथवा उन जैसे किसी और के परामर्श पर चल सकता हूँ? नहीं, ऐसा करना मुझे गहरे अपराध तथा पाप में डुबो देगा। शियो अभी क्षेत्र में नहीं है। वह आँख का कांटा है। उससे मुझे कोई आशा नहीं। क्या विधि उसका परित्याग कर देगी जब उसे उसकी सर्वाधिक आवश्यकता है? तुम वहाँ हरियाणा में बैठे कानूनी-उन्माद के प्रभाव में रेत के ढेले बनाने में व्यस्त हो। मैं तुम्हें दोष नहीं देता। मैं जानता हूँ कि परिस्थितियाँ यही कुछ करने देंगी। परिस्थितियों का कौन दास नहीं? यह आत्मा जो स्वतन्त्र होने के लिए संघर्षरत है, अभी भी बन्धन में है। फिर भी एक आशा है। संकल्प भी इतनी विपरीत परिस्थितियों में क्या कर सकता है? तो भी संकल्प से क्या नहीं हो सकता?

पथ पाने की आशा में, गहन अन्धकार में भटकता हुआ,
सदैव सस्नेह तुम्हारा,
गुरुदत्त विद्यार्थी''

पत्रों में उन्होंने अपने हृदय की भावनाओं को खोलकर व्यक्त किया है। नौकरी केवल निर्वाहार्थ है। प्रमुख कार्य तो आत्मिक उन्नति तथा जनसेवा है। इसीलिए असमंजस में हैं कि कौन-सा व्यवसाय चुनें। वह अन्धेरे में छलांग लगाने के लिए तैयार नहीं क्योंकि उनके जीवन का एक निश्चित ध्येय है परन्तु आजीविका की समस्या भी भयानक रूप धारण किए हुए है। इस कारण चिन्तित हैं। यह उनकी दैनिक पंजिका[4] के निम्नलिखित उद्धरणों से भी स्पष्ट है :

''डॉक्टर ... कहते हैं कि एक योग्य व्यक्ति सदा नौकरी प्राप्त कर सकता है, यदि वह अवसर पाने तक दृढ़ रहे। उन्होंने यह भी कहा कि जीवन में अनिश्चित रहने का कोई लाभ नहीं।'' (8 जनवरी 1886)

''ओमन महोदय[5] मुझसे पूछते हैं कि क्या मैं कॉलेज में लैक्चरर बनने के लिए उद्यत हूँ।'' (9 जनवरी 1886)

''पुराना प्रश्न पुनः स्पष्ट रूप से मेरे मस्तिष्क में आया, अरे! तुम्हें इन सभी भावनाओं को अवश्य मारना चाहिए और जीवित रहना चाहिए।'' (2 फरवरी 1886)

''मैंने नौकरी के लिए निदेशक को प्रार्थनापत्र भेज दिया है।'' (24 फरवरी 1886)

''कठिनाई का युग आरम्भ होता दीख पड़ता है। मेरे पिता जी मुझसे मिलने के इच्छुक हैं। मेरी नौकरी के बारे में कुछ भी निश्चित नहीं हुआ।

बी.डी. मुझे पिता जी से मिलने को कहते हैं। उन्हें भेंट करने के लिए मैं एक सौ रुपये चाहता हूँ। कैसे प्रबन्ध करूँ?''[6] (6 जून 1886)

बहुत सोच-विचार के पश्चात् पण्डित जी ने अध्यापन कार्य स्वीकार कर लिया और 1886 के पूर्वार्द्ध में राजकीय कॉलेज, लाहौर में विज्ञान के सहायक प्रोफेसर नियुक्त हो गए। उन्होंने इस कार्य को अत्युत्तम रीति से निभाया। उन दिनों आयुर्वेद पढ़ने की रुचि पैदा हो गई। बस, अल्पकाल में ही अच्छी योग्यता अर्जित कर ली। पण्डित जी की आर्ष चिकित्सा पद्धति में बहुत आस्था थी। वे भारतीयों के लिए यूरोपीय औषधियों की अपेक्षा भारतीय औषधियों को अधिक लाभदायक मानते थे।

सहायक प्रोफेसर तो लग गए परन्तु राही ने अभी मंज़िल को नहीं पाया। भविष्य अभी भी निश्चित नहीं हुआ। अत: दैनिक पंजिका में लिखते हैं:

''मैं लाहौर में ... से मिला। वह मुझ से मेरे भविष्य के बारे में पूछते हैं। मुझे किसी दृढ़ निश्चय पर स्थिर होना चाहिए।'' (18 जनवरी 1887)

''मुझे ज्ञात हुआ कि कॉलेज में उस पद के लिए मेरी संस्तुति हो गई है।''[7] (1 फरवरी 1887)

''मैं ... के पास जाता हूँ। वह मुझे बताते हैं कि जब एक व्यक्ति धर्म का मार्ग ग्रहण कर लेता है फिर उसकी और परीक्षाएँ नहीं होतीं, परन्तु उससे पूर्व होती रहती हैं।'' (9 फरवरी 1887)

बस, मानसिक अशान्ति बनी हुई है। हाँ, यह निश्चित है कि पण्डित जी ने अध्यापन कार्य को अन्य व्यवसायों से उत्तम समझा। यह उन्हें आत्मिक उन्नति में बाधक दिखाई नहीं दिया, अन्यथा वह इसे भी स्वीकार न करते।

अभी व्यवसाय की खोज चल रही है। पण्डित जी ने 12 फरवरी 1887 को पंजिका में लिखा – ''विश्वविद्यालय सेनेट ने मुझसे पूछा है कि यदि वह अतिरिक्त सहायक कमिश्नर पद की परीक्षा के लिए मेरी सिफारिश करे, तो क्या मैं सहमत हूँ? क्या उत्तर दूँ?'' उस समय यह बहुत बड़ा पद समझा जाता था। इससे अधिक विदेशी शासक तब भारतीय प्रजा को और देता भी क्या था? इस परीक्षा में केवल तथाकथित उच्च घरानों या सरकारी कर्मचारियों के बच्चे तथा पंजाब विश्वविद्यालय की सेनेट द्वारा समर्थित प्रत्याशी ही बैठ सकते थे। प्रत्येक व्यक्ति यह परीक्षा नहीं दे सकता था। पंजाब विश्वविद्यालय ने विशेष योग्यता के कारण गुरुदत्त की सिफारिश कर ही दी परन्तु उस पवित्रात्मा ने सोचा कि कहीं यह राजपथ उन्हें गन्तव्य स्थान से दूर

ले जाकर खड़ा न कर दे! इसलिए दुविधा में पड़ गए। अन्यथा यह पद उनके लिए सांसारिक सुख व उन्नति का द्वार खोल देता। उस समय उसका वेतनमान 250-800 रुपये मासिक था। इस पद के लिए जिलाधीश ने पण्डित जी को बुलाया। इस प्रसंग में 15 जून 1887 को पंजिका में लिखते हैं – "मैं जिलाधीश के पास उनके निमन्त्रण के अनुसार गया। निश्चय ही कोई भी व्यक्ति निज अन्तस् तथा संसार को ठेस पहुँचाए बिना उस महान् प्रभु द्वारा निर्धारित अपने प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं कर पाता।"

गुरुदत्त की यह दृढ़ धारणा थी कि उस समय के कानून समानता और न्याय पर आधारित नहीं थे। अत: अतिरिक्त सहायक कमिश्नर बनकर अधिकाधिक लोगों का अधिकाधिक हित करना सम्भव नहीं था। इसलिए उन्हें यह पेशकश स्वीकार करने में कठिनाई अनुभव हो रही थी।

12 अक्तूबर 1887 को लाहौर के जिलाधीश ने पण्डित जी को इस परीक्षा का फार्म भरने के लिए पुन: अपने कार्यालय में बुलाया। वे गए तो सही, परन्तु इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। धन, सम्पदा एवं ऐश्वर्य ने आकर दरवाजा खटखटाया। भोले बादशाह ने द्वार खोलने की अपेक्षा अन्दर से साँकल ही लगा ली। सांसारिक सुख ने परछाईं की भाँति प्रभु भक्त का पीछा किया परन्तु उसे छू नहीं पाया। माया ने उसे जाल में फँसाना चाहा परन्तु वह कहाँ फँसने वाला था?

1887 के आरम्भ में प्रोफेसर ओमन अवकाश पर चले गए। पण्डित जी को विशेष योग्यता के कारण उनके स्थान पर 12 अप्रैल से विज्ञान का अस्थायी सीनियर प्रोफेसर नियुक्त कर दिया गया। उन दिनों एक योग्यतम भारतीय के लिए भी विश्वविद्यालय अथवा कॅन्स्टिट्युअॅन्ट (अंग) कॉलेज में विज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त होना आसान नहीं था। अंग्रेज़ किसी भारतीय को इतना गौरव एवं महत्त्वपूर्ण पद सम्भालने के योग्य नहीं मानता था परन्तु यह गौरव भी ऋषि दयानन्द सरस्वती के परम शिष्य गुरुदत्त को ही प्राप्त हुआ कि वे राजकीय कॉलेज में 1886 में सहायक प्रोफेसर और अगले वर्ष सीनियर प्रोफेसर नियुक्त हुए और वह भी विज्ञान के। इससे पूर्व केवल जगदीशचन्द्र बोस 1885 में प्रेज़िडॅन्सी कॉलेज, कोलकाता में फिजिक्स के सहायक प्रोफेसर नियुक्त हुए थे।[8] प्रसिद्ध वैज्ञानिक आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय (1861-1944) कई वर्ष बाद 1889 में प्रेज़िडॅन्सी कॉलेज में अस्थायी सहायक प्रोफेसर लगे थे। तब तक कुछ भारतीयों ने सहायक प्रोफेसर के रूप में गवर्नमेन्ट कॉलेज, लाहौर में पदभार सम्भाल लिया था। उन दिनों चारों

विश्वविद्यालयों में कैमिस्ट्री अथवा फिजीक्स का स्वतन्त्र विभाग नहीं था। गवर्नमेन्ट कॉलेज, लाहौर तत्कालीन पंजाब विश्वविद्यालय का कॅन्स्टिट्युअॅन्ट कॉलेज था। अत: तब इस कॉलेज में विज्ञान के सीनियर प्रोफेसर का पद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर तुल्य था। **गुरुदत्त देशभर में विज्ञान के सीनियर प्रोफेसर नियुक्त होने वाले प्रथम भारतीय थे।** प्रोफेसर ओमन के सेवा-निवृत्त होने पर1896-97 में गवर्नमेन्ट कॉलेज, लाहौर का विज्ञान प्रोफेसर का पद(जिस पर दो वर्ष गुरुदत्त ने कार्य किया) भारतीय शिक्षा सेवा में शामिल कर दिया गया था।[9] अत: यदि पण्डित गुरुदत्त केवल विज्ञान के क्षेत्र में ही कार्य करते रहते तो न जाने किन ऊँचाइयों को छूने में सफल होते।

उन्होंने बड़े उत्तम ढंग से अध्यापन कार्य किया। परिणामस्वरूप 1887-88 में सारे विद्यार्थी उत्तीर्ण हो गए। एक विद्यार्थी तो इतना कमज़ोर था कि पण्डित जी को भी उसके उत्तीर्ण होने की आशा नहीं थी। वह भी सफल हो गया।[10] इससे उनकी ख्याति सागर के गहरे पानी की तरह फैलती चली गई।

अध्यापन करते हुए भी आर्थिक कठिनाई बनी रही। वे दुनियावी नहीं थे, न ही उनमें अर्थलिप्सा थी। उनका ध्येय था आर्षग्रन्थों के ज्ञान का प्रचार, ईश्वर भक्ति एवं जन सेवा। यही उनकी पंजिका से झलकता है:

''रुपये पैसे के मामले में काफी परेशानी है।'' (24 जनवरी 1888)

''हे परमात्मा, अपने इस दास को ऐसे बोध की प्रेरणा कर जिससे वह अपनी आत्मा और विश्व को पवित्र और उत्तम संस्कार दे सके।''
(11 मई 1888)

पण्डित गुरुदत्त निवृति मार्ग के पथिक थे। अत: अध्यापन कार्य से भी उनकी विशेष सन्तुष्टि न हुई क्योंकि इससे उनके निजी स्वाध्याय, प्रचार कार्य एवं योगसाधना के लिए कम समय बच पाता था। अप्रैल 1889 में प्रोफेसर ओमन का अवकाश समाप्त हो गया और वे वापिस कॉलेज आ गए। अत: पण्डित जी इस कार्य-भार से मुक्त हो गए। यदि वे चाहते तो सहायक प्रोफेसर के रूप में कार्य कर सकते थे। उनके लिए यह स्थान सुरक्षित था। आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण मित्रों ने काफी आग्रह किया कि पण्डित जी कॉलेज में पढ़ाते रहें परन्तु वे न माने। उनका एक ही उत्तर था – ''मैं नौकरी के लिए धार्मिक कार्यों की हानि सहन नहीं कर सकता।'' पण्डित जी अब पूरी शक्ति से ऋषि के मिशन की पूर्ति में जुट जाना चाहते थे। अत: उन्होंने वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने का निश्चय कर

लिया। परन्तु उनके पीछे परिवार का भार वहन करने वाला कोई नहीं था। इसलिए परिवार के सदस्यों के प्रबल आग्रह के कारण उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी परन्तु अब इस जीवनमुक्त महात्मा ने अपना सारा समय दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज के लिए धन संग्रह, आर्षग्रन्थों के अनुशीलन, पठन-पाठन, धर्म प्रचार तथा वैदिक मैगज़ीन के सम्पादन में लगा दिया। उन्होंने जुलाई 1889 में वैदिक मैगज़ीन आरम्भ की और धार्मिक पत्रकारिता से ही निर्वाह करना चाहा।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. आइसिस मिस्र देश की देवी है।
2. ब्रिटिश युद्ध नायक क्रामवैल का जीवन-चरित थामस कार्लाइल ने लिखा था।
3. मिस्र की मिथ कथा का नायक
4. पण्डित गुरुदत्त पञ्जिका (डायरी) लिखने में भी नियमित नहीं थे। पण्डित जी अपनी पञ्जिकाएँ रामभजदत्त को दे गए थे। उन्हीं पञ्जिकाओं से लाला लाजपतराय ने गुरुदत्त जीवन-चरित लिखते समय लाभ उठाया था। इस पुस्तक में ऐसे सभी उद्धरण लाला जी की इस पुस्तक से लिए गए हैं।
5. प्रोफेसर जे.सी. ओमन राजकीय कॉलेज, लाहौर में विज्ञान के सीनियर प्रोफेसर थे तथा गुरुदत्त उन दिनों इसी कॉलेज में एम.ए. के छात्र थे।
6. इतनी आर्थिक कठिनाई के बावजूद वे कॉलेज के लिए लगातार दान देते रहे।
7. राजकीय कॉलेज लाहौर में विज्ञान के सीनियर प्रोफेसर के पद हेतु
8. सन् 1858 में जन्मे (डॉक्टर) जगदीशचन्द्र बोस गुरुदत्त से आयु में छह वर्ष बड़े थे और लंदन विश्वविद्यालय से बी.एस-सी. करके सहायक प्रोफेसर बने थे। उन्हें यूरोपीय प्रोफेसर के वेतन का केवल एक-तिहाई वेतन मिलता था। वैसे भारतीयों को विदेशियों के वेतन का दो-तिहाई वेतन मिला करता था परन्तु डॉक्टर बोस अस्थायी पद पर थे अत: वेतन उसका भी आधा कर दिया गया था (इण्डियन सांइटिस्ट्स, जी.ए. नातेसन एन्ड कम्पनी, पृष्ठ 64-5)।
9. 1918 तक केवल तीन भारतीय डॉक्टर जगदीशचन्द्र बोस (विज्ञान), डॉक्टर डी. एन. मुल्लक (गणित) तथा एक ईसाई (अंग्रेज़ी) ही भारतीय शिक्षा सर्विस में थे। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय भी केवल प्रान्तीय सेवा में ही रहे।
10. लाला लाजपतराय द्वारा लिखित गुरुदत्त विद्यार्थी के अंग्रेज़ी जीवन-चरित (पृष्ठ 44) में लिखा है कि एक विद्यार्थी फ़ेल हुआ जबकि उर्दू जीवन चरित्र पृष्ठ 86 में लिखा है कि सभी पास हो गए। निहालचन्द भण्डारी के अनुसार भी सभी विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए थे (उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद, पृष्ठ 53)।

रामकृष्ण का त्याग

लाला रामकृष्ण पैंसठ वर्ष के हो गए हैं। वृद्ध शरीर है। बीमारी जब देखती है, दबोच लेती है। फरवरी 1887 में फिर रुग्ण हो गए। यह समाचार मिलते ही गुरुदत्त उनकी सेवा के लिए लाहौर से मुलतान चले गए। उनकी निजी योजनाएँ धरी रह गईं।[1] कुछ दिन वहाँ ठहरे। वापिस पहुँचने पर पंजिका में लिखा :

The purpose of today
Woven with pain into plan
Tomorrow rends away. Alas !!![2]

गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी सितम्बर-अक्तूबर में डी.ए.वी. कॉलेज के लिए धन संग्रहार्थ एक शिष्टमण्डल ने संयुक्त प्रान्त एवं अवध जाना था। दुर्भाग्यवश ठीक समय पर लाला रामकृष्ण पुनः रोगग्रस्त हो गए। इस बार स्थिति अधिक चिन्ताजनक थी। सेवा के लिए पण्डित जी का घर पर रहना अनिवार्य हो गया। एक तो पिता जी की बीमारी, दूसरे धार्मिक कार्यों में बाधा – इस कारण गुरुदत्त बहुत उदास रहने लगे परन्तु किसी से कुछ भी नहीं कहा। कहते भी किसे? पितृभक्त युवक मृत्यु-शैय्या पर पड़े पिता से कुछ कहने की तो कल्पना भी नहीं कर सकता था। किसी अन्य व्यक्ति को कहकर बनता भी क्या? नियन्ता तो कोई और है परन्तु लाला जी पुत्र की चिन्ता भाँप गए। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि गुरुदत्त ने कॉलेज के लिए बाहर जाना है तो निज प्राणों का मोह त्याग तथा अपने जीवन को खतरे में डालकर गुरुदत्त को देश और धर्म के पवित्र कार्य के लिए शिष्टमण्डल के साथ जाने की सहर्ष अनुमति दे दी।

जुलाई तथा अगस्त में गुरुदत्त पिताजी के पास सेवा के लिए मुलतान आते-जाते रहे। फिर धर्ममूर्ति पिता के आदेशानुसार पण्डित जी 2 सितम्बर, 1887 को लालचन्द, मदनसिंह और रईस ज्वालासहाय के साथ लाहौर से चल पड़े।[3] रास्ते में द्वारकादास भी शिष्टमण्डल में सम्मिलित हो गए। शिष्टमण्डल 4 सितम्बर प्रातः दिल्ली पहुँचा। वहाँ लाजपतराय भी साथ मिल गए। पण्डित जी पिताजी की बीमारी के कारण चिन्तित थे। गुरुदत्त पितृभक्ति में श्रवण समान थे। वैसे उसे ऋषि का कार्य बहुत प्रिय था। इसके लिए वे घर से चले भी आए परन्तु पिता की मूर्ति क्षण भर के लिए भी आँखों से

ओझल न हो पाई। उनका चित्त उद्विग्न रहा। न जाने लौटने पर पिता के दर्शन हो भी सकेंगे या नहीं — यह चिन्ता घुन की तरह खाए जा रही थी। इसीलिए प्राय: तार द्वारा कुशलक्षेम पूछते रहे।

लाला लाजपतराय अस्वस्थ थे, अत: दिल्ली से आगे न जा सके। शिष्टमण्डल समयाभाव के कारण मथुरा न रुक पाया और 7 सितम्बर को अलीगढ़ पहुँच गया। वहाँ गुरुदत्त ने डी.ए. वी. कॉलेज के उद्देश्यों तथा वेद एवं संस्कृत के अध्ययन के महत्त्व पर प्रकाश डाला। फिर 11 सितम्बर को मुरादाबाद पहुँच गए। वहाँ विभिन्न स्कूलों के छात्रों ने बहुत रुचि दिखाई। उनके आग्रह पर मिशन स्कूल के हाल में गुरुदत्त का वेद और विज्ञान पर एक विशेष व्याख्यान हुआ। शिष्टमण्डल 14 सितम्बर को बरेली, 17 सितम्बर को लखनऊ और फिर बनारस पहुँचा।[4] द्वारकादास लखनऊ से वापिस हो गए। बाकी सज्जन कानपुर, फर्रुखाबाद और इलाहाबाद भी गए। विभिन्न स्थानों पर पण्डित गुरुदत्त तथा द्वारकादास आदि के प्रवचन होते रहे परन्तु कहीं भी भाषण में धन के लिए अपील नहीं की गई। न जाने क्यों? प्राय: घर-घर जाकर परिचित-अपरिचित सभी प्रकार के लोगों से कॉलेज के लिए भिक्षा माँगी। इस प्रकार धन एकत्र करना बहुत कठिन होता है। हर विचार के व्यक्ति मिल जाते हैं। कई तो कार्य का महत्त्व समझने की योग्यता ही नहीं रखते। हीरे की कदर जौहरी ही कर पाता है। यह सबके बस की बात नहीं है। कई लोग उद्देश्य से सहमत होकर भी हाथ से पैसा छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। फर्रुखाबाद से वैसे ही धन नहीं लिया गया क्योंकि वहाँ लोग सामर्थ्यानुसार दान नहीं दे रहे थे। फिर भी पर्याप्त धन मिला; उदाहरणार्थ — दिल्ली से पाँच हजार एक सौ बासठ रुपये (जिस में से दो हजार छह सौ अठासी रुपये नकद), अलीगढ़ से एक हजार रुपये तथा मुरादाबाद से सोलह सौ रुपये (जिसमें से एक हजार रुपये नकद) प्राप्त हुए।[5]

शिष्टमण्डल के प्रस्थान से पूर्व कॉलेज प्रबन्धक सभा ने मार्ग-व्यय देना स्वीकार किया था परन्तु धर्मवीरों ने एक पैसा भी न लिया। सबने अपना-अपना व्यय स्वयं वहन कर सामाजिक क्षेत्र में कार्य करने की आदर्श मर्यादाओं का निर्माण किया।

जब गुरुदत्त अन्य साथियों के साथ लगभग छह सप्ताह के पश्चात् वापिस लौटे तो उन्होंने पिताजी को मृत्यु से जूझते पाया। उनकी स्थिति में सुधार नहीं हो पा रहा था। फिर भी 29 अक्तूबर 1887 को पण्डित जी को आर्यसमाज रावलपिण्डी के उत्सव पर जाना पड़ा। वहाँ एक व्याख्यान में

सूक्ष्म शरीर तथा दूसरे में ऋग्वेद के पहले दो मन्त्रों की व्याख्या की। दूसरे भाषण के अन्त में डी.ए. वी. कॉलेज के लिए हृदय-स्पर्शी शब्दों में अपील करते हुए कहा, ''यदि आपको विश्वास है कि आपके अन्दर आत्मा है तथा भौतिक शरीर के नाश के साथ ही आपके जीवन का अन्त नहीं हो जाएगा; अपितु आपके भीतर कोई ऐसी सत्ता भी है जो शरीरान्त के पश्चात् भी विद्यमान रहेगी; यदि आप चाहते हैं कि आपकी वह आत्मा उन्नति करती रहे तो यह विद्या के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए आपको डी.ए. वी. कॉलेज की स्थापना के लिए अवश्य सहयोग देना चाहिए। आत्म-उन्नति का कार्य मनुष्य मात्र की उन्नति का कार्य है। इसलिए हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई सबको इस पुनीत कार्य में सम्मिलित होना चाहिए।'' फलतः उसी समय बारह सौ तिरेपन रुपये साढ़े चार आने एकत्र हो गए।

रावलपिण्डी से लाहौर लौटे अभी कुछ ही घण्टे हुए थे कि पिता जी के देहावसान का तार मिला। उस पवित्रात्मा ने इस नश्वर संसार को 31 अक्तूबर, 1887 सोमवार प्रातः सवा नौ बजे त्याग दिया था। जिस अनिष्ट की आशंका थी, वही हो गया। इस भय के कारण ही तो गुरुदत्त संयुक्त प्रान्त जाना नहीं चाह रहे थे। धन तो मिल गया पर धर्म का धनी चला गया। पण्डित जी शाम की रेलगाड़ी से मुलतान के लिए चल पड़े। साथ ही वहाँ तार द्वारा सूचित कर दिया कि उनके पहुँचने तक दाह-संस्कार न किया जाए। इससे पूर्व मुलतान में कोई अन्त्येष्टि संस्कार वैदिक रीति से नहीं हुआ था। रूढ़िवादी लोगों का विचार था कि यदि वैदिक रीति से दाहकर्म कर दिया गया तो मृतक की गति नहीं होगी। इसलिए जन्म जाति व बिरादरी के लोगों ने गुरुदत्त की माताजी से शव लेना चाहा परन्तु माँ को अपने पुत्र से बहुत स्नेह था, अतः उसने न किसी को शव दिया और न ही गुरुदत्त के कार्य में बाधा डाली।

अगले दिन प्रातः लोगों ने गुरुदत्त को लालाजी का वैदिक विधि से संस्कार करने से रोकने का पूरा प्रयास किया। बहुत तर्क दिए परन्तु उसे तर्क में कौन जीत सकता था? अन्त में उसे जाति से बहिष्कृत करने की धमकी दी गई।[6] एक तो पिता की मृत्यु का दारुण दुःख और फिर स्वजातीय बन्धुओं का यह व्यवहार परन्तु धर्मवीर भी कहाँ डिगने वाला था? वह चट्टान की भाँति दृढ़ रहा। नदी आवेग में भरी हुई आई। उसकी लहरें बार-बार चट्टान से टकराती रहीं परन्तु चट्टान का हिलना कैसे सम्भव था? पण्डित जी ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी– ''मैं निज धर्म नहीं त्याग सकता चाहे मेरे

साथ कुछ व्यवहार किया जाए।''[7-9]

जब किसी का बस न चला तो विरोधियों ने लोगों को शव के साथ जाने से रोकना चाहा परन्तु जनसाधारण के लिए वैदिक दाह-संस्कार उत्सुकता का विषय था। अत: सैंकड़ों स्त्री-पुरुष श्मशान भूमि पहुँच गए। उन दिनों पौराणिक रीति से दाह-संस्कार पर केवल बीस-पच्चीस रुपये व्यय होता था परन्तु पण्डित जी ने लगभग दो सौ रुपये लगाकर पूर्ण वैदिक विधि से संस्कार किया।[10] एक आर्य अपने धर्म पर कितना दृढ़ होता है, उसके लिए वह कितना बलिदान कर सकता है – यह सभी वर्गों के लोगों को स्पष्ट हो गया। धर्म धुन का सर्वत्र गहरा प्रभाव पड़ा।

पण्डित जी के दु:ख की कोई सीमा न थी। प्रभु के बाद जिसका सहारा था, वे चले गए। कंटकाकीर्ण पथ के काँटे चुनकर प्रशस्त मार्ग का निर्माण करने वाला न रहा। शब्दों से यह घाव भरा नहीं जा सकता। समय भी शायद घाव को सुखा तो दे परन्तु उसके निशान न मिटा सकेगा। परिवार का सारा बोझ भी उन्हीं पर आ पड़ा। प्रकाश की कहीं एक किरण भी दिखाई न देती थी। छाया तक भी न थी। था तो घोर अन्धेरा।

लाला रामकृष्ण का देहावसान आर्यसमाज के इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है। उन्होंने जिस प्रकार मृत्यु का वरण किया, उससे वे अमर हो गए। यदि गुरुदत्त अपने पिता के पास रह पाते तो सम्भव था कि रोग का निदान और उपचार हो जाता परन्तु पुण्यात्मा रामकृष्ण ने स्वयं मृत्यु को निमन्त्रित किया था। अपने ही हाथों जीवन की डोरी काटी थी। यह कोई साधारण बलिदान नहीं है। लालाजी ने जिस परिश्रम से गुरुदत्त का निर्माण कर उसे श्रद्धापूर्वक आर्यसमाज के लिए अर्पित किया, उसके लिए आर्यजगत् उनका सदैव ऋणी रहेगा। उनका दान भामाशाह के दान से बढ़कर है। कॉलेज के लिए किसी ने धन दिया, किसी ने समय परन्तु इस यज्ञ में प्राणों की आहुति केवल रामकृष्ण ने ही दी। वे दधीचि थे। नहीं, नहीं, दधीचि से भी बढ़ कर थे। दधीचि ने केवल अपना बलिदान किया। लालाजी ने अपनी ही नहीं, अपने प्राणों से प्यारे गुरुदत्त की भी बलि दे दी। जिस राह पर पिताजी गए, उसी राह पर दो वर्ष पश्चात् प्यारा पुत्र भी चला गया। सोचा, ''अच्छा पिताजी! तुम्हारी सेवा यहाँ तो न कर पाया, वहाँ करूँगा।'' अग्नि भी गई, अग्नि का प्रकाश भी।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. पण्डित गुरुदत्त ने फरवरी 1887 में नियमित रूप से गायत्री जाप, योगाभ्यास तथा

स्वाध्याय करने का निश्चय किया था। दो चार दिन ऐसा किया भी। तभी उन्हें पिता जी की सेवा के लिए मुलतान जाना पड़ गया।

2. ''आज के उद्देश्य को कठिनाई से तदबीर में बाँधा जा पाता है। परन्तु अफ़सोस! वह कल छिन्न-भिन्न हो जाती है।''

3. डी.ए. वी. कॉलेज मैनेजिंग कमेटी ने 26 जून 1887 को प्रस्ताव पारित किया कि एक शिष्टमण्डल सितम्बर-अक्तूबर में संयुक्त प्रान्त एवं अवध प्रदेश धनसंग्रहार्थ जाए। शिष्टमण्डल में जाने के लिए लालचन्द, ज्वालासहाय, रोशनलाल (इलाहाबाद), गुरुदत्त, लाजपतराय, महात्मा मुन्शीराम, द्वारकादास तथा उमरावसिंह (रुड़की) के नाम प्रस्तावित हुए (द्रष्टव्य: आर्य पत्रिका, 16 अगस्त 1887, पृष्ठ 4; 23 अगस्त 1887, पृष्ठ 5)।

4. आर्य पत्रिका, 13, 20 सितम्बर, 27 दिसम्बर, 1887; 3, 10, 17, 31 जनवरी 1888

5. आर्य पत्रिका, 20 सितम्बर 1887, पृष्ठ 5-6

6. उन दिनों वैदिक विधि से संस्कार करना आसान काम न था। पौराणिक घोर विरोध किया करते थे। तब विवाह संस्कार हो या अन्त्येष्टि संस्कार — दोनों पक्षों में बहस होती थी। शास्त्रार्थ जैसी स्थिति बन जाती थी। मुलतान क्षेत्र में यह पहला अन्त्येष्टि संस्कार था जो ऋषि दयानन्द सरस्वती प्रणीत संस्कारविधि के अनुसार किया गया था।

7. आर्य पत्रिका, 15 नवम्बर 1887, पृष्ठ 4-5

8. केनेथ डब्ल्यू. जॉन्स, आर्य धर्म, पृष्ठ 96-7

9. निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद अर्थात् पण्डित गुरुदत्त एम.ए. और उनकी बेवक्त मौत, पृष्ठ 56-9

10. मृत्यु से चौथे दिन अस्थियाँ नदी में प्रवाहित कर दी गईं।

कार्यक्षेत्र में (2)

पण्डित गुरुदत्त कुछ दिन मुलतान ठहरकर लाहौर लौट आए और पूर्ववत् आर्यसमाजों के उत्सवों पर जाने लगे। आर्यसमाज लाहौर का दशम वार्षिकोत्सव 26, 27 नवम्बर 1887 को मनाया जा रहा था। पण्डित जी इस उत्सव में सम्मिलित हुए और दो भाषण भी दिए। पहला व्याख्यान हिन्दी में डी.ए.वी. कॉलेज विषय पर रविवार (27 नवम्बर) प्रातः दस बजे हुआ। उपस्थिति तीन सहस्र से अधिक थी। पण्डित जी बहुत गम्भीर मुद्रा में थे। सभा में नीरवता छाई हुई थी। श्रोतागण पाषाणवत् मूक बैठे थे। वक्ता की वाणी ही नहीं, जीवन बोल रहा था। एक-एक शब्द हृदय की गहराई से निकल रहा था। जब उस प्रभुभक्त ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के बत्तीसवें सूक्त के **इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्** ... आदि चार मन्त्रों का पाठ कर उनके अर्थ समझाते हुए बताया कि किस प्रकार सूर्य (इन्द्र) मेघ (वृत्र) को उठाता है, कैसे वृत्र इन्द्र को छिपा लेता है, कैसे दोनों का युद्ध होता है, तो समय बँध गया। हवा भी रुक गई। वृक्षों पर शान्त बैठे पक्षी भी मानो उपदेशामृत पान करने लगे। जब ऋषि दयानन्द के तप, त्याग एवं बलिदान की कहानी कही तब तो जनता की आँखों का बाँध टूट गया। कई बार लोग रोए, कई बार जोश में उछल पड़े। वे अपनी सुध-बुध भूल चुके थे। दीवाने ने सब को दीवाना बना दिया। अन्त में पण्डित जी ने कहा, ''यह कॉलेज ऋषि दयानन्द के शरीर का स्मारक नहीं, अपितु उनके विचारों तथा त्रिकाल सत्य की स्मृति है। जो व्यक्ति कॉलेज सम्बन्धी मेरे विचारों से सहमत न हो, वह इस कार्य के लिए एक पाई भी दान न दे क्योंकि मुझे लोकाचार से बहुत घृणा है।'' भाषण समाप्त होते ही धन की वर्षा आरम्भ हो गई। उसी समय चार हजार एक सौ अठाईस रुपये एकत्रित हो गए। इसके अतिरिक्त लगभग नौ सौ रुपये की प्रतिज्ञाएँ प्राप्त हुईं।

इस भाषण के विषय में आर्य पत्रिका ने लिखा था – ''हमने शायद ही पहले कभी इससे अधिक प्रेरणादायक तथा प्रभावोत्पादक भाषण सुना हो। इस अवसर पर भावना की जिस सात्विकता तथा गहराई से वे बोल रहे थे, उसकी दूर की झलक देना भी असम्भव को सम्भव बनाने के समान है।''[1] लाला जीवनदास इस भाषण से इतने प्रभावित हुए कि सभास्थल पर ही अनायास उनके मुख से निकल पड़ा, ''गुरुदत्त जी! आज तो आपने

ऋषि दयानन्द से भी अधिक योग्यता प्रदर्शित की है।'' परन्तु निरभिमानी ऋषिभक्त ने झटपट उत्तर दिया – ''यह सर्वथा असत्य है। पाश्चात्य विज्ञान जहाँ समाप्त होता है, वैदिक विज्ञान वहाँ से प्रारम्भ होता है और ऋषि के मुकाबले में तो मैं सौवां भाग भी विज्ञान नहीं जानता।''[2क] महात्मा मुन्शीराम ने भी यह भाषण सुना था। वे लिखते हैं – ''मुझे सुधि न रही कि मैं पृथ्वी पर हूँ।''[3क]

इस उत्सव पर गुरुदत्त का दूसरा भाषण अंग्रेज़ी में त्रैतवाद पर हुआ। उन्होंने सिद्ध किया कि जो तथाकथित धर्म तीन अनादि सत्ताओं (ईश्वर, जीव, प्रकृति) को स्वीकार नहीं करता, वह विश्वास के योग्य नहीं है।

दिसम्बर में फिर पण्डित जी ने लाहौर में अंग्रेज़ी में दो भाषण दिए। एक व्याख्यान 'जीवन का उद्देश्य' विषय पर था। दूसरे में 'आन्तरिक जीवन की यथार्थता' पर प्रकाश डाला गया था। यह दूसरा भाषण 7 अगस्त 1890 को पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। धार्मिक लोगों के लिए यह भाषण बहुत लाभदायक था।

आर्यसमाज मेरठ का नवम वार्षिकोत्सव 26, 27 दिसम्बर 1887 को उत्साहपूर्वक मनाया जा रहा था। दूर-दूर से सज्जन इस धर्म मेले में पधारे। इस अवसर पर पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का जो भाषण 26 दिसम्बर सोमवार दोपहर बाद हुआ, उसका वृत्तान्त आर्य समाचार (मेरठ) में इस प्रकार छपा था, ''... इसके पश्चात् जनाब पण्डित गुरुदत्त साहब एम.ए. ने आर्यसमाज के असूल की खूबी और उनके अनुसार पूरा-पूरा आचरण करने से मनुष्य को जो लाभ पहुँचता है, उसका वर्णन जिस खूबी और सच्चे जोशोखरोश, मुल्की व कौमी हमदर्दी के साथ किया, उसका ठीक-ठीक चित्र खींचना हमारी जिह्वा और लेखनी की शक्ति से बाहर है। उसकी खूबी को वही लोग समझ सकते हैं जिन्होंने उसको सुना है। पण्डित गुरुदत्त साहब एक बहुत बड़े जबरदस्त लायक फ़ायक और मशहूर लैक्चरार हैं। अगर ऐसे पुरजोर लैक्चरार और मुल्क व कौम के सच्चे खैरख्वाह दस पाँच और भी हों तो आर्यावर्त की काया आनन फ़ानन में पलट जाए। ... यह व्याख्यान ऐसा प्रभावशाली था कि लाला मुसद्दीलाल साहब मेम्बर आर्यसमाज खरड़ जिला मुजफ्फरनगर ने उसकी तौसीफ उसी वक्त ब्यान की और पण्डित जी महाराज के चरण छूकर अपनी श्रद्धा प्रकट की।''[4क]

यहाँ से गुरुदत्त अजमेर पहुँचे। वहाँ 28, 29 दिसम्बर को परोपकारिणी सभा का अधिवेशन था। पंजाब से साईंदास, हंसराज, लाजपतराय, जीवनदास,

मुन्नालाल व संगमलाल भी आए हुए थे। अन्य प्रान्तों से भी लगभग दो सौ प्रतिनिधि पधारे। आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश व अवध ने इन्हीं तिथियों में अजमेर में अपना अधिवेशन रखा हुआ था। यहीं इस सभा के नियम पारित हुए। इसी अवसर पर श्रीमद्दयानन्द आश्रम का शिलान्यास भी करना था। बस, बहुत चहल पहल थी। शाहपुराधीश श्रीयुत नाहरसिंह वर्मा की ओर से रामजीवन ने 28 दिसम्बर 1887 को आनासागर के किनारे स्थित उद्यान आश्रम के लिए भेंट किया। अगले दिन 29 दिसम्बर वीरवार पौष शुक्ला 14, सम्वत् 1944 को आश्रम का शिलान्यास किया जाना था। प्रात: सभी आर्यजन इकट्ठे गीत गाते हुए अनासागर पहुँचे। पहले ईश्वरभक्ति के भजन हुए। फिर पण्डित गुरुदत्त आदि विद्वानों ने सम्मिलित वेदपाठ किया। परोपकारिणी सभा के मन्त्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने आधारशिला के साथ वेदभाष्य के कुछ अंक भी बोतल में डालकर रखे। लाला लाजपतराय ने भाषण दिया। फिर श्यामजीकृष्ण वर्मा ने ऋषिवर का गुणगान किया।[5]

रात को अजमेर में गुरुदत्त ने एक भाषण 'सत्य' पर दिया। इस भाषण में **अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि** ... मन्त्र की हृदयग्राही व्याख्या की। उनका निजी जीवन छल कपट एवं दम्भ से रहित था। अत: भाषण का बड़ा प्रभाव पड़ा। 30 दिसम्बर रात्रि को दूसरा व्याख्यान देने से पूर्व पण्डित जी को तेज़ बुखार हो गया। बोलने तथा बैठने की शक्ति न रही। फिर भी धर्मधुन के धनी ने एक घण्टा तक आर्यसमाज के विषय में एक धार्मिक भाषण दिया। मिशन के प्यारे को अपने शरीर की चिन्ता ही कहाँ थी?

पंजाब से पधारे अन्य सज्जनों के साथ गुरुदत्त पुष्कर गए और फिर अजमेर से जयपुर चले गए। वहाँ धर्म प्रचार के अतिरिक्त महाराज सवाई जयसिंह के बनवाए जन्तर-मन्तर की सैर की। फिर सीधे लाहौर लौट आए।

अगले वर्ष (1888) पण्डित गुरुदत्त ने 18 जनवरी को आर्यसमाज लाहौर के मन्दिर में योगीराज कृष्ण और गीता पर एक खोजपूर्ण भाषण दिया। उनकी सूझ-बूझ मौलिक थी। अत: कई ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डाला जिनका पहले शायद ही किसी को ज्ञान था।

फिर 29 जनवरी को आर्यसमाज अमृतसर के दसवें वार्षिकोत्सव पर पहुँच गए। इस उत्सव पर पण्डित लेखराम, दुर्गाप्रसाद, भक्त अमीचन्द आदि भी पधारे थे। वहाँ दीवारों पर वेदमन्त्र लिखकर लटकाए हुए थे। उन्हीं में से एक दो मन्त्रों की व्याख्या तथा वेद ज्ञान की दिव्यता दर्शाते हुए पण्डित गुरुदत्त बोले – ''यह कभी सम्भव नहीं कि जो मनुष्य वेद में सच्चा विश्वास

और ज्ञान रखता हो, वह मनुष्य धर्म का ठीक पालन न कर सके। यदि लोगों को यह सच्चा विश्वास हो जाए कि वेद में सत्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और यदि वे इस वास्तविकता को अनुभव कर लें तो फिर कभी भी कोई कार्य वेदादेश के विरुद्ध न करें। आर्यसमाज ने अभी तक उतनी उन्नति नहीं की, जितनी करनी चाहिए थी क्योंकि यद्यपि आर्यसमाज के सभासद प्राय: वेद में विश्वास रखने का दावा करते हैं परन्तु उन्होंने कभी अपने विश्वास की गहराई का अनुभव नहीं किया। देखिए, सच्चे विश्वासी ऐसे होते हैं, जैसे ऋषि दयानन्द।''[6] व्याख्यान के अन्त में डी.ए.वी. कॉलेज के लिए अपील की। परिणामस्वरूप दो हजार पाँच सौ रुपये नकद प्राप्त हुए। इसमें बारह रुपये मिशन स्कूल तथा छह रुपये इस्लामिया स्कूल के विद्यार्थियों का दान था। पण्डित लेखराम आर्यमुसाफ़िर ने इस भाषण की आर्य गज़ट में खूब प्रशंसा की।[7]

इस वर्ष गुरुदत्त ने एक और बड़े महत्त्व का कार्य किया। वह था पश्चिमी विद्वानों द्वारा वेद पर किए गए आक्षेपों का उत्तर। पाश्चात्य लेखकों ने भारतीय ग्रन्थों के जो अनुवाद किए उन्हें पढ़कर शिक्षित वर्ग अपने धर्म एवं संस्कृति का उपहास कर रहा था। ईसाई इस भव्य भवन को गिराने के लिए योजनाबद्ध कार्य में जुटे हुए थे। उनके पास जन और धन की कमी न थी। अंग्रेज़ सरकार उन्हें पूर्ण सहयोग दे रही थी। भारतीय जनता इस हलाहल को अमृत समझ कर पी रही थी। कोई विरोध करने वाला न था। ऐसे भयंकर समय में पण्डित गुरुदत्त ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया।

उन दिनों 'इण्डियन विज़डम' पुस्तक की बहुत चर्चा थी। यह ग्रन्थ ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के प्रथम बोडन प्रोफेसर मोनियर विलियम्स ने मई 1875 में रचा था। यह उनके पन्द्रह भाषणों का संग्रह है। ग्रन्थ की प्रस्तावना के आरम्भ में मोनियर विलियम्स लिखते हैं – ''प्रस्तुत पुस्तक उस आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास है जिसका अस्तित्व मुझे उस प्रश्न से ज्ञात हुआ जो मुझे बोडन प्रोफेसर के नाते बार-बार किया जाता है – क्या किसी एक पुस्तक से संस्कृत साहित्य के रूप तथा विषयों का पर्याप्त सामान्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है? इन पृष्ठों से एक और सेवा भी अभिप्रेत है। इसमें मैं भारतवर्ष के धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य के अंशों के अनुवादों और विवरणों के द्वारा शिक्षित अंग्रेज़ों को हिन्दुओं की बुद्धि, विचार-शैली तथा रीति-रिवाजों का परिचय और विश्वास तथा आचरण की एक ऐसी पद्धति का यथार्थ ज्ञान प्रदान करना चाहता हूँ जो गैर-ईसाई जगत् में एक

प्रधान धर्म के रूप में विद्यमान है।'' फिर भूमिका में लिखते हैं, ''इसलिए इन पृष्ठों का एक उद्देश्य यह भी है कि ईसाई धर्म और भारत में प्रचलित संसार के तीन बड़े झूठे धर्मों के बीच भेद प्रकट किया जाए।''[8]

प्रोफेसर मोनियर विलियम्स ने अपने हृदय की बात को छिपाने का बहुत प्रयत्न किया। काफी शब्दजाल रचा परन्तु भारतीय धर्म को 'झूठा' मानकर चलने की स्वीकारोक्ति ने भेद खोल ही दिया। जो ग्रन्थकार किसी धर्म को पहले से ही झूठा मानकर लेखनी उठाए, क्या वह उसके विषय में निष्पक्ष राय दे सकेगा? क्या उसका ग्रन्थ रचना का अभिप्राय वैदिक साहित्य की सेवा करना माना जा सकता है?

वास्तविकता यह है कि बोडन महोदय ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को जो भारी धनराशि दी थी उसका उद्देश्य ही भारतीय संस्कृत साहित्य का भद्दा अनुवाद तथा बाइबिल को संस्कृत में अनूदित करवाकर भारतीयों में ईसाइयत का प्रचार करना था। मोनियर विलियम्स, कीथ तथा मैकडॉनल आदि से यही कार्य लिया गया। मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-अंग्रेज़ी शब्दकोश की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है – ''बोडन के उदार उत्तरादान का विशेष उद्देश्य धर्मग्रन्थों के संस्कृत में अनुवाद को बढ़ावा देना था ताकि उसके देशवासियों को वह सामर्थ्य प्राप्त हो जाए जिससे वे भारतीयों का धर्म परिवर्तन कर उन्हें ईसाई बना सकें।''[9]

गुरुदत्त ने ऐसी पुस्तकों की समालोचना करना आवश्यक समझा और इसीलिए आर्यसमाज लाहौर में एक व्याख्यानमाला आरम्भ की। तीन भाषण तो पुस्तक की केवल भूमिका पर ही 4, 11 तथा 18 जुलाई 1888 को प्रति बुधवार सायं सात बजे आर्यसमाज मन्दिर में दिए। शिक्षित वर्ग ने खूब लाभ उठाया। इसकी चर्चा करते हुए 24 जुलाई 1888 की आर्य पत्रिका ने लिखा – ''हमारे विद्वान् भ्राता पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम.ए., प्रोफेसर मोनियर विलियम्स रचित 'इण्डियन विज़डम' पुस्तक पर भाषण देकर विशेषत: लाहौर के शिक्षित मनुष्यों और साधारणतया विश्व के अन्य विद्याप्रेमियों के लिए एक महान् उपकार का कार्य कर रहे हैं। अब से पहले तीन व्याख्यान हो चुके हैं। समस्त पुस्तक पर बीस-तीस अथवा इससे भी अधिक व्याख्यान होंगे। अभी उन्होंने मुश्किल से भूमिका ही समाप्त की है। आपकी भाषा सरल तथा इतनी स्पष्ट होती है कि सामान्य बुद्धि का मनुष्य भी उसे सरलता से समझ सकता है। जो इन भाषणों में उपस्थित होते हैं, उन्हें आर्ष साहित्य, विज्ञान तथा कला पर व्यक्त उन विचारों, जिनसे हमारे यूरोपीय प्राच्य विद्वानों

की ये पुस्तकें भरी पड़ी हैं, के नितान्त भ्रामक स्वरूप का आभास हुए बिना नहीं रह सकता। जान-बूझकर या अनजाने में किया हुआ ऐसा थोक मिथ्या वर्णन पश्चिम के इन विद्वानों की शोभा के नितान्त प्रतिकूल है। ... ये भाषण विश्व को यह भी दिखाएँगे कि इन प्राच्य विद्वानों को उन विषयों का वास्तव में कहाँ तक ज्ञान है जिनके बारे में वे सुविज्ञ होने का दिखावा करते हैं।'' लाला जीवनदास ने लिखा था – ''यह एक ऐसा काम था जिसके परिणाम की कल्पना करना सुगम नहीं। यदि वे और कोई काम न भी करते, तो केवल इतना ही उन्हें अपने समय के महापुरुषों में उच्च स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त था।''

पुस्तक के जिन वाक्यों का खण्डन करना अभीष्ट होता था, पण्डित गुरुदत्त पहले उन्हें दो बार धीरे-धीरे पढ़कर सुनाते थे। फिर उनमें से मुख्य बातें छाँट लेते और उनका ऐसा युक्तियुक्त खण्डन करते कि श्रोताओं को विश्वास हो जाता कि विदेशियों का संस्कृत-ज्ञान शून्य के बराबर है। इस प्रकार पण्डित जी ने सिद्ध किया कि उन लोगों ने संस्कृत साहित्य का मन्थन नहीं किया अपितु केवल अनुवादों के आधार पर पक्षपातपूर्ण रीति से अपनी पूर्व मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए ग्रन्थों की रचना की है।

अनेक व्यस्तताओं के कारण पण्डित जी लगभग बारह व्याख्यान ही दे पाए। वे उन्हें स्वयं पुस्तकाकार प्रकाशित करवाना चाहते थे परन्तु आकस्मिक मृत्यु के कारण उस समय यह सम्भव न हो पाया। बाद में (1892) उन व्याख्यानों के जो अंश उपलब्ध हो सके, वे विरजानन्द प्रेस, लाहौर ने प्रकाशित किए। इन अपूर्ण अंशों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यदि गुरुदत्त अपने जीवन-काल में उन भाषणों को विस्तारपूर्वक छपवा पाते तो यह संस्कृत साहित्य विषयक अपूर्व ग्रन्थ होता।

इस वर्ष पण्डित जी के घर एक पुत्र रत्न ने जन्म लिया। उसका नाम सदानन्द रखा गया।[10]

सन् 1888 में पण्डित जी ने सामवेद के सस्वर पाठ तथा अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया। सामगान के सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया। पण्डित जी ने सामवेद तथा ऋग्वेद संहिताओं का शुद्ध पाठ ऋषि, देवता, छन्द तथा स्वर सहित विरजानन्द यन्त्रालय, लाहौर से मुद्रित करवाकर सम्वत् 1946 वि. (1889) प्रकाशित किया। इस में छन्द, ऋषि तथा देवता लाल मसि (स्याही) और शेष भाग काली स्याही में छपा है।

पण्डित गुरुदत्त ने 12 अक्तूबर 1888 को आर्यसमाज पेशावर के

उत्सव पर सामवेद के कई मन्त्रों का मधुर स्वर में गान किया और फिर उनकी व्याख्या की। वेद का सस्वर पाठ सुनकर सभी आनन्दविभोर हो उठे। पेशावर की जनता गुरुदत्त के धाराप्रवाह भाषण, वेद में अटूट श्रद्धा, सच्ची लग्न तथा अथाह योग्यता से पूर्व परिचित थी परन्तु वेद-गान सुनने का यह पहला अवसर था। वेद-गान भी सम्भव है – यह जानकर जन साधारण के विस्मय तथा हर्ष की सीमा न रही। मास्टर दुर्गाप्रसाद के अनुसार ''उपस्थित जनता के अभिव्यक्त आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। यह आनन्द उस खदान खोदने वाले के आनन्द के सदृश था जो वर्षों खान खोदने के काम पर लगाए रखा गया हो और जिसने अब तक सिवाय मिट्टी खोदने के और कुछ न किया हो किन्तु अचानक ही उसे खदान की गहरी अन्धेरी कोख में छिपी अपार स्वर्ण राशि दीख जाती है। इसने भाषणों की सभी सरसराहट और संगीत को पीछे छोड़ दिया।''[11क]

अगले दिन धर्म विषय पर एक व्याख्यान दिया। आरम्भ में मनु महाराज के निम्नलिखित वचन सुनाए :

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ मनु 2.13

पण्डित जी ने कंचन तथा कामिनी की लालसा को धर्मपथ में बाधक बताया। फिर विज्ञान की अनेकानेक मान्यताओं की चर्चा कर सिद्ध किया कि जीवन के रहस्य प्रकाशित करने में पश्चिमी विज्ञान असमर्थ है। केवल वेदज्ञान द्वारा ही आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। विद्यावारिधि गुरुदत्त के अश्रुत पूर्व विचारों, तर्कों तथा उदाहरणों को सुनकर जनता दंग रह गई। मास्टर दुर्गाप्रसाद ने पुनः लिखा था – ''इस असाधारण वक्तृता को सुनकर श्रोता आश्चर्याभिभूत तथा सम्मोहित-से हो गए। उन पर इसका प्रभाव अत्यन्त शिक्षाप्रद, सन्तोषजनक एवं शान्तिदायक रहा। इससे पवित्र वेदों के लोकोत्तर दर्शन में प्रदर्शित धर्म की महत्ता तथा उपयोगिता का एक स्पष्ट, ओजस्वी और आनन्ददायी चित्र श्रोताओं के समक्ष उभरकर आया। ... इससे अधिक तर्कपूर्ण एवं सन्तुष्टिकारक वार्ता नहीं हो सकती।''

आर्यसमाज लाहौर का वार्षिकोत्सव 23 से 25 नवम्बर तक मनाया जा रहा था। इस अवसर पर महात्मा मुन्शीराम, देवराज आदि कई सज्जन बाहर की आर्यसमाजों से पधारे। इन दिनों पण्डित लेखराम यहाँ ऋषि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित लिखने के लिए सामग्री एकत्र करने हेतु पधारे हुए थे। उन्होंने उत्सव में शंका-समाधान इस योग्यता से किया कि उनकी

बहुत प्रसिद्धि हुई। मास्टर दुर्गाप्रसाद का सोलह संस्कारों पर प्रभावशाली भाषण हुआ।

इस उत्सव पर गुरुदत्त के दो व्याख्यान हुए। पण्डित जी ने 25 नवम्बर प्रातःकाल सन्ध्या व वेदपाठ के पश्चात् डी.ए.वी. कॉलेज के विषय में बोलते हुए कहा – ''आधुनिक विज्ञान के चाहे कुछ भी गुण हों, वह जीवन की समस्या पर जरा भी प्रकाश नहीं डालता। वह मानव मस्तिष्क को आन्दोलित करने वाले सबसे महान् एवं कठिन प्रश्न – मनुष्य का आदि मूल और अन्तिम लक्ष्य, के समाधान में कुछ भी सहायता नहीं करता। आधुनिक वैज्ञानिक चाहे प्रत्येक नाड़ी व हड्डी को चीर डाले, किसी भी उपलब्ध अति सूक्ष्म- दर्शक यन्त्र के द्वारा रुधिर बिन्दु की चाहे सूक्ष्म परीक्षा कर ले परन्तु वह इस प्रश्न के बारे में पूर्ववत् लाचार है। वह जीवन के रहस्य को नहीं खोल सकता। वह चाहे युगों तक चीर-फाड़ और परीक्षण करता रहे परन्तु जीवन की समस्या के विषय में उसके ज्ञान में वृद्धि न हो सकेगी। इस प्रश्न का समाधान वेद की सहायता के बिना हो ही नहीं सकता। केवल वेद ही इस विचित्र रहस्य का उद्घाटन कर सकता है तथा अन्त में वैज्ञानिकों को उसी ओर आना होगा। पहले ही इस ओर झुकाव के संकेत हैं। प्राचीन ऋषियों ने वेदों को सम्पूर्ण विज्ञान का स्रोत समझा था और यह सत्य भी है। उन्होंने अपने आपको उसके अध्ययन में लगा दिया और उसमें निहित सच्चाइयों का चिन्तन करते रहे। उस समय आर्यावर्त में इतनी सुख-समृद्धि थी कि उसके समान अब कहीं दिखाई नहीं देती। वेदाध्ययन का फल लोक एवं परलोक दोनों का सुख था। सर्वाधिक खेद की बात है कि आर्यावर्त वैदिक धर्म से पतित हो गया है। जिस रसातल को वह पहुँचा है, वहाँ पहुँचने से वह बच नहीं सकता था। उसने अपना नाश स्वयमेव किया। यद्यपि अतीत अन्धकारमय है, भविष्य आनन्ददायक है। सच्चाई का वही शाश्वत सूर्य - वेद- पुनः प्रकट हो गया है। उसने अन्धविश्वास के बादलों को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दिया है। संसार पर छाया हुआ अशुभ तिमिर दूर हो गया है तथा दिवाकर पहले जैसे तेज के साथ चमक रहा है। यह अत्यन्त सुखद स्थिति स्वामी दयानन्द के प्रयत्नों के कारण हुई है। वे हमें उस प्रकाश की ओर ले चले जिसमें प्राचीन ऋषि स्नान किया करते थे। यद्यपि कइयों ने इस कृपा को देखकर इसका आदर किया है; फिर भी बहुत से लोग चिरकाल से अन्धकार में रहने का स्वभाव होने के कारण या तो उसमें सन्देह करते हैं या उस प्रकाश में जाने से हठपूर्वक इनकार करते हैं। जो आत्माएँ अन्धविश्वास

के अन्धकार में विलुप्त होने से बच गई हैं, उन सब का यह कर्त्तव्य है – परम कर्त्तव्य है – कि वे संशयात्मक लोगों के सन्देह की और धर्मान्ध तथा हठी जन की धर्मान्धता व दुराग्रह की चिकित्सा करें। इसका केवल यही उपाय है कि उन संस्थाओं की सहायता की जाए जहाँ आगामी पीढ़ियाँ इस बात को अनुभव किए बिना इस स्थिति पर पहुँच जाने के लिए धीरे-धीरे तैयार की जा रही हैं।''[11ख]

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक, वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं प्रगल्भ वेद-वेत्ता गुरुदत्त के ये शब्द सुन्दर रीति से वेद के महत्त्व को दर्शा रहे हैं। जनता ने इन विचारों को मन्त्रमुग्ध होकर सुना। अत्यधिक करतल ध्वनि के मध्य भाषण समाप्त हुआ। भले ही पण्डित जी ने किसी संस्था विशेष का नाम नहीं लिया परन्तु जनता ने स्वयं उनका संकेत डी.ए.वी. कॉलेज के लिए समझ लिया। इतना प्रभाव पड़ा कि लगभंग चौदह हजार रुपये दान में मिले जिसमें से लगभग चार हजार रुपये उसी समय प्राप्त हो गए। प्रतिज्ञाओं में से नौ हजार रुपये डी.ए.वी. स्कूल तथा कॉलेज के भवन निर्माण के लिए तथा एक हजार रुपये कॉलेज फण्ड को दे दिए गए। महात्मा मुन्शीराम ने गुरुदत्त के इस भाषण के बारे में लिखा था – ''इस व्याख्यान की क्या उपमा दूँ? ऋषि दयानन्द के उपदेशों के पश्चात् यही एक व्याख्यान सुनने में आया है। यह उत्सव इसलिए भी स्मरणीय रहेगा कि मैंने पहले पहल पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यान के पश्चात् 9 मार्गशीर्ष सम्वत् 1945 (25 नवम्बर 1888) के ग्यारह बजे से हुक्का पीना छोड़ दिया था।''[3ख]

25 नवम्बर रात के आठ बजे फिर पण्डित जी का दूसरा भाषण हुआ। यह व्याख्यान अंग्रेज़ी में वेद विद्या पर था। इस भाषण में विद्वान् वक्ता ने पाश्चात्य विज्ञान की अपेक्षा प्राचीन वैदिक विज्ञान की श्रेष्ठता सिद्ध की। अपने पक्ष की पुष्टि में बीस लाख वर्ष पूर्व लिखे 'सूर्य सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए तथा दर्शाया कि सृष्टि आयु के विषय में वैदिक पक्ष वर्तमान वैज्ञानिक मान्यता से उत्तम तथा अधिक विश्वसनीय है। इन ऋषियों की सारी खोज का आधार सर्वज्ञानमयी वेदवाणी है। यह विशेषता केवल वेद की है। इसके विपरीत बाइबिल की विशेषता है परस्पर विरोधी तथा विज्ञान के प्रतिकूल मान्यताएँ। पण्डित जी ने बार-बार विख्यात वैज्ञानिकों के कथन सुनाकर अपनी बात की पुष्टि की। अन्त में एण्ड्रयू जैक्शन डेविस के शब्दों में कहा, ''मैं इस अग्नि (आर्यसमाज) को मांगलिक समझता हूँ। जब यह अग्नि सारी पृथ्वी को नव-जीवन प्रदान करेगी तब सार्वत्रिक सुख

और आनन्द का युग आरम्भ होगा।''

गुरुदत्त कृण्वन्तो विश्वमार्यम् की धुन में दीवाने हो गए थे। जो व्यक्ति सम्पर्क में आ जाता, उसे ही आर्य बनाने के लिए जुट जाते। न जाने कितने व्यक्तियों को इस प्रकार नव-जीवन मिला परन्तु इस वर्ष चार नवीन वेदान्ती संन्यासियों का कायाकल्प आर्यसमाज के इतिहास की एक विशेष महत्त्वपूर्ण घटना है। सर्वप्रथम स्वामी प्रकाशानन्द वेदवेत्ता गुरुदत्त के सम्पर्क में आकर आर्य धर्मावलम्बी बने। तदनन्तर स्वामी स्वात्मानन्द वैदिक धर्म में दीक्षित हुए। स्वामी जी सरल स्वभाव साधु थे। उन्होंने कई मास तक गुरुदत्त के पास रहकर आर्षग्रन्थों तथा पश्चिमी विज्ञान का अध्ययन किया। गुरुदत्त उन्हें प्राय: प्रयोग करके दिखाया करते थे। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप स्वामी जी की संस्कृत योग्यता में भी वृद्धि हुई। स्वामी जी ने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को उपदेशक के रूप में अपनी सेवाएँ अर्पित कर दीं। उनके भाषण विद्वत्तापूर्ण तथा सारगर्भित होते थे। लगभग एक वर्ष तक उन्होंने प्रचार कार्य किया। फिर उन्हें वैदिक सिद्धान्तों पर कुछ सन्देह हो गया। उन दिनों पण्डित गुरुदत्त बहुत बीमार थे। डॉक्टरों ने उनसे लोगों का मिलना तथा पत्र-व्यवहार बंद कर रखा था। इस कारण स्वामी जी पण्डित जी से मिलकर सन्देह निवारण न करवा पाए और सम्भवत: जनवरी 1890 में उन्होंने आर्यसमाज से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। अगले वर्ष संस्कृत के महान् विद्वान् तथा दर्शनशास्त्र के ज्ञाता स्वामी महानन्द ने गुरुदत्त की कृपा से आर्यसमाज में प्रविष्ट होकर ऋषि सन्देश को घर-घर फैलाने का संकल्प लिया।[3ग]

स्वामी अच्युतानन्द इन साधुओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। वे नवीन वेदान्त सम्प्रदाय के गुरु तथा उपनिषदों के उत्कृष्ट विद्वान् थे। उनकी शिष्य मण्डली भी थी और मठ भी। स्वामी जी 1888 में अपनी साधु मण्डली सहित लाहौर पधारे। वहाँ शाहआलमी द्वार उद्यान में म्युनिसिपल बोर्ड की एक कोठी में ठहरे। वेदान्त का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उनकी प्रसिद्धि थी ही, अत: समूचे नगर में हलचल मच गई। निर्धन और धनी, बाल और वृद्ध, पठित एवं अपठित – सभी वर्गों के लोग उपदेशामृत पान करने के लिए आने लगे। गुरुदत्त ने उनका उपनिषद् भाष्य पढ़ रखा था। सोचने लगे कि यदि यह साधु आर्यसमाज में प्रविष्ट हो जाए, तो कितना अच्छा हो! परन्तु मठाधीश मठ को ठोकर लगाकर भिक्षा-पात्र हाथ में लेकर निकल पड़े – यह सरल बात नहीं थी। फिर इच्छा मात्र से कार्य की सिद्धि होती भी नहीं परन्तु गुरुदत्त भी हृदय में यह शुभ संकल्प लेकर कठिन को

सरल बनाने निकल पड़े। कुशल योद्धा युद्धविद्या में निपुण था। जहाँ जिस शस्त्र की आवश्यकता होती, वहाँ उसी का प्रयोग करता। इसलिए वे पहले दिन स्वामी जी के डेरे पर आक्रामक बनकर नहीं अपितु शिष्य बनकर उपनिषद् पढ़ने के लिए गए।[12] मठाधीश को क्या चाहिए – यही कोई चेला, और गुरुदत्त भी तो शिष्य बनकर आया है। बस, फिर क्या था। पढ़ाना आरम्भ कर दिया परन्तु बेचारे गुरु को क्या पता था कि जो शिष्य बनकर आया है, वह एक दिन गुरु बन कर जाएगा।

प्रथम दिन ही जब स्वामी जी को ज्ञात हुआ कि गुरुदत्त यहाँ के प्रमुख आर्य नेता हैं, तो देश हितैषी साधु ने दुखी स्वर में कहा – ''गुरुदत्त जी! देश का पतन हो रहा है। लोग सच्चा धर्म छोड़कर ईसाई तथा मुसलमान बन रहे हैं। बाल-विवाह ने देश का नाश कर दिया है। तुम आर्य हो। इधर ध्यान दो।'' गुरुदत्त ने गम्भीर होकर उत्तर दिया – ''महाराज! धर्म की भावना के अभाव के कारण ही यह स्थिति उत्पन्न हुई है। आर्यजाति में दिन प्रतिदिन वैदिक शिक्षा का ह्रास हो रहा है। गौरवमय आर्य इतिहास अज्ञान की तिमिराच्छादित गुफा में खो गया है। प्राचीन वैदिक विज्ञान की शिक्षा का ऐसा लोप हुआ कि आज भारतीयों को इतना भी ज्ञान तथा विश्वास नहीं रहा कि कभी हमारे पूर्वजों ने भी विज्ञान में उन्नति की थी। आज भी देश में अन्न तथा वस्त्रादि जीवनोपयोगी सामग्री की कमी नहीं है। केवल वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार की आवश्यकता है। वेद में सम्पूर्ण ज्ञान भरा पड़ा है। आर्य शास्त्रों में उनकी व्याख्या की गई है। यदि सर्वत्र वेद का प्रचार हो जाए तो राष्ट्र का उत्थान सम्भव है।'' बातचीत चलती रही। बीच-बीच में गुरुदत्त अपने पक्ष की पुष्टि में वेदमन्त्र भी प्रस्तुत करते रहे।

गुरुदत्त प्रतिदिन स्वामी जी से मिलने आने लगे। प्राय: उपनिषदों के उन स्थलों पर विचार-विमर्श होता जिनके द्वारा नवीन वेदान्त की सिद्धि की जाती थी। दोनों योग्यतापूर्वक अपने-अपने पक्ष की पुष्टि करते। पण्डित जी प्रतिदिन घोड़ागाड़ी किराए पर ले आते और स्वामीजी को साथ बैठाकर भ्रमणार्थ जाया करते। एक दिन स्वामी जी बोले – ''गुरुदत्त! जब आपके पास निजी गाड़ी नहीं है, फिर इतना कष्ट क्यों करते हो?'' ''स्वामी जी! कष्ट की क्या बात है? तीन रुपये देकर यह गाड़ी अपनी हो जाती है''– गुरुदत्त बोले। साधु को पता नहीं था कि इन दिनों पण्डित जी को अपने लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता था। इसीलिए रात के दो बजे तक वहीं डेरे पर बैठे रहते। कई बार स्वामी जी ही कह देते –''भाई, अब निद्रा सताने लगी है।

आप भी घर जाकर आराम करो।'' तो झटपट उत्तर देते – ''महाराज,यह समय फिर कहाँ मिलेगा? इसका जितना लाभ उठाया जाए, थोड़ा है।'' बेचारा गुरुदत्त घर जाकर करे भी क्या? उसका दिल तो साधु में पड़ा है।

दिन कटते गए। समय बीतता गया। एक दिन गुरुदत्त स्वामी जी के पास बैठे थे। रात्रि के बारह बजा चाहते थे। सारा संसार निद्रा देवी की गोद में विश्राम पा रहा था। इतने में घर से नौकर दौड़ा हुआ आया। घबराहट के कारण उसकी साँस फूली हुई थी। बड़ी कठिनाई से वह अपने आपको सम्भाल पाया। बोला – ''आपको अभी बुलाया है। आपके पुत्र (सदानन्द) की हालत अचानक चिन्ताजनक हो गई है। अभी चलिए।'' पुत्र की जीवन नैय्या भँवर में फँसी हुई है। न जाने क्या हो जाए। एक उस ईश्वर का सहारा है। कितना चिन्ताजनक समाचार है? परन्तु गुरुदत्त फिर भी वहीं बैठे रहे। हाँ, नौकर को भेज दिया। स्वयं बहुत देर से घर गए – मानो कुछ हुआ ही नहीं।

भला ऐसा क्यों? गुरुदत्त निर्मोही तो नहीं। उसे तो पिता की बीमारी ने विह्वल कर दिया था। फिर उसे इस कली से मोह न हो – कैसे सम्भव है? यूँ भी कौन पाषाणहृदय पिता होगा जो पुत्र के दुःख को देखकर तड़प न उठे। प्रभु ने विचित्र सम्बन्ध बनाया है। काँटा अंगुली को लगता है, रो आँख पड़ती है। इतिहास इन कहानियों से भरा पड़ा है। पुत्र-प्रेम की कथा वृद्ध पिता दशरथ से पूछो। राम बन चले गए। अकेले नहीं हैं। देवी सीता साथ हैं। लक्ष्मण-सा सेवक भाई छाया की भाँति साथ-साथ रहेगा। फिर राम स्वयं भी तो अबोध बालक नहीं हैं। योग्य हैं, साहसी हैं, वीर हैं, शस्त्रधारी हैं, आर्य कुलभूषण हैं परन्तु इधर अयोध्या से राम गए, उधर दशरथ के शरीर से प्राण पंखेरू उड़ गए।

भारत गौरव महाराणा प्रतापसिंह प्राणों से प्यारे मेवाड़ को स्वतन्त्र करवाने की चिन्ता में यत्र-तत्र घूम रहे हैं। विपत्तियों में घिरे होने पर भी पर्वत के समान दृढ़ हैं। हर विपदा में सुख का अनुभव कर रहे हैं। एक दिन बच्ची के हाथ से बिलाव घास की रोटी का सूखा टुकड़ा छीनकर भाग गया। बस, पर्वत भी हिल गया। धैर्य ने भी धैर्य को खो दिया। उसे अपने मान की चिन्ता नहीं। सुख सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं। अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए। उसका रोम-रोम राष्ट्र के लिए है। वह परम तपस्वी है। महान् साधक है। पर है तो पिता ही। फिर बच्ची का करुण क्रन्दन कैसे सुने? सन्धिपत्र लिखने का विचार उसके मस्तिष्क में आ ही गया।

ये लोग तो ठहरे गृहस्थी। स्नेह की यह पवित्र भावना साधुओं के हृदय में भी अपने लिए स्थान बना लेती है। सिद्धार्थ बुद्ध बना चाहते हैं। कपड़े रंगने की देरी है, मन तो कभी का रंगा हुआ है। आज बन्धु-बान्धव, धन-सम्पदा, राज-पाट, महल-हवेली सब कुछ छोड़कर रात के एकाकीपन में उस परम सत्य की खोज में निकलने चले हैं। सर्वस्व त्याग दिया है ... परन्तु यकायक पाँव रुक गए। हृदय की उसी भावना ने कहा, ''निर्मोही, नन्हें राहुल को एक बार छाती से लगाता चल, उसके मुखड़े को चूम ले। तू अनन्त पथ का राही है। फिर न जाने लौटे या न लौटे।'' और जंगल के राही ने अपने आपको देवी के शयनकक्ष के द्वार पर खड़ा पाया।

परन्तु गुरुदत्त तुम्हें क्या हुआ? तुझे अपने लाल की भी चिन्ता नहीं। पुत्ररत्न की देखभाल में इतनी असावधानी! अगले दिन यही प्रश्न पूछ लिया महात्मा ने। ऋषि के दीवाने, मिशन के पागल, धुन के धनी ने यह कहकर टाल दिया, ''कोई बात नहीं, स्वामी जी, वह शीघ्र नीरोग हो जाएगा।'' वाणी तो इतना कहकर मौन हो गई परन्तु हृदय ने मूक भाषा में भेद खोल ही दिया। ''ऐ साधु! प्रश्न का उत्तर चाहते हो? सुनो! मुझे ऋषि के लिए अच्युतानन्द चाहिए। भारी से भारी मूल्य देकर भी उसे प्राप्त करूँगा और अपने मानस-पिता की झोली में डाल दूँगा। पुत्र का क्या है? जाने कब बड़ा होगा? बड़ा होकर आर्यसमाज के कार्य के योग्य बन पाएगा या नहीं? बन भी गया तो यह कार्य करेगा भी? सब कुछ अनिश्चित है परन्तु आप तो संन्यासी हैं, योग्य हैं, विद्वान् हैं, आप में कार्य करने की क्षमता है। यदि कहीं आप मिल जाओ तो फिर चाहिए ही क्या? साधु! तुम एक पुत्र की बात करते हो, यहाँ कई होते तो सभी वार देता। सुनो साधु! मेरा एक पितृकुल है और एक ऋषिकुल। यदि पितृकुल नष्ट हो जाए तो कोई चिन्ता नहीं। बस, मेरे ऋषि का कुल चलना चाहिए। बोलो साधु, अब भी नहीं आओगे क्या?''

बस यह तड़प है, यह धुन है, यह लग्न है – जिसने गुरुदत्त को बावला बना रखा है। उसे अपने पुत्र की चिन्ता नहीं, अपनी ही सुध नहीं। हो भी कैसे? अपना सर्वस्व ऋषि के चरण कमलों में न्योछावर कर चुके हैं। पिता का बलिदान दे चुके हैं। पुत्र को भेंट करने के लिए उद्यत हैं। स्वयं तो हैं ही एक जिन्दा शहीद। यात्री को किश्ती का मोह है ही कहाँ? किनारे पर लग गई तो क्या? बीच में छूट गई तो क्या?

अन्ततोगत्वा तप, त्याग, बलिदान और योग्यता की विजय हुई। सन् 1888 अपने अन्तिम चरण में था जब गुरुदत्त की कृपा से आर्यसमाज के

आकाश पर अच्युतानन्द नाम की पवित्र ज्योति का प्रादुर्भाव हुआ। गुरु शिष्य बन गया और शिष्य गुरु। नवम्बर के प्रथम सप्ताह में स्वामी जी ने मण्डली छोड़ दी तथा आर्यसमाज में सम्मिलित हो गए। गुरुदत्त के समक्ष उनके संशय इस प्रकार मिट गए जैसे सूर्य के सामने ओस। स्वामी अच्युतानन्द कहा करते थे, ''गुरुदत्त का सच्चा प्रेम, अथाह योग्यता और अपूर्व गुण हमें आर्यसमाज में खींच लाए। जनता में हमारा परिचय करवाते हुए उन्होंने जो अपूर्व व्याख्यान दिया था, वह अत्यन्त आश्चर्यजनक था। हृदय से वह भाव कभी पृथक् नहीं हो सकता।''[13]

जिस हठीले अच्युतानन्द ने ऋषि दयानन्द से शास्त्रार्थ समर में पराजित होकर भी पराजय नहीं मानी थी, आज वही उसके शिष्य के चरणों में अस्त्र-शस्त्र फेंक चुका है। आज वह उसी ऋषि का भक्त है – उसी के प्रति उसे श्रद्धा हो गई है। श्रद्धा भी इतनी कि जब कई वर्ष पीछे पण्डित चमूपति ने उनसे पूछा, ''स्वामी जी, नवीन वेदान्त विषय पर आपका शास्त्रार्थ महर्षि दयानन्द से हुआ था, उसका कुछ वृत्तान्त सुनाइए।'' तो गर्व से बोले, ''मैं मण्डली सहित मण्डप में पहुँचा।'' चमूपति पूछ बैठे, ''और ... और मेरा ऋषि?'' बस, एकदम बाँध टूट गया। स्वामी जी की आँखों में आँसू छलक आए। हृदय की श्रद्धा आँखों का पानी बनकर बह निकली। गला रुन्ध गया। भर्राई हुई आवाज में बोले, ''ऋषि! ऋषि!! वह ऋषि तो केवल अपने प्रभु के साथ पधारे थे।'' इतना कहते ही बिलख-बिलखकर रोने लग गए। ऋषि के प्रति उनमें इतनी श्रद्धा पैदा कर दी थी गुरुदत्त ने।

इस कायाकल्प के पश्चात् वे चारों संन्यासी कुछ मास पर्यन्त पण्डित गुरुदत्त के घर पर ठहरे रहे। उन्हें वेदज्ञ गुरुदत्त की संगति में इतना आनन्द आया कि वे उसे छोड़ना ही नहीं चाहते थे। सारा समय शास्त्र-चर्चा चलती रहती। धर्म जिज्ञासु गृहस्थी भी आते और अपनी शंकाओं का निवारण करवाकर चले जाते। कोई प्रतिदिन पंचमहायज्ञविधि पढ़ने आ रहा है, तो कोई अन्य ग्रन्थ। कोई वैदिक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने आता, तो कोई किसी जीवन-गुत्थी को सुलझवाने के लिए। बस, एक आश्रम बन गया था उनका घर। फिर भी निजी स्वाध्याय से विमुख न हुए। इस वर्ष अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। दस उपनिषद्, गोपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, चरक शास्त्र, निरुक्त के कुछ भाग तथा सूर्य सिद्धान्त का विशेष अध्ययन किया। ऋषिकृत वेदाङ्गप्रकाश की सहायता से महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य पढ़ा। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का खूब पारायण किया। सत्यार्थप्रकाश में से मुक्ति विषय तो अनेक बार

पढ़ा। एण्ड्रयूजैक्शन डेविस के ग्रन्थ भी बड़े चाव से पढ़े। इस भारी कार्यभार ने उनका शारीरिक ढाँचा तोड़ दिया परन्तु धर्मवीर ने सब कुछ धैर्यपूर्वक सहा और जो आया उसे पढ़ाने व सहायता करने में आनाकानी नहीं की। किसी से भेदभाव नहीं किया। मेघ किसके खेत में नहीं बरसता? सूर्य किसकी झोंपड़ी को प्रकाशित नहीं करता?

शंका समाधान का सिलसिला निरन्तर जारी रहता था। एक बार स्वामी स्वात्मानन्द पूछने लगे: ''क्षत्रियों को मांस-भक्षण की आवश्यकता है या नहीं।'' पण्डित जी बोले, ''बिल्कुल नहीं। नामधारी सिख तथा ग्रामीण किसान मांसाहार के बिना ही वीर हैं। वीरता के लिए संकल्प शक्ति चाहिए। इसीलिए योगेश्वर कृष्ण के उपदेश ने अर्जुन को वीर बना दिया था। हाँ, वीर बनने में ब्रह्मचर्य बहुत सहायक है।'' नवम्बर 1888 में स्वामी प्रकाशानन्द ने दर्शन शास्त्रों के उच्च कोटि के विद्वान् स्वामी इच्छानन्द का परिचय पण्डित गुरुदत्त से करवाया। पण्डित जी से प्रभावित होकर स्वामी जी ने आर्यसमाज के लिए जीवन समर्पित कर दिया और विधिवत् आर्यसमाज लाहौर के सभासद बन गए।[4ख]

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में आर्यसमाज जालन्धर का तीसरा वार्षिकोत्सव मनाया जाना था। खूब तैयारियाँ की गईं। महात्मा मुन्शीराम ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर भाषण दिए। पण्डित लेखराम से भी प्रचार करवाया। पण्डित लेखराम ने ईश्वरीय ज्ञान वेद विषय पर जो भाषण दिए, उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। लाहौर से पण्डित गुरुदत्त इन चारों साधुओं, लाला साईंदास, दुर्गाप्रसाद व महात्मा हंसराज आदि लगभग चालीस आर्य बन्धुओं सहित रेल गाड़ी द्वारा 25 दिसम्बर दोपहर जालन्धर पधारे। दोपहर बाद नगर कीर्तन था। आगे-आगे एक व्यक्ति के हाथ में ओ३म् पताका थी। उसके पीछे गुरुदत्त अपनी साधु मण्डली सहित वेदमन्त्रों का पाठ करते जा रहे थे। उनके पीछे थे नगर निवासी मस्ती में प्रभु भक्ति के गीत गाते हुए। ऋषि के सैनिक ऐसी मस्ती में थे कि सुनने वाले भी झूम उठे। भोला बादशाह गुरुदत्त कन्वोकेशन गाउन पहने ही घूम रहा था।

जब नगर कीर्तन समाप्त हुआ तो सबने मिलकर सन्ध्या तथा अग्निहोत्र किया। स्वामी स्वात्मानन्द ने सन्ध्या की विधि तथा रहस्य पर प्रकाश डाला। बहुत रात तक आर्यबन्धु पण्डित जी तथा साधुओं से शंका समाधान करवाते रहे। मुन्शीराम ने गुरुदत्त से पूछा – ''जब साधुओं के लिए ब्रह्मयज्ञ का विधान नहीं है, तो आपके सत्संग में रहने वाले संन्यासी दोनों काल सन्ध्या

तथा यज्ञ क्यों करते हैं?'' पण्डित जी बोले – ''यह विधान सर्वत्यागी, महान् योगी एवं सांसारिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त संन्यासियों के लिए है। परन्तु जो साधु गृहस्थ से भोजनादि प्राप्त करते हैं और उनकी सेवा में लगे हुए हैं, उन्हें सन्ध्या तथा अग्निहोत्र कर ही लेना चाहिए।''[3घ] पण्डित जी ने अपने कथन की पुष्टि में से श्वेताश्वतरोपनिषत् से निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किया:

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥ 2.13।।

रात की गाड़ी से लाला साईंदास व महात्मा हंसराज आदि परोपकारिणी सभा की बैठक में भाग लेने के लिए अजमेर चले गए परन्तु गुरुदत्त उत्सव के कारण जालन्धर रुके रहे।

26 दिसम्बर प्रातःकाल स्वामी अच्युतानन्द का नवीन वेदान्त के खण्डन में संस्कृत में व्याख्यान हुआ। सभा में अनेक पौराणिक पण्डित भी विद्यमान थे। एक पौराणिक ने भरी सभा में इन्हीं स्वामी जी द्वारा पूर्वरचित उपनिषद्भाष्य दिखाकर कहा, ''इसमें क्या लिख रखा है और अब क्या अनर्थ करने लगे हो?'' स्वामी जी ने झटपट उत्तर दिया – ''यह भी तो मेरा ही ग्रन्थ है। अब आँखें खुलने पर मैंने ही उसका संशोधन कर लिया है।'' बस, फिर क्या था? काटो तो खून नहीं। सन्नाटा छा गया।

तीसरे पहर शंका समाधान का समय था। लोगों ने वहाँ के प्रसिद्ध वेदान्ती अतरसिंह को वेदी पर ला बैठाया। वह मौनी बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। उनका पक्ष था कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने उत्तर देने थे। वे कह रहे थे कि आर्यसमाज का त्रैतवाद का सिद्धान्त स्वयं सिद्ध है क्योंकि यदि जगत् को मिथ्या मान लिया जाए तो मौनी बाबा जगत् के अन्तर्गत हैं, अतः उनका पक्ष भी मिथ्या है। परन्तु शास्त्रार्थ तो तब हो जब मौनी बाबा अपना मौन व्रत खोलें। वह तो चुप्पी साधे बैठे रहे। आए थे शास्त्रार्थ करने परन्तु गुरुदत्त के दर्शन मात्र से मुँह पर ताला लग गया। अन्त में उन्हें नीचे बुला लिया गया। फिर कुछ भद्र पुरुषों ने विधवा-विवाह तथा नियोग पर प्रश्न किए जिनका उत्तर स्वामी स्वात्मानन्द ने दिया। तत्पश्चात् पण्डित जी का विधवा-विवाह पर युक्तियुक्त भाषण हुआ। व्याख्यान का इतना प्रभाव पड़ा कि देवराज के पिता राय शालिगराम विधवा-विवाह के पक्षपोषक बन गए। करतारपुर[14] के एक सज्जन ने तो अपनी बाल विधवा पुत्री का विवाह करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

26 दिसम्बर रात को गुरुदत्त ने 'भावी धर्म' विषय पर अंग्रेज़ी में

भाषण दिया। आरम्भ में लम्बी गम्भीर भूमिका बाँधी, फिर घोषणा की – ''वैदिक धर्म का भविष्य में समस्त विश्व का धर्म बनना निश्चित है।'' श्रोताओं पर जादू-सा होता जा रहा था। इतनी थोड़ी आयु में भाषा पर इतना अधिकार और भावों की इतनी गम्भीरता! सब आश्चर्यचकित थे कि न जाने इतनी सुन्दर पृष्ठभूमि के पश्चात् क्या अमृतवर्षा होगी? इतने में महात्मा मुन्शीराम किसी कार्यवश उठे तथा किसी अन्य व्यक्ति को मंच सम्भालकर चले गए। उसने गुरुदत्त को लिखकर दे दिया, ''आप के पश्चात् बाबू बेचाराम अपील करेंगे।'' उस भले मानस ने सोचा होगा कि अंग्रेज़ी में भाषण के बाद दान नहीं मिलेगा। अत: अन्तिम अपील जनभाषा में हो जानी चाहिए। गुरुदत्त अनुशासन प्रिय थे। मान-अपमान की भावना तथा निजी इच्छाएँ सर्वथा मारकर रख दी थीं, इसलिए पाँच मिनट में ही भाषण समाप्त कर दिया। बेचारे बेचाराम ने एड़ी चोटी का जोर लगाया परन्तु बात न बन पाई। हाँ, शिक्षित समुदाय तथा अंग्रेज़ उठकर चले गए। सब की जिह्वा पर एक ही वाक्य था– ''इतनी अच्छी भूमिका के पश्चात् न जाने पण्डित जी क्या निष्कर्ष निकालते। भाषण बीच में रुकवाकर हमारे साथ अन्याय हुआ है।''

28 दिसम्बर प्रात:काल की बात है। पण्डित जी ने मुन्शीराम के घर दुग्धपान किया, फिर वे दोनों तथा बालकराम देवराज की हवेली की ओर चल दिए। रास्ते में बालकराम पूछने लगे – ''पण्डित जी! राष्ट्रीय कांग्रेस के बारे में आपकी क्या राय है?'' यह सुनते ही पण्डित जी खड़े हो गए, मानो उनकी अन्तरात्मा उद्विग्न हो उठी हो। बोले – ''राष्ट्रीय कांग्रेस के बारे में मेरी क्या राय है? अच्छा, एक विस्तृत मैदान में लकड़ियों का ढेर लगाकर उसमें आग लगा दीजिए। उस ढेर के चारों ओर ऊँचे मीनारों पर पानी के नल लगा दीजिए। फिर एक ओर तो भड़की हुई आग में ईंधन डालते जाइए और दूसरी ओर नलकों में से सीधी जलधारा उस ज्वाला पर छोड़ते जाइए। यह है वह राष्ट्रीय कांग्रेस जिसका उद्देश्य वैधानिक आन्दोलन है।''[3च] दो-तीन वर्ष पूर्व स्थापित कांग्रेस अभी प्रार्थनापत्रों तक ही सीमित थी। ऋषि दयानन्द प्रतिपादित स्वधर्म, स्वभाषा, स्वदेशी तथा स्वराज्य अभी उसका लक्ष्य निर्धारित नहीं हुआ था। अत: ज्ञानदीप्त गुरुदत्त की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। उन्हें देश से इतना प्रेम था कि हड्डियों तक का भारत से बाहर भेजे जाने का विरोध किया करते थे। उनका विचार था कि ये हमारे देश के खेतों की जान हैं, अत: विदेश नहीं जाने देनी चाहिएँ।[2ख] राष्ट्रप्रेम के कारण ही पण्डित जी लाजपतराय को देशसेवा के क्षेत्र में कूदने के लिए प्रेरित करते रहते थे।

उन्होंने इतिहास का अध्ययन करके समझ लिया था कि यह देश सामाजिक व धार्मिक क्रान्ति के बिना पाँव में पड़ी जंजीरें नहीं तोड़ सकेगा, अत: उसी कार्य में लग गए। वह नींव के पत्थर बने और स्वतन्त्रता के भव्य भवन को अपने ऊपर सहारा दिया परन्तु हमारी दृष्टि नींव के पत्थरों को कहाँ देख पाती है? हमें दिखाई देती हैं केवल दीवारें, छत और उन पर की गई चित्रकारी।

गुरुदत्त की भाँति श्यामजीकृष्ण वर्मा भी अपनी 'इण्डियन सोसिऑलॅजिस्ट' नामक पत्रिका में कांग्रेस के अंग्रेज़ी नेताओं पर टीका-टिप्पणी किया करते थे। वास्तव में उस समय के आर्यों को अंग्रेज़ द्वारा स्थापित कांग्रेस पर विश्वास नहीं था।[18] उन आर्यों जैसी देशभक्ति कहाँ मिलेगी? आर्यसमाज लाहौर के प्रधान साईंदास 1881 में भी केवल स्वदेशी वस्त्र पहनते थे। उन्हें इस बात का दु:ख था कि काशी के पौराणिक पण्डितों ने लार्ड रिपन की गाड़ी खींचकर देश का अपमान किया है। वे नहीं चाहते थे कि कोई अंग्रेज़ की नौकरी करे और इस प्रकार उसे अपरोक्ष रूप से सहयोग दे। वे प्राय: युवकों को ऐसा करने से रोकते थे। महात्मा गाँधी के कार्यक्षेत्र में अवतरित होने से बहुत पूर्व आर्यसमाज स्वदेशी तथा असहयोग का क्रियात्मक आन्दोलन आरम्भ कर चुका था। पण्डित गुरुदत्त से लेकर साधारण आर्यसमाजी तक सभी एक ही रंग में रंगे हुए थे। इसीलिए वे अंग्रेज़ों के विरोधी थे। जिसने घाव किया, वही मरहम लगाएगा – उन्हें यह विश्वास ही नहीं था।

28 दिसम्बर दोपहर को रामदयालु इंजीनियर ने पण्डित जी से प्रार्थना की, ''आप एक व्याख्यान अवश्य दे दीजिए क्योंकि आपका पहला भाषण अधूरा रह जाने से जनता की तृप्ति नहीं हुई।'' गुरुदत्त को भाषण देने का व्यसन तो था नहीं। अत: कहने लगे, ''जब तक कोई नई बात न सूझे तब तक भाषण देने का वचन कैसे दे सकता हूँ?'' सचमुच उनका नियम था– 'कहो, परन्तु इसलिए नहीं कि तुम्हें अवश्य कुछ कहना ही है अपितु इसलिए कि तुम्हारे पास कहने के लिए कुछ है।'

जब दोपहर बाद मुन्शीराम तथा बालकराम के साथ पण्डित जी भी धर्मसभा के जलसे में चलने लगे तो बालकराम ने रोकना चाहा। बहुतेरा समझाया – ''आप हमारे नेता हैं, आपका वहाँ जाना शोभा नहीं देता। भाषणों का विवरण तो हम ला देंगे।'' भला, गुरुदत्त नेतागिरी के चक्कर में कहाँ फँसने वाले थे? बस, सुनी अनसुनी कर दी और साथ हो लिए। वहाँ भाषण सुनकर उन्हें विचार सूझ गया। उसी समय रात के भाषण की सूचना दे दी

गई। दो हजार के लगभग नर-नारी एकदम आर्यसमाज मन्दिर पहुँच गए। प्रभुभक्त ने ईश्वर के सच्चे स्वरूप का निरूपण किया तथा मूर्तिपूजा का खण्डन। जब पण्डित जी ने दर्दभरे शब्दों में कहा, ''मुझे बड़ा कष्ट होता है, मेरा हृदय विदीर्ण हो जाता है जब मैं देखता हूँ कि मेरे ही पिता के पुत्र, मेरे ही भाई चेतन के पुत्र होते हुए जड़ का पूजन करते हैं''– तो जनता हिल गई। सच्चे हृदय से निकले शब्दों का इतना प्रभाव पड़ा कि वजीर कर्मसिंह जैसे मूर्तिपूजक ने, जिसके घर में प्रतिष्ठित मूर्तियों का भार एक मन से कम न था, भविष्य में मूर्तिपूजा न करने की प्रतिज्ञा की। और तो और, धर्मसभा के प्राण पण्डित जविन्दलाल भी मान गए कि आज मूर्तिपूजा की जड़ कट गई।

महात्मा मुन्शीराम ने 29 दिसम्बर प्रात: की एक घटना लिखी है। उससे पण्डित जी के चिन्तन पर प्रकाश पड़ता है। अत: घटना का उन्हीं के शब्दों में आनन्द लेना अच्छा रहेगा। महात्मा जी लिखते हैं – ''भाई देवराज के कचहरी वाले कमरे में तीन खिड़कियों वाले ऊँचे चबूतरे पर संन्यासी मण्डल बैठा हुआ है और उसके बड़े दालान के एक ओर एक चारपाई पर पण्डित गुरुदत्त जी लेटे हुए हैं। उनका एक चेला (चौधरी रामभजदत्त) चारपाई की पाटी पकड़े नीचे बैठा है। गुरु-शिष्य में कुछ गोष्ठी हो रही है। अकस्मात् मेरा बुलावा आता है। ''मुन्शीराम जी, इधर आइए।'' मैं जाकर चारपाई पर बैठ जाता हूँ – ''कहिए! क्या आज्ञा है?'' पण्डित जी ने प्रश्न पूछा, ''सच कहिए, क्या एक आदमी वकालत करते हुए पुण्यात्मा रह सकता है?'' मेरे उत्तर में पल की देर न थी। ''मेरा अनुभव यह है कि नहीं रह सकता।'' इस पर पण्डित जी ने अपने शिष्य से कहा, ''जिनका तुमने दृष्टान्त दिया था, जब वे भी मानते हैं कि एक धार्मिक मनुष्य के लिए यह पेशा ठीक नहीं तो तुम मुख़तारी का ख्याल क्यों नहीं छोड़ देते? तुम स्वयं शिक्षा ग्रहण कर कहीं शिक्षक बनो। इस प्रकार तुम सैंकड़ों युवकों को सदाचारी बना सकोगे।'' रामभजदत्त ने अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य समझकर सिर झुका दिया।[3ङ] पण्डित गुरुदत्त स्वयं भी अध्यापन कार्य करते रहे। इसकी तह में यही विचार काम कर रहा था। वे कथनी के नहीं, करनी के धनी थे।

दोपहर बाद गुरुदत्त फिर धर्मसभा का उत्सव सुनने गए। वहाँ कपूरथला निवासी दीवान रामजस, सी.एम.आई. ने लम्बी बातचीत के पश्चात् उनसे पूछा, ''जब दोनों संस्थाओं की धर्म पुस्तक एक है तो फिर क्या मेल सम्भव नहीं?'' पण्डित जी बोले -''असम्भव तो नहीं परन्तु सारी समस्या

समझने के लिए पहले रात को मेरा भाषण सुनिए। फिर कल दो-तीन घण्टे विचार- विमर्श करेंगे। हो सकता है कि कुछ बन पड़े।'' दीवान जी ने रात्रि को पधारने का वचन दे दिया। जब पौराणिकों को पता चला तो उनके पेट में पानी पड़ गया। यदि दीवान जी ने गुरुदत्त का भाषण सुन लिया तो कहीं वे भी आर्यसमाजी न बन जाएँ – उन्हें यही चिन्ता सताने लगी। चिन्ता निराधार भी नहीं थी। जादूगर ही ऐसा था। जब दीवान जी की बग्घी आर्यसमाज मन्दिर के सामने जाकर खड़ी हुई तो अच्छरुमल मिश्र ने उनके पाँव पकड़ लिए और कहा कि यदि आप ने गुरुदत्त का भाषण सुन लिया तो ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। विवश होकर दीवान जी वापिस चले गए। पण्डित जी ने कार्यक्रमानुसार अपना भाषण दे दिया। वाह रे धर्म के ठेकेदारो! ज्ञान के प्रकाश से इतना भय? दूसरे की बात सुनने का भी साहस नहीं।

इस उत्सव का एक लाभ यह रहा कि महात्मा मुन्शीराम तथा पण्डित गुरुदत्त में मैत्री गहरी हो गई। गुरुदत्त ने स्वीकार किया, ''यदि मैं यहाँ न आता तो शायद हमेशा के लिए एक सहयोगी को खो बैठता।'' मुन्शीराम ने भी स्वयं लिखा है, ''प्रिय गुरुदत्त को मिलकर मुझे नया धार्मिक बल मिलता है।'' स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वलिखित जीवन-चरित में पण्डित गुरुदत्त की चर्चा सर्वत्र बहुत आदर के साथ की है।[15] इसीलिए जॉर्डन ने लिखा है, ''अन्ततः पहली बार उन्हें (श्रद्धानन्द को) पण्डित गुरुदत्त एक ऐसा घनिष्ठ मित्र मिला जो करीब-करीब उनका गुरु था।''[16]

पण्डित गुरुदत्त बहुत निडर थे। वे एक दिन संसारचन्द्र के साथ लाहौर की ठण्डी सड़क पर भ्रमण कर रहे थे। पीछे से एक अंग्रेज़ अधिकारी की तेज़ दौड़ती हुई घोड़ा-गाड़ी आई। उन दिनों अंग्रेज़ ठण्डी सड़क पर अपना एकाधिकार समझते थे। अतः गुरुदत्त को सड़क से हटने के लिए कहने की आवश्यकता ही न समझी गई। पण्डित जी को हण्टर मारकर राह छोड़ने का संकेत दिया गया। गुरुदत्त ने लपककर घोड़ा पकड़ लिया। एक भारतीय इतनी हिम्मत करे, यह अंग्रेज़ से सहन न हुआ। उसने नीचे उतरकर पण्डित जी पर कोड़े बरसाने आरम्भ कर दिए। पण्डित जी ने तुरन्त अपनी टोपी और पुस्तक संसारचन्द्र को सौंप दी और अपने बूट से अंग्रेज़ की अच्छी पिटाई की। सहमा हुआ अंग्रेज़ किसी भारतीय का इतना साहस देखकर चकित था। वह अपनी पिटाई करवाकर चुपचाप गाड़ी पर बैठ गया और पूछने लगा: ''कौन हो तुम?'' ''राजकीय कॉलेज, लाहौर में विज्ञान का प्रोफेसर गुरुदत्त हूँ'' – उत्तर मिला।[17]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेज़ का बड़ा आतंक था। वे प्रशासन तथा न्यायपालिका के स्वामी थे। यदि कोई अंग्रेज़ किसी भारतीय नौकर की हत्या भी कर देता था तो भी दण्ड से बच जाता था। बीसवीं सदी के आरम्भ तक एक अंग्रेज़ पर किसी भारतीय के हाथ उठाने का प्रमाण नहीं मिलता। **स्वाभिमानी गुरुदत्त इस देश का सम्भवतः पहला क्रान्तिकारी था।**

पण्डित जी का विश्वास था कि बच्चे ही आर्य जाति का सर्वस्व हैं। नवयुवक ही जाति का पुनरुत्थान कर सकते हैं। इसलिए युवकों में उन्हें विशेष रुचि थी और छात्रावास में विद्यार्थियों को मिलने आते रहते थे। उन दिनों छात्रालय मोरी दरवाजा के अन्दर स्थित था और भक्त रैमलदास उसके प्रबन्धक व निरीक्षक थे। एक दिन पण्डित जी शिवनाथ, हेमराज तथा एक अन्य व्यक्ति के साथ उधर आ निकले। विद्यार्थियों को इकट्ठा किया, पहले उन्हें कुछ उपदेश दिया और फिर पूछा – तुम किसी से डरते तो नहीं? सबने एक ही उत्तर दिया – हम क्यों डरने लगे किसी से? जब कुछ दिन बीत गए तो पण्डित जी ने विद्यार्थियों की निर्भीकता की परीक्षा लेनी चाही। विद्यार्थी प्रायः सायंकाल को टकसाली दरवाजे के बाहर नदी की ओर भ्रमणार्थ जाया करते थे। एक शाम पण्डित जी ने अपने दो-तीन मित्रों को साथ लिया, ग्रामीण लोगों के कपड़े पहने और हाथों में लम्बी-लम्बी लाठियाँ लेकर उन्हें जा घेरा। कुछ अन्धेरा हो चुका था। विद्यार्थी उन्हें पहचान न सके। पण्डित जी ने उन्हें बहुत डराया-धमकाया, कपड़े तक उतरवा लिए और फिर छात्रालय की ओर भगा दिया। दो-तीन दिन के बाद पण्डित जी फिर छात्रालय गए, पहले विद्यार्थियों के साथ इधर-उधर की बातें कीं और फिर वही प्रश्न पूछा। विद्यार्थियों ने भी घढ़ाघढ़ाया उत्तर दिया – हमें कौंन डरा सकता है? फिर पण्डित जी ने उस घटना का भेद खोला तो बड़े लज्जित हुए। तब पण्डित जी ने उन्हें समझाया, "आर्यों का प्रथम कर्त्तव्य है कि वे किसी के सामने नतमस्तक न हों। संसार में कायर कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। लाठियों के सामने झुकना मनुष्यता नहीं है। आर्यवीर केवल सत्य के समक्ष झुकता है। केवल निर्भीक व्यक्ति का जीवन ही जीवन है। उसे संसार का कोई प्रलोभन अथवा भय पथभ्रष्ट नहीं कर सकता।"

पण्डित गुरुदत्त ने 1888 में इतना कार्य किया जितना साधारण व्यक्ति दस वर्ष में भी सम्पन्न नहीं कर सकता। इस एक वर्ष का कार्य एवं उपलब्धियाँ उन्हें महापुरुषों में उच्च स्थान दिलवाने के लिए पर्याप्त हैं। इस वर्ष स्वर विज्ञान का अध्ययन किया। वेद मन्त्रों के शुद्ध तथा सस्वर पाठ की विधि का प्रचलन किया। दिग्गज साधुओं को आर्यसमाजी बनाया। व्याख्यान दिए। लेख

तथा ग्रन्थ लिखे। पाश्चात्य लेखकों के द्वारा आर्यधर्म पर किए गए पक्षपातपूर्ण आक्षेपों के उत्तर दिए। इसके अतिरिक्त शिक्षित वर्ग इस विद्यावारिधि के पास शंका समाधान के लिए आता रहा। कोई प्यास बुझाने आता, तो कोई उनके अपरिमित ज्ञान की थाह पाने के लिए। परन्तु पण्डित जी गूढ़ से गूढ़ प्रश्न का उत्तर सरलता से देते थे। दार्शनिक गुत्थी उनके समक्ष गुत्थी ही न रहती। युवक दार्शनिक ने चौबीस वर्ष की अल्पायु में ही संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, वैदिक साहित्य, अष्टाध्यायी, भाषा विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, नक्षत्र विज्ञान, शरीर विद्या, आयुर्वेद, दर्शन शास्त्र, इतिहास, गणित आदि का जो सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया था, उसे देखकर बड़े-बड़े विद्वान् चकित रह जाते थे। उनके ज्ञान का अनुमान लगाना पर्वत को तोलना था।

यह ठीक है कि इस वर्ष पण्डित जी ने बहुत कार्य किया परन्तु इसके लिए उन्हें अपने स्वास्थ्य की बलि देनी पड़ी। उनकी पंजिका से प्राप्त निम्नलिखित अंशों से विदित होता है कि सारा वर्ष रोग ने पीछा नहीं छोड़ा[18]-

''कई बार रुधिर बहा, बहुत खेद'' (12 जनवरी 1888)
''शौच के रास्ते लहू आने से पीड़ित'' (14 जनवरी 1888)
''अत्यधिक रुग्ण हो गया।'' (22 जनवरी 1888)
''मेरा व्याधिकाल आरम्भ होता है।'' (1 फरवरी 1888)
''बहुत रुग्ण, लहू तथा निर्बलता।'' (12 फरवरी 1888)
''अभी अजीर्ण दूर नहीं हुआ।'' (1 मार्च 1888)
''जी बहुत मतलाता है और नाक से लहू की दो बूँदे गिरीं।'' (16 मार्च 1888)
''शौच के रास्ते बहुत लहू आया।'' (1 अक्तूबर 1888)
''जी मतलाना'' (2 अक्तूबर 1888)

रुग्ण होने पर भी धुन का धनी धर्म प्रचार के कार्य में जुटा ही रहा।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. आर्य पत्रिका, 29 नवम्बर 1887, पृष्ठ 6
2. लाजपतराय, जीवन चरित्र पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी एम.ए. (उर्दू), संस्मरण भाग, (क) डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज (मॉरिशस) का संस्मरण, पृष्ठ 16, (ख) केदारनाथ थापर का संस्मरण, पृष्ठ 36
3. श्रद्धानन्द, कल्याण मार्ग का पथिक, (क) पृष्ठ 146, (ख) पृष्ठ 159-60, (ग) पृष्ठ 171, (घ) पृष्ठ 162, (ङ) पृष्ठ 166, (च) पृष्ठ 164

4. आर्य समाचार,(क) पौष सम्वत् 1944 वि., पृष्ठ 278-9,(ख) माघ संवत् 1945 वि.
5. आर्य समाचार, माघ सम्वत् 1944, आर्य गज़ट, 8, 15 जनवरी 1888, गुलराजगोपाल गुप्त, परोपकारिणी सभा के अधिवेशनों का रिपोर्ट संग्रह (1883-1926), पृष्ठ 41-2
6. आर्य पत्रिका, 7 फरवरी 1888, पृष्ठ 6
7. आर्य गज़ट, 8, 15 फरवरी 1888
8. मोनियर विलियम्स, इण्डियन विज़डॅम, प्रस्तावना, पृष्ठ 3, भूमिका, पृष्ठ 36
9. मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृष्ठ 9
10. पण्डित गुरुदत्त के निधन के समय उनका ज्येष्ठ पुत्र सदानन्द दो वर्ष का था और छोटा बेटा केवल चार महीने का। छोटा बेटा चेचक के रोग से मध्य नवम्बर 1895 में चल बसा (द्रष्टव्य: गण्डाराम, सवाने उमरी शहीद अकबर पण्डित लेखराम व तवारीख आर्यसमाज, हिस्सा दोम, पृष्ठ 100)। सदानन्द ने एम.एस-सी. की, आरम्भ में गवर्नमेन्ट कॉलेज में डेमॅन्स्ट्रेटर लगे, फिर प्रोफेसर बने, गवर्नमेन्ट कॉलेज मुलतान में वाइस-प्रिंसिपल रहे। देश विभाजन के पश्चात् दिल्ली में रहते रहे। उनकी योग में गहरी रुचि थी। लगता है कि यह प्रवृत्ति उन्हें अपने पिता से बपौती में मिली थी।
11. आर्य पत्रिका, (क) 13 नवम्बर 1888, (ख) 4 दिसम्बर 1888
12. इन्द्र विद्यावाचस्पति का यह कथन कि गुरुदत्त ने स्वामी अच्युतानन्द से संस्कृत व्याकरण पढ़ा (द्रष्टव्य: आर्यसमाज का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 201), निराधार है।
13. स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती के हृदय परिवर्तन की पूरी कथा उनके निजी संस्मरण के रूप में 'जीवन चरित्र पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी (उर्दू)' के संस्मरण भाग में पृष्ठ 18-25 पर वर्णित है। साथ ही देखिए : चमूपति, पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा का सचित्र इतिहास, पृष्ठ 38-39,
14. करतारपुर जिला जालन्धर (पंजाब) में एक छोटा कस्बा है। इसके निकट कभी गंगापुर ग्राम था। यही गंगापुर गुरुवर स्वामी विरजानन्द दण्डी की जन्मभूमि थी (रामप्रकाश, गुरु विरजानन्द दण्डी, पृष्ठ 2, 3, 6, 7)।
15. उदाहरणार्थ स्वामी श्रद्धानन्द ने 'कल्याण मार्ग का पथिक' में लिखा है — "पण्डित गुरुदत्त के थोड़े-से ही सत्संग ने मेरी काया पलट दी। ... छोटा-सा शरीर किन्तु मुख पर चन्द्र की कान्ति और सूर्य के तेज़ की शोभा, गम्भीर किन्तु सरल ध्वनि।"
16. जे.टी.एफ. जार्डन, स्वामी श्रद्धानन्द, पृष्ठ 29
17. प्रकाश (साप्ताहिक), 14 नवम्बर 1930, पृष्ठ 11; राजेन्द्र जिज्ञासु, मुनिवर पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, पृष्ठ 138-139
18. द्रष्टव्य: लाजपतराय, ऑटोबाइऑग्रैफिकल राइटिंग्ज़

साहित्य सृजन

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने धार्मिक जगत् को वाणी तथा लेखनी द्वारा अपने ज्ञान का लाभ पहुँचाया। वे चाहे कितने व्यस्त रहे परन्तु साहित्य सृजन का महत्त्व कभी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हुआ। विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने लेख लिखने आरम्भ कर दिए थे। शुरू में उनके लेख आर.सी. बेरी की मैगज़ीन 'दि आर्य' में छपते रहे। बाद में द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, आर्य पत्रिका तथा वैदिक मैगज़ीन को यह गौरव प्राप्त हुआ। उनके लेख गम्भीर, खोजपूर्ण, दार्शनिक तथा शास्त्रीय होते थे। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् उनका आदर्श था। कम पृष्ठों में अधिक बात कह देना उनकी विशेषता थी। गागर में सागर भरना उनका गुण था। अद्भुत प्रतिभा के धनी थे वे। विचित्र लेखनी थी उनकी। वेद मन्त्र का अर्थ करते हैं, तो लगता है जैसे किसी ऋषि को मन्त्र के साक्षात् दर्शन हो रहे हों। उनकी उपनिषद् टीका पढ़ने से ऐसा आभास होता है, जैसे किसी योगी के समक्ष आध्यात्मिक रहस्य स्वत: प्रकाशित हो रहे हों। दार्शनिक गुत्थी सुलझाते हैं, तर्क करते हैं तो गुरुदत्त देव दयानन्द के मानस-पुत्र कहलाने के निर्विवाद अधिकारी हैं। वस्तुत: जैसा ऋषि के भाव को उन्होंने समझा, ग्रहण किया और अभिव्यक्त किया, वैसा शायद ही कोई समझ पाया हो अथवा व्यक्त कर सका हो। उन्होंने वैदिक धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझा था। इसीलिए उनके लेखों में सावधानीपूर्ण बुना शब्द जाल नहीं, अपितु योगियों जैसी निश्चयात्मकता है। प्रचार की दृष्टि से आर्यसमाज के साहित्य में गुरुदत्त की कृतियाँ बेजोड़ हैं।

ऋषि दयानन्द के जीवनकाल में पण्डित गुरुदत्त के केवल तीन लेख प्रकाशित हुए थे। शेष सभी लेख कायाकल्प के पश्चात् लिखे गए थे। पण्डित जी के कुछ पुराने लेख 1888 ई. में पहली बार पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। उस वर्ष कुछ नई पुस्तकें भी लिखीं। पण्डित जी के उपलब्ध साहित्य का विवरण इस प्रकार है–

राइचॅसनस ऑर अनराइचॅसनस ऑफ़ फ्लेश ईटिंग (मांस-भक्षण का औचित्य अथवा अनौचित्य)

कॉलेज विषयक असन्तोष से बहुत पूर्व ऋषि दयानन्द के जीवन काल में ही गुरुदत्त ने मांसाहार के औचित्य-अनौचित्य पर एक लेख

'दि आर्य' के अगस्त 1882 (पृष्ठ 131-4) अंक के लिए लिखा था। गोकरुणानिधि के आधार पर लिखा यह लेख मांस-भक्षण को नैतिक तथा उपयोगितावाद के आधार पर अनुचित ठहराता है।[1क]

रिलिजन (धर्म)

उन्नीस वर्ष की अल्पायु में धर्म के आदि मूल के विषय में लिखे इस लेख का कुछ भाग ही अब उपलब्ध है।[1ख] अभी गुरुदत्त ने ऋषि दयानन्द के दर्शन नहीं किए थे। तब वे दुविधाग्रस्त थे परन्तु उनकी भाषा तथा अभिव्यक्ति अनूठी है।

द नेचर ऑफ़ कॉन्शॅन्स (अन्तःकरण का स्वरूप)

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का सर्वप्रथम लिखा उपलब्ध लेख 'द नेचर ऑफ़ कॉन्शॅन्स' है। यह आर.सी.बेरी की मासिक मैगज़ीन 'दि आर्य' के अगस्त 1882 के अंक में छपा था। इस पर लेखक का नाम पण्डित गुरा दत्ता विद्यार्थी छपा है जिससे स्पष्ट है कि अभी संशोधित होकर गुरुदत्त नाम नहीं बना था परन्तु उन्हें विद्वता के कारण पण्डित कहा जाता था। अठारह वर्ष की अल्पायु में एक गूढ़ दार्शनिक विषय पर लिखा यह लेख उनके गहरे स्वाध्याय, गहन चिन्तन एवं पैनी दृष्टि का आभास करवाता है, साथ ही ब्रह्मसमाज के दार्शनिक आधार के खोखलेपन को प्रदर्शित करता है। इस लेख में उनकी सोच पर बैन्थम से लेकर जॉन स्टुअर्ट मिल और ऋषि दयानन्द तक का गहरा प्रभाव स्पष्ट है।[1ग]

कॉन्शॅन्स एन्ड दि वेदाज़ (अन्तःकरण और वेद)

'कॉन्शॅन्स एन्ड दि वेदाज़' इस लेखमाला का दूसरा भाग है। यह 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' में 14 तथा 21 अप्रैल 1884 को क्रमशः पृष्ठ 1-4 तथा 1-3 पर छपा था। इस लेख का जो भाग 21 अप्रैल के अंक में प्रकाशित हुआ था, वह कभी पुस्तिका रूप में नहीं छपा। लेख ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता पर बल देता है।[1घ]

रिलिजॅस सर्मन्ज (धार्मिक विषयों पर संक्षिप्त उपदेश एवं अनुबन्ध)

किसी पंजाबी ब्रह्मसमाजी ने 'शॉर्ट सर्मन्ज एन्ड एसेज़ ऑन रिलिजॅस सब्जेक्ट्स' नामक पन्द्रह पृष्ठ का एक पैम्फ़लेट प्रकाशित किया था। यह लेख इसकी समीक्षा है जो आर्य पत्रिका में 2 जनवरी 1886 को छपी थी।[1ङ]

ब्रह्मसमाज पर पण्डित जी के यही तीन लेख उपलब्ध हैं।

ऑरिजिन ऑफ़ थॉट एन्ड लैंग्विज (विचार तथा भाषा की उत्पत्ति)

विचार तथा भाषा की उत्पत्ति विषयक उनका यह लघु लेख 'द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त' में 16 जून 1884 को प्रकाशित हुआ। बाद में विरजानन्द प्रेस, लाहौर व आर्यन ट्रैक्ट सोसाइटी, लाहौर[2] ने क्रमशः 1888 और 1893 में इसे पुनः मुद्रित किया। इस लेख में विद्वान् लेखक ने वेद को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध किया है।[1च]

द टर्मिनॉलॅजि ऑफ़ दि वेदाज़ (वैदिक संज्ञा विज्ञान)

पण्डित गुरुदत्त की यह प्रसिद्ध पुस्तिका 12 फरवरी 1888 को प्रकाशित हुई। वस्तुतः यह निबन्ध 1885 में आर्य पत्रिका के प्रथम वर्ष के चौथे, सातवें, चौदहवें तथा सतारहवें अंकों में क्रमशः 11 जुलाई, 1 अगस्त 19 सितम्बर तथा 10 अक्तूबर को प्रकाशित हो चुका था। तब गुरुदत्त बी.ए. में पढ़ते थे। इस लेख में पण्डित जी ने महीधर, रावण, सायण आदि भारतीय तथा मैक्समूलर आदि विदेशी विद्वानों की वैदिक संज्ञाओं की परिभाषाओं को दोषयुक्त, अधूरी एवं मिथ्या बताया है। उन्होंने निरुक्तकार के अनुसार वैदिक संज्ञाओं को यौगिक माना है, न कि रूढ़ि।[1छ]

गुरुदत्त ने यह पुस्तक गुरुदेव दयानन्द को निम्नलिखित शब्दों में कृतज्ञता प्रकाशन के साथ समर्पित की थी:

''अपने समय के एकमात्र वैदिक विद्वान्
स्वामी दयानन्द सरस्वती
की स्मृति में
उनके सच्चे एवं अनुरक्त प्रशंसक
लेखक द्वारा समर्पित

लाहौर: 12 फरवरी 1888 गुरुदत्त विद्यार्थी''

समर्पण की भाषा स्पष्ट शब्दों में उनके हृदय की भावनाओं को प्रदर्शित कर रही है। ऋषि के प्रति उनकी श्रद्धा के विषय में लाला लाजपतराय लिखते हैं – ''मैं निजी अनुभव के आधार पर विश्वास दिला सकता हूँ कि आर्यसमाज के समस्त इतिहास में यह आस्था अपवाद रूप थी। जितना गुरुदत्त विद्यार्थी ने दयानन्द का अध्ययन किया, उतना ही वे स्वभाव से उस गुणी सुधारक के भक्त बन गए। उसकी आस्था अन्ध श्रद्धा नहीं थी अपितु जितनी सुबोध थी, उतनी ही सशक्त थी।''[3क]

द टर्मिनॉलॅजि ऑफ़ दि वेदाज़ एन्ड यूरोपियन स्कॉलर्ज़

गुरुदत्त ने 1889 में वैदिक संज्ञा विज्ञान तथा यूरोपीय विद्वान्[1ज]

शीर्षक से एक और निबन्ध प्रकाशित किया। यह 1888 में लिखे पहले निबन्ध की अगली कड़ी थी। विद्वान् लेखक ने यह लेख वैदिक मैगज़ीन के अगस्त व सितम्बर 1889 के दूसरे व तीसरे अंकों में प्रकाशित किया। दोनों निबन्धों में वेदभाष्य की शुद्ध आर्षशैली का प्रतिपादन किया गया है और मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, सायण आदि द्वारा किए गए अर्थों की अशुद्धियाँ प्रदर्शित की गई हैं। गुरुदत्त के अनुसार विदेशी लेखक वैदिक संज्ञाविज्ञान, भाषा एवं दर्शन से अनभिज्ञ थे। शॉपनहार भी उनकी योग्यता के विषय में लिखते हैं, ''मैं इस विशेष सन्देह को रोक नहीं सकता कि ये संस्कृतज्ञ अपने ग्रन्थों को इतने से अधिक नहीं समझते जितना उच्चतर श्रेणी के स्कूल छात्र ग्रीक तथा लेटिन को समझते हैं।''[1झ] ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में स्पष्ट लिखा है, ''जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता, उस देश में एरण्ड ही को बड़ा वृक्ष मान लेते हैं। वैसे ही यूरोप देश में संस्कृत विद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगों और मोक्षमूलर साहब ने थोड़ा-सा पढ़ा, वही उस देश के लिए अधिक है।''

इन पुस्तकों का केवल साहित्यिक तथा अनुसंधानात्मक महत्त्व ही नहीं है अपितु धार्मिक दृष्टि से भी यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। जहाँ ऋषि दयानन्द ने वेदभाष्य रचकर भारतीय पण्डितों के हाथों से वैदिक धर्म की डूबती हुई नैय्या को बचा लिया था, वहाँ गुरुदत्त विद्यार्थी ने विदेशियों द्वारा अंग्रेज़ी में किए जा रहे आक्रमणों का उन्हीं की भाषा में उत्तर देकर इस धर्म की रक्षा की। ऋषि का साहित्य हिन्दी-संस्कृत में था, अतः विदेशी उससे पूरा लाभ नहीं उठा पाते थे। गुरुदत्त विद्यार्थी ने आचार्य दयानन्द के वैदिक विचारों को आंग्ल-भाषा में प्रस्तुत करके पश्चिम के लिए खिड़की खोल दी। खिड़की भी ऐसी जिससे वे आर्यावर्त देश की सच्ची एवं वास्तविक झाँकी पा सकें।

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के वेद विषयक लेख भारतीय एवं विदेशी विद्वानों को भेजे जाते थे। इन्हें पढ़कर इंग्लैंड निवासी फ्रैड्रिक पिनकॉट ने लिखा था, ''बहुत कम भारतवासी आ सदृश मुहावरेदार विद्वत्तापूर्ण अंग्रेज़ी लिख सकते हैं। मुझे आप जैसे विचारशील एवं परिश्रमी युवक से विचार-विनिमय करते हुए अपार प्रसन्नता हो रही है। मेरे मित्र ने मुझे बताया है कि आप अभी युवा ही हैं- यह सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई क्योंकि मैं आशा करता हूँ कि आप अपने परिश्रम और उपलब्धियों से भारत को प्रबुद्ध करने में अधिकाधिक योगदान कर सकोगे। ... यह निबन्ध आपके गहन अध्ययन

तथा मौलिक विचारक होने का प्रमाण है। ... वेदों में प्रयुक्त पद यौगिक हैं, इस धारणा को प्रकट करके आपने अपने पाठकों का बहुत उपकार किया है। ... आपका यह कथन सत्य ही है कि वेदों के जिन महान् भाष्यकारों की प्राय: प्रशंसा की जाती है (अभिप्राय सायण और महीधर से है), उन्हें हमारी अपेक्षा वैदिक पदों का बहुत अधिक ज्ञान नहीं था।''[उख] वस्तुत: इन रचनाओं के कारण पण्डित जी की ख्याति देश-प्रदेश की सीमाएँ लांघ गई और वैदिक संज्ञा विज्ञान का उल्लेख मैक्समूलर ने भी अपनी पुस्तक में किया।[क] यह कृति ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में स्नातक कक्षा के लिए संस्कृत की पाठ्य-पुस्तक बन गई। परतन्त्रता के जिस युग में भारतीयों को भारत में ही काला, कुली तथा काफ़िर कहकर पुकारा जाता था और उन्हें इतना अयोग्य माना जाता था कि साधारण स्कूल का मुख्याध्यापक अंग्रेज़ होता था, उस काल में पच्चीस वर्ष के एक भारतीय युवक की पुस्तक को विश्व स्तर पर इतनी मान्यता प्राप्त हो जाना निस्सन्देह अकेले उसका ही नहीं, अपितु गुरुदेव दयानन्द, आर्यसमाज तथा समूचे राष्ट्र का अभिनन्दन है। इससे भारत का गौरव बढ़ा। फूल डाल का पीछे, पहले उपवन का शृंगार है।

वैदिक टेक्स्ट्स नम्बर 1-3 (वेद वाक्य 1-3)

पण्डित जी के वेद वाक्य शीर्षक से तीन लेख प्रकाशित हुए।[ज] वेद वाक्य प्रथम भाग का विषय वायु मण्डल है। इसमें ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के दूसरे सूक्त के प्रथम मन्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। यह लेख 28 दिसम्बर 1886 को आर्य पत्रिका में छपा था। दूसरा भाग – जल की रचना – इससे भी पूर्व 13 जुलाई 1886 की आर्य पत्रिका में प्रकाशित हो चुका था। इसमें निम्नलिखित मन्त्र

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिषादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता॥ ऋ. 1.2.7

के आधार पर हाईड्रोजन तथा ऑक्सीजन के मेल से जल का बनना सिद्ध किया गया है। कई सहस्र वर्षों के पश्चात् ऋषि दयानन्द के अतिरिक्त गुरुदत्त विद्यार्थी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने वेद मन्त्रों से विज्ञान के तत्व इतने स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किए हैं। चार-पाँच पृष्ठ के इस छोटे से लेख पर लेखक को पीएच.डी. दी जा सकती है। कालान्तर में गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार से प्रकाशित होने वाली 'वैदिक मैगज़ीन' के आषाढ़ संवत् 1968 वि. (जुलाई 1911) के अंक में किसी एस.एन. राय ने इस व्याख्या की आलोचना में एक लेख लिखा

था। इस समीक्षा का खण्डन इसी मैगज़ीन के श्रावण तथा भाद्रपद 1968 वि. के अगले अंकों में प्रकाशित दो लेखों में प्रबुद्ध पाठकों ने किया। वेद वाक्य तीसरे भाग का शीर्षक 'गृहस्थ' रखा गया है। इसका आधार ऋग्वेद के तीन मन्त्र (1.50.1-3) हैं। यह तीनों लेख भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गए परन्तु प्रकाशित इसी वर्ष (1888) हुए। वेदभाष्य की जिस शैली का प्रतिपादन पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने अपने ग्रन्थों में किया है, ये लेख उस शैली के अनुसरण का सफल प्रयोग है। सम्भवत: ये निबन्ध वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक सिद्ध करने के लिए लिखे गए हैं। ये सभी पुस्तिकाएँ पण्डित जी के सहयोगी एवं मित्र मास्टर दुर्गाप्रसाद के विरजानन्द प्रेस, लाहौर से काशीराम मुद्रक द्वारा मुद्रित होकर प्रकाशित की गई थीं।

संहिताओं का प्रकाशन

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी की वेदों पर असीम श्रद्धा थी। वेदार्थ समझने के लिए ही उन्होंने अष्टाध्यायी तथा निरुक्त का अध्ययन किया था। उन्होंने चारों वेद संहिताओं को सम्पादित कर विरजानन्द प्रेस, लाहौर से दो रंगी छपाई में प्रकाशित करवाया था।[5] ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद संहिताएँ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर के उल्लेख सहित क्रमश: 1889, 1889 तथा 1890 में मुद्रित की गई थीं। अथर्ववेद संहिता में ऋषि, देवता आदि का निर्देश नहीं था।

ईशोपनिषत्

केवल वैदिक धर्मावलम्बियों ने ही नहीं, अपितु अनेक विधर्मी तथा विदेशियों ने भी उपनिषदों के गीत गाए हैं। मंसूर तथा सर्मद ने सिर दे दिए परन्तु उपनिषदों के सिद्धान्तों को छोड़ने के लिए उद्यत न हुए। दाराशिकोह आजीवन उपनिषदों पर मुग्ध रहे। शॉपनहार ने तो यहाँ तक लिखा है, ''समस्त संसार में, संहिताओं के अतिरिक्त, कोई भी अध्ययन इतना लाभप्रद तथा उन्नत करने वाला नहीं है जितना उपनिषद् का। यह मेरे जीवन की ढाढ़स रहा है और मेरी मृत्यु की ढाढ़स रहेगा।''[4ख] परन्तु कई विद्वान् इनके गम्भीर तत्व को नहीं समझ पाए। यही कारण है कि मैक्समूलर आदि पाश्चात्य तथा राजा राममोहनराय आदि भारतीय विद्वानों के उपनिषद् भाष्य अशुद्ध, सारहीन तथा भ्रान्तिपूर्ण हैं।[7] गुरुदत्त विद्यार्थी ने मैक्समूलर आदि के भाष्यों को पढ़ा तो बहुत दुखी हुए। उन्होंने 30 अगस्त 1888 की पंजिका में लिखा था, ''मैंने उपनिषदों पर मूलर को पढ़ा है। वह कितना गलत लिखता है! खेद, कोई भी उसे ठीक करने वाला तथा हमारे अर्धशिक्षित देशवासियों को उनकी गलती बताने वाला नहीं है।''[3ग]

जब गुरुदत्त विद्यार्थी ने स्वयं ईशोपनिषद् रूपी ज्ञान सागर में डुबकी लगाई तो रत्न ही रत्न खोज निकाले। उनका आह्लाद 5 सितम्बर 1888 की डायरी में लिखे शब्दों से स्पष्ट है – ''कितना वरदान है धर्म! परन्तु धर्म प्रदत्त आनन्द का अनुभव करने के लिए प्रभु के मूल नियम को समझना अनिवार्य है।''[3घ] इसीलिए जनकल्याण की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने ईशोपनिषद् का अनुवाद आरम्भ कर दिया। तब 9 सितम्बर 1888 को उन्होंने लिखा था, ''ईशोपनिषद् पर लगभग दो पृष्ठ लिखे। मैंने अभी पहला मन्त्र समाप्त नहीं किया परन्तु जैसे ही मैं आगे बढ़ता हूँ, विषय अधिकाधिक आकर्षक, निर्मल तथा आश्चर्यजनक बनता जाता है और मैं केवल एक या दो पृष्ठ लिखने का ही आनन्द ले पाता हूँ।''[3घ]

सर्वप्रथम वाजसनेय संहितोपनिषत् वा ईशोपनिषत् अंग्रेज़ी व्याख्या सहित प्रकाशित किया गया।[6क] यह उन उपनिषदों में से एक है जिन्हें ऋषि दयानन्द ने मान्यता दी है। यह टीका उनकी मौलिक सूझ-बूझ का परिणाम है। इसमें उन्होंने अपने विज्ञान के अध्ययन का पूरा लाभ उठाया है। अभी यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का ऋषि दयानन्द कृत भाष्य छपा नहीं था। अत: स्वतन्त्र बुद्धि से लिखे जाने पर भी ऋषि के भाष्य के साथ कहीं विरोध नहीं है। शैली भिन्न-भिन्न परन्तु भाव एक ही हैं। कहीं-कहीं स्वामी जी के मन्त्रपाठ से पाठभेद है क्योंकि गुरुदत्त ने मन्त्रपाठ स्वामी शंकराचार्य के भाष्य से उद्धृत किया है। ऋषि दयानन्द ने सतरह मन्त्र दिए हैं परन्तु गुरुदत्त के उपनिषद् पाठ में अठारह मन्त्र हैं। तीसरे मन्त्र में विद्यार्थीजी ने '**प्रेत्याभिगच्छन्ति**' तथा ऋषि दयानन्द ने '**प्रेत्यापि गच्छन्ति**' पाठ लिया है। छठे मन्त्र में गुरुदत्त '**विजुगुप्सते**' तथा ऋषि '**वि चिकित्सति**' पढ़ते हैं। ऋषिवर ने पन्द्रहवें मन्त्र का पिछला अर्धभाग निम्नांकित प्रकार लिया है:

ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिवे स्मर। कृतं स्मर।

परन्तु गुरुदत्त ने इसे सतरहवें मन्त्र में इस प्रकार लिया है:

ओ३म् क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर।

पहले आठ मन्त्रों के पश्चात् मन्त्र क्रम में भी भेद है। ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य के चालीसवें अध्याय में जिन मन्त्रों की क्रम संख्या 9, 10, 11, 12, 13, 14 तथा 16 है, वही पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के ईशोपनिषद् पाठ में क्रमश: 12, 13, 14, 9, 10, 11 तथा 18 हैं। सतरहवें मन्त्र का कुछ पाठ गुरुदत्त ने पन्द्रहवें मन्त्र में लिया है। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द के पन्द्रहवें तथा गुरुदत्त के सतरहवें मन्त्र में पाठ भेद है। अत:

इस पाठ भेद के कारण कुछ भिन्नता स्वाभाविक थी।

भाष्य इतना सुन्दर बन पड़ा है कि लाला लाजपतराय ने इसकी बहुत प्रशंसा की है।[3ङ] चिन्तन की व्यापकता, भावों की श्रेष्ठता, शैली की सुन्दरता, अर्थशक्ति और हृदय-ग्राह्यता की दृष्टि से यह भाष्य बेजोड़ है। इस भाष्य में अकथनीय प्रवाह है। मननशील पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। स्वामी पूर्णानन्द ने एक बार पण्डित जी से कहा था, ''उपनिषदों में क्या रखा है? मैंने टीका सहित पढ़े हैं।'' परन्तु जब पण्डित जी ने ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र की व्याख्या सुनाई, तो इतने प्रभावित हुए कि आर्यसमाजी बन गए।

माण्डूक्योपनिषत्

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने माण्डूक्योपनिषत् का अंग्रेज़ी अनुवाद किया तथा टीका लिखी, जो सर्वप्रथम वैदिक मैगज़ीन में जुलाई 1889 में प्रकाशित हुई।[6ख] इसमें '**ओ३म्**' की जो व्याख्या की गई है, वह पढ़ते ही बनती है। प्रकाण्ड पण्डित एवं योगी गुरुदत्त का यह लेख प्रभुभक्तों के लिए विशेष लाभप्रद है।

मुण्डकोपनिषत्

जिन दिनों पण्डित गुरुदत्त ने मुण्डकोपनिषत् का अनुवाद किया[6ग] तब वे बहुत बीमार थे। अतः वे चारपाई पर लेटे-लेटे बोलते जाते थे और मास्टर दुर्गाप्रसाद लिखते रहते थे। पण्डितजी इसका अनुवाद तो पूरा कर गए परन्तु व्याख्या लिखने से पूर्व चल बसे।[8]

एविडॅन्सिज़ ऑफ़ ह्यूमन स्पिरिट (जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण)

पण्डित जी का यह लेख वैदिक मैगज़ीन के अगस्त तथा सितम्बर 1889 के क्रमशः दूसरे व तीसरे अंक में छपा था। इस लेख में चार्ल्स ब्रैडले, ऐलिग्जान्डर बेन, हर्बर्ट स्पेन्सर, थॉमस हेनरी हक्सले, निकलसन, रास्को, हूपर, हण्टर, रश, व्हिट, स्थाल, एण्ड्रयू जैक्शन डेविस, डार्विन, हैकल, टैनीसन, डॉक्टर लुडविग बुचनर, कुलन, ब्राऊन, वुंड्ट, ब्राऊसेस आदि पश्चिमी दार्शनिकों, विचारकों, वैज्ञानिकों एवं कवियों की मान्यताओं, वैज्ञानिक वादों, तथा बाइबिल, कुरान, बुद्धमत, ब्रह्मसमाज के विचारों का पातञ्जल योगदर्शन, वैशेषिकदर्शन, न्यायदर्शन, प्रशस्तपाद भाष्य, गीता तथा सत्यार्थप्रकाश की मान्यताओं के आधार पर विश्लेषण है।[6घ] वस्तुतः यह प्रश्नोपनिषद् (4.9) की व्याख्या है। इस निबन्ध के पढ़ने से गुरुदत्त की विद्वत्ता, परिश्रम और असीम ज्ञान का पता चलता है।

द रिऑल्टिज़ ऑफ़ इनर लाइफ़ (आन्तरिक जीवन की वास्तविकताएँ)

पण्डित गुरुदत्त ने आन्तरिक जीवन की वास्तविकताओं पर अंग्रेज़ी में एक भाषण आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर दिसम्बर 1887 में दिया था। यह पहली बार पण्डित जी के देहावसान के पश्चात् 7 अगस्त 1890 को प्रकाशित हुआ।[6ङ]

मैन'ज़ प्रोग्रेस डाउनवार्ड्ज़ (मानव की अवनति)

विकासवादी पश्चिम का मत है कि सभी जातियों के ज्ञान में उत्तरोत्तर उन्नति होती रही है। इसी आधार पर वेद को प्राचीनतम होने के कारण असभ्य जाति की कृति बताया जाता है। इस लेख में इस धारणा का खण्डन कर यह दिखाया गया है कि जातियों के ज्ञान में केवल विकास ही नहीं अपितु ह्रास भी होता रहा है। यह लेख आर्य पत्रिका में 5 दिसम्बर 1885 को छपा था।[6च]

डार्विन एन्ड हिज़ थ्यूरी (डार्विन और उसका सिद्धान्त)

डार्विन थ्यूरी के आरम्भ के दिनों में की गई यह समीक्षा आज भी प्रासंगिक है।[6छ] इस लेख से इतना स्पष्ट है कि पण्डित जी की सोच अपने समय से बहुत आगे थी। यदि वे केवल वैज्ञानिक क्षेत्र में ही अनुसन्धान करते, तो उनकी गणना अपने समय के महान् वैज्ञानिकों में होती।

पिक्यूम्नेन्या (धन का भूत)

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने इस लेख में मनु (2.13)

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते।
धर्म्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

के आधार पर यह दर्शाया है कि धर्म के मार्ग में अर्थ-लिप्सा बाधक है। इसी विषय पर 13 अक्तूबर 1888 को आर्यसमाज पेशावर के उत्सव पर उन्होंने भाषण भी दिया था। यह लेख के रूप में वैदिक मैगज़ीन के जुलाई और अगस्त 1889 के पहले तथा दूसरे अंक में प्रकाशित हुआ था।[6ज]

मोनियर विलियम्स ऑन क्रिस्चेनिटि एन्ड अदर रिलिजन्स (मोनियर विलियम्स की ईसाइयत तथा अन्य धर्मों पर सम्मति)

ऋषि दयानन्द के प्रादुर्भाव से पूर्व ईसाई पादरी पूरी शक्ति से भारत में ईसाइयत का प्रचार करने में लगे हुए थे। वेदों के भी अन्यथा अर्थ किए जा रहे थे। इस प्रवाह को रोकने का प्रयास करने वाले भारतीयों में अग्रणी थे गुरुदत्त विद्यार्थी। मोनियर विलियम्स ने अपने एक भाषण में ईसाइयत

तथा अन्य धर्मों की तुलना करके यह दर्शाया था कि व्यास, बुद्ध, मुहम्मद आदि तो सब मर चुके हैं और उनकी हड्डियाँ ख़ाक हो चुकी हैं, केवल ईसा मसीह ही स्वर्ग में गया है। गुरुदत्त ने इस लेख में मोनियर विलियम्स की इस मान्यता की समीक्षा की है।[6झ]

ए रिप्लाइ टू सॅम क्रिटिसिज़्म ऑफ स्वामी'ज वेदभाष्य (स्वामी जी के वेदभाष्य पर कुछ समालोचना का उत्तर)

स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य पर कुछ समालोचना की गई। उसका उत्तर गुरुदत्त ने 23 जनवरी 1886 की आर्य पत्रिका में दिया।[6ञ]

ए रिप्लाई टू मिस्टर टी. विलियम्स ऑन नियोग (टी. विलियम्स के नियोग सम्बन्धी पत्र का उत्तर)

ईसाई पादरी टी.विलियम्स रेवाड़ी (हरियाणा) रहते थे। उसने आर्यसमाज के विरुद्ध बहुत तीखी भाषा में लेख तथा ट्रैक्ट लिखे थे।[9] पादरी महोदय ने 6 जुलाई 1889 को नियोग के विरुद्ध अंग्रेज़ी में पत्र लिखा। 'पं० दयानन्द का झूठ और उनकी गुनाह आलूदा तालीम' इसी लेख का उर्दू अनुवाद था। ऋग्वेद (10.10.10) के आधार पर लिखे गए इस लेख का पण्डित जी ने बहुत सुन्दर उत्तर दिया था, जो आर्यन ट्रैक्ट सोसाइटी, लाहौर ने 1890 में प्रकाशित किया था।

ए रिप्लाइ टू मिस्टर टी. विलियम्स' लेटर ऑन आइडॅलेट्रि इन दि वेदाज़ (टी. विलियम्स के वेद में प्रतिमा-पूजन विषयक पत्र का उत्तर)

पादरी टी.विलियम्स ने वेद में मूर्तिपूजन विषयक एक पत्र आर्य पत्रिका के सम्पादक को लिखा था। पादरी महोदय की बातों का गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा दिया गया उत्तर पत्र के साथ ही पाद-टिप्पणी के रूप में आर्य पत्रिका में छपा था।[10क] पादरी ने वेद वाक्य संख्या 1 से मूर्तिपूजा सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया।

मिस्टर टी.विलियम्स ऑन वैदिक टेक्स्ट नं. 1

पादरी टी.विलियम्स का वेद वाक्य नं. 1 सम्बन्धी 4 जून 1889 का लिखा यह पत्र आर्य पत्रिका में 18 जुलाई 1889 को छपा था। गुरुदत्त ने पादरी महोदय के आक्षेपों के जो उत्तर दिए थे, वे पाद-टिप्पणी के रूप में साथ ही छाप दिए गए थे।[10ख]

क्रिटिसिज़्म ऑन मोनियर विलियम्स' इण्डियन विज़डम (मोनियर विलियम्स की इण्डियन विज़डम की समालोचना)

पण्डित गुरुदत्त ने मोनियर विलियम्स द्वारा रचित इण्डियन विज़डम

की समीक्षा सम्बन्धी एक व्याख्यानमाला जुलाई 1888 में आर्यसमाज, लाहौर में आरम्भ की थी। जो भाषण दिए गए, उनकी कुछ सामग्री ही 1897 तक बच पाई थी। वही इन समीक्षात्मक लेखों में संग्रहीत है।[10ग]

मिस्टर पिनकॉट ऑन दि वेदाज़ (पिनकॉट की वेदों पर सम्मति)

यह इंग्लैंड निवासी फैड्रिक पिनकॉट महोदय के वेद सम्बन्धी लेख की समीक्षा है। यह सर्वप्रथम किस पत्रिका में कब छपा – ज्ञात नहीं।[10घ] पिनकॉट हिन्दी के अच्छे ज्ञाता और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मित्र थे।

गुरुदत्त की पुस्तक रूप में प्रकाशित रचनाएँ आरम्भ में मास्टर दुर्गाप्रसाद के विरजानन्द प्रेस में छपी थीं। विश्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर उनकी दो पुस्तकें, 'उपनिषदों का भाष्य' तथा 'जीवात्मा के प्रमाण' शिकागो (अमरीका) भेज दी गईं। इन पुस्तकों की वहाँ बहुत प्रशंसा हुई तथा किसी अमरीका निवासी ने इनके शिकागो संस्करण अपने व्यय से प्रकाशित करवा दिए। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी स्वयं अमरीका जाने की बात किया करते थे परन्तु उनके साथ आयु ने वफ़ा न की। यदि कहीं वह स्वयं विश्व धर्म सम्मेलन में भाग ले पाते तो जो यश एवं ख्याति उन्हें मिलती, वह केवल उन्हीं का भाग होती। उनकी गणना विश्व के प्रमुख मनीषियों में होती। शिकागो संस्करणों को 1893 में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने विरजानन्द प्रेस से छपवाया। वेद वाक्य तीसरा भाग स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती द्वारा 1894 में जी.पी. वर्मा एन्ड ब्रदर्ज़ प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित करवाया गया। नियोग सम्बन्धी पत्र का उत्तर 1890 में आर्यन ट्रैक्ट सोसॉइटी, लाहौर ने विरजानन्द प्रेस से छपवाया था। स्वामी वेदानन्द तीर्थ द्वारा सम्पादित '3 उपनिषद्ज विद कॉमेन्टरी' राजपाल एन्ड संज़, लाहौर ने प्रकाशित की थी। पण्डित ओमप्रकाश वैदिक मिशनरी जालन्धर (बाद में करनाल) ने लगभग 1980 में पिक्यून्मेन्या, द रिऑल्टिज़ ऑफ़ इनर लाइफ़ और कॉमेन्टरी ऑफ़ उपनिषद्ज़(ईश तथा माण्डूक्य) जालन्धर से छपवाकर प्रकाशित किए। इन पुस्तकों पर प्रकाशन तिथि नहीं है।

ये सभी पुस्तकें जहाँ अलग-अलग छपती रहीं, वहाँ इनके संकलन भी प्रकाशित हुए। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के मित्र लाला जीवनदास पैन्शनर उपप्रधान आर्यसमाज, लाहौर ने गुरुदत्त की सम्पूर्ण रचनाओं को पाण्डुलिपियों तथा उनके जीवनकाल में प्रकाशित पुस्तकों के साथ मिलान करके इकट्ठे छपवाया था। इसके आरम्भ में पण्डित जी की संक्षिप्त जीवनी भी छापी गई थी। संकलन का नाम रखा गया – 'द वर्क्स ऑफ़ लेट पण्डित गुरुदत्त

विद्यार्थी, एम.ए., विद ए बाइऑग्रॅफ़िकल स्केच'। इसे आर्यन प्रिंटिंग, पब्लिशिंग एन्ड जनरल ट्रेडिंग कम्पनी लिमिटेड, लाहौर ने प्रकाशित किया था। इसका अक्तूबर 1897 में प्रथम, 1902 में द्वितीय तथा 1912 में तीसरा संस्करण छपा था। पण्डित गुरुदत्त के समूचे लेखों का जेबी संस्करण भी प्रकाशित किया गया जिस का मूल्य केवल आठ आने था।[11] पण्डित जी की रचनाओं का संग्रह सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली द्वारा 'विज़डम ऑफ़ द ऋषिज़ : वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, एम.ए.' शीर्षक से सार्वदेशिक पुस्तकालय पटौदी हाउस, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इससे पूर्व स्वामी वेदानन्द तीर्थ द्वारा सम्पादित यह संग्रह राजपाल एन्ड संज़, लाहौर ने 1912 में प्रकाशित किया था।

किसी भी संकलन में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के सभी लेख उपलब्ध नहीं थे। अत: प्रस्तुत पुस्तक के लेखक (डॉ. रामप्रकाश) ने पण्डित जी के सभी लेखों को उनके जीवनकाल में प्रथम बार प्रकाशित लेखों के साथ मिलान कर सम्पादकीय टिप्पणियों सहित 'वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी' शीर्षक से 1998 में प्रकाशित करवाया।[12] यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें पण्डित जी के सभी लेख, लाला लाजपतराय को लिखे उनके कुछ पत्र तथा उनकी डायरी के कुछ अंश एक जिल्द में उपलब्ध हैं। साथ ही पण्डित जी की संक्षिप्त जीवनी तथा लाला जीवनदास द्वारा लिखी टिप्पणियों को भी सुरक्षित रखा गया है।

लाला जीवनदास द्वारा सम्पादित 'पेपर्स फ़ार द थॉटफुल नम्बर 1: वैदिक टर्मिनॉलॅजि (दोनों भाग)' पंजाब प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर से 1902 में छपा। उसी वर्ष इन्हीं लाला जी ने 'वर्क्स ऑफ़ लेट पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम.ए. पार्ट दो' भी प्रकाशित किया जिसमें नेचर ऑफ़ कॉन्शॅन्स एन्ड ब्रह्मसमाज, कॉन्शॅन्स एन्ड दि वेदाज़ – विद रेफ़रन्स टू ब्रह्मसमाज, रिलिजॅस सर्मन्ज, ए रिप्लाइ टू सॅम क्रिटिसिज़्म ऑफ़ स्वामी'ज़ वेदभाष्य, ऑरिजिन ऑफ़ थॉट एन्ड लैंग्विज, मैन'ज़ प्रोग्रेस डाउनवार्ड्ज़, तथा राइचॅसनस ऑर अनराइचॅसनस ऑफ़ फ्लेश ईटिंग सम्मिलित थीं।

गुरुदत्त का सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य अंग्रेज़ी में है। सर्वप्रथम मास्टर आत्माराम अमृतसरी ने ईशोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् तथा माण्डूक्योपनिषद् की टीका का हिन्दी अनुवाद किया था। मास्टर जी पण्डित जी के शिष्य थे तथा उन्हीं के भाषणों से प्रभावित होकर सरकारी नौकरी छोड़कर आर्यसमाज में

दीक्षित हुए थे। फिर वेद वाक्य संख्या 1-3 का हिन्दी अनुवाद स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती ने 1895 में लखनऊ से प्रकाशित करवाया। पण्डित गुरुदत्त की सभी रचनाओं का हिन्दी अनुवाद पहली बार पण्डित भगवद्दत्त तथा सन्तराम ने गुरुदत्त लेखावली के नाम से राजपाल एन्ड संज़, लाहौर से 1918 में छपवाकर प्रकाशित किया था। गोविन्दराम हासानन्द ने भी गुरुदत्त लेखावली वेदप्रकाश पत्र के विशेषांक के रूप में प्रकाशित की थी। इसे वेद प्रचारक मण्डल, नई दिल्ली तथा अनिता आर्ष प्रकाशन, पानीपत ने क्रमशः 1986 तथा 1990 में पुनः प्रकाशित किया।

महाशय वजीरचन्द आर्योपदेशक वर्षों आर्य मुसाफ़िर (उर्दू) के सम्पादक रहे। उन्होंने गुरुदत्त की कृतियों का उर्दू अनुवाद धारा प्रवाह आर्य मुसाफ़िर में छापा, उदाहरणार्थ – 'धन का डाह' अक्तूबर 1899 तथा जनवरी 1900, 'वैदिक टेक्स्ट नं० 2: अनासिर आब (पानी किन अज्जा से मुरक्कब हुआ है)' अप्रैल 1900, 'वैदिक टेक्स्ट नं० 3: गृहस्थ' सितम्बर 1900 और 'जीवात्मा की हस्ती की शहादतें' अगस्त, सितम्बर, अक्तूबर, दिसम्बर 1901, अप्रैल 1902 तथा सितम्बर 1904 में प्रकाशित हुए। महाशय वजीरचन्द की देख-रेख में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर ने आर्य पुस्तक प्रचार के ट्रैक्ट संख्या 20 तथा 22 के रूप में क्रमशः 'धन का डाह' और 'रुहानी ज़िंदगी की हक़ीक़तें' 1905 में प्रकाशित की थीं। माण्डूक्योपनिषद् का उर्दू अनुवाद ओंकार उपासना नाम से प्रकाशित हुआ था। ए रिप्लाई टू टी. विलियम्स ऑन नियोग का अनुवाद परमानन्द विद्यार्थी और रत्नलाल विद्यार्थी ने किया था। ये दोनों पुस्तिकाएँ भी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर ने ही प्रकाशित की थीं।

पण्डित जी ने कई और पुस्तकें भी लिखी थीं। एक पुस्तक में सन्ध्या का अंग्रेज़ी अनुवाद तथा व्याख्या थी। दूसरी पुस्तक में लाहौर में होने वाली समस्त सभाओं तथा समाजों का चित्ताकर्षक वृत्तान्त था। उन्होंने मनुस्मृति पर कुछ टिप्पणियाँ लिखी थीं। पण्डित जी उन्हें प्रकाशित करवाना चाहते थे परन्तु अचानक उनका निधन हो गया। फिर ये पाण्डुलिपियाँ न जाने कहाँ खो गईं। इस प्रकार ये पुस्तकें कभी भी प्रकाशित ही न हो पाईं तथा धार्मिक जगत् सदा के लिए उस अमूल्य निधि से वंचित रह गया। जीवनदास ने 1884 ई. में उर्दू में मसला-ए-इल्हाम नामक ट्रैक्ट लिखा था। इस ट्रैक्ट में ब्रह्मसमाज के उन पन्द्रह प्रश्नों का उत्तर दिया गया था जो वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के विषय में किए गए थे।[13] जीवनदास के आग्रह पर पण्डित जी ने इस पर टिप्पणी लिखी थी।[14] 'धर्म' पर भी उनका एक

लेख था। एक छोटा-सा रसाला शिवनारायण अग्निहोत्री के संन्यास पर लिखा था।[15] ये भी आज कहीं नहीं मिलते।

पण्डित जी प्राचीन वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार चाहते थे। उन्होंने कई अप्राप्य पुस्तकों को शोधकर पुन: प्रकाशित किया, उदाहरणार्थ – वैशेषिक दर्शन का प्रशस्तपादभाष्य[16] उन दिनों कहीं नहीं मिलता था। पण्डित लेखराम आर्य पथिक कश्मीर गए। वहाँ इसकी प्रति बड़ी खोज के पश्चात् उनके हाथ लग गई। पण्डित जी ने लाहौर आकर वह प्रति गुरुदत्त विद्यार्थी को दे दी। फिर विद्यार्थी जी ने उसे मास्टर दुर्गाप्रसाद के विरजानन्द प्रेस से मुद्रित करवाकर प्रकाशित किया। नि:सन्देह, यदि पण्डित जी कुछ समय और जीवित रहते तो वैदिक साहित्य की अमूल्य सेवा करते। उनके निधन से इस क्षेत्र में जो क्षति हुई है, वह कभी पूरी न हो सकेगी।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. रामप्रकाश(सम्पादक), वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, (क) पृष्ठ 178-182, (ख) पृष्ठ 289-300, यह लेख 1883 में लिखा गया था, (ग) पृष्ठ 195-198, (घ) पृष्ठ 199-206, (ङ) पृष्ठ 207-209, (च) पृष्ठ 51-53, (छ) पृष्ठ 1-12, (ज) पृष्ठ 13-50, (झ) पृष्ठ 13,(ञ) पृष्ठ 54-67

2. वैदिक सिद्धान्तों तथा आर्य धर्म पर अंग्रेज़ी में अधिकारी आर्य विद्वानों द्वारा लिखित लघु पुस्तिकाएँ प्रकाशित करने के लिए आर्यन ट्रैक्ट सोसायटी 1884 में लाहौर में स्थापित की गई थी। चार आने (एक रुपये का चौथा भाग) प्रति मास देकर इसका सदस्य बना जा सकता था। आजीवन सदस्यता शुल्क कम-से-कम बीस रुपये था (द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, 24 मार्च 1884, पृष्ठ 6)।

3. लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, (क) पृष्ठ 98, (ख) पृष्ठ 109, (ग) पृष्ठ 113, (घ) पृष्ठ 114, (ङ) पृष्ठ 111-131

4. एफ़. मैक्समूलर, द सेक्रिड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट, (क) खण्ड 32, पृष्ठ 544, (ख) खण्ड 14, भाग 2, द उपनिषद्ज़

5. पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने लेखक को 13 मई 1967 को पत्र द्वारा यह जानकारी दी थी कि पण्डित गुरुदत्त ने ही सर्वप्रथम विरजानन्द प्रेस, लाहौर से दो रंगों में चारों वेद छपवाए थे। लेखक ने तब प्रकाशित सामवेद संहिता की एक दुर्लभ प्रति डॉ. राजेन्द्र विद्यालंकार (कुरुक्षेत्र) को भेंट की है।

6. रामप्रकाश (सम्पादक), वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, (क) पृष्ठ 69-85, (ख) पृष्ठ 86-111, (ग) पृष्ठ 112-124, (घ) पृष्ठ 126-156, (ङ) पृष्ठ 157-165, (च) पृष्ठ 183-189, (छ) पृष्ठ 190-193, (ज) पृष्ठ 166-177, (झ) पृष्ठ 216-218, (ञ)

पृष्ठ 211-215

7. लाला लाजपतराय ने गुरुदत्त रचित उपनिषदों की टीकाओं की मैक्समूलर, आर्चिबाल्ड एडवर्ड गह, राजा राममोहनराय तथा पण्डित भीमसेन शर्मा के अनुवादों के साथ तुलनात्मक समीक्षा की है और गुरुदत्त के लेखों को कहीं अधिक उत्तम पाया है (द्रष्टव्य: 3 ङ उपरिलिखित)।

8. द्रष्टव्य: लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 126; परन्तु जीवनदास द्वारा सम्पादित द वर्क्स ऑफ़ लेट पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के पृष्ठ 112 की पाद-टिप्पणी में लिखा है कि दुर्गाप्रसाद ने अनुवाद किया और पण्डितजी ने संशोधन। भाषा तथा शैली की दृष्टि से लाला लाजपतराय का मत सही है।

9. टी.विलियम्स, एक्सपोज़र ऑफ़ दयानन्द सरस्वती एन्ड हिज फ़ॉलोअर्ज, पृष्ठ 14-18; नियोग के सम्बन्ध में पादरी टी. विलियम्स के इस पत्र तथा पण्डित गुरुदत्त के उत्तर के लिए द्रष्टव्य: रामप्रकाश (सम्पादक), वर्क्स ऑफ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, पृष्ठ 270-276

10. रामप्रकाश (सम्पादक), वही, (क) पृष्ठ 264-269, (ख) पृष्ठ 262-63, (ग) पृष्ठ 219-255; क्रिटिसिज़्म ऑन मोनियर विलियम्स इण्डियन विज़डम 1890 में दुर्गाप्रसाद के विरजानन्द प्रेस में प्रकाशनार्थ छप रही थी परन्तु यह सम्भवत: 1892 में प्रकाशित हुई। इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। इसे 1893 में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने भी प्रकाशित किया था; (घ) पृष्ठ 256-261

11. द्रष्टव्य: जीवनदास (सम्पादक), द वर्क्स ऑफ़ लेट पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम.ए., तीसरे संस्करण के अन्त में छपा विज्ञापन

12. रामप्रकाश डॉक्टर (सम्पादक), वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, 1998; टिप्पणी संख्या 1, 5 तथा 9 में लिखी पृष्ठ संख्याएँ इसी संस्करण की हैं।

13. मसला-ए-इल्हाम का विज्ञापन 'भारत सुदशा प्रवर्तक' के नवम्बर 1884 के अंक में प्रकाशित है। अत: यह पुस्तिका 1884 में लिखी गई होगी।

14. रामप्रकाश डॉक्टर (सम्पादक), वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, पृष्ठ 278-79

15. सद्धर्म प्रचारक, 19 जुलाई 1890 के पृष्ठ 11 पर प्रकाशित लाजपतराय का पत्र

16. ऋषि दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में संस्तुत पाठ्य-विधि में इसे पढ़ाने का निर्देश है।

योगाभ्यास

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी की कार्यक्षमता आश्चर्यजनक थी परन्तु उससे भी अधिक विस्मयोत्पादक थी उनकी सहनशक्ति जिसके कारण वे रुग्णावस्था में भी इतना कार्य हँसते-हँसते करते रहे। उनकी अद्‌भुत सहनशक्ति का एक कारण था योगाभ्यास। पण्डित जी ऋषि दयानन्द के कार्य को पूरा करने के लिए उन जैसा विद्वान्, तपस्वी और योगी बनने के लिए कृतसंकल्प थे। वैसे बाल्यावस्था से ही वैरागी का योग की ओर झुकाव रहा है। कहीं इकलौता बेटा साधु न बन जाए– इसी भय से तो माँ ने ताड़ना की थी परन्तु हृदय और जल का प्रवाह रुका नहीं करता। मृत्युञ्जय दयानन्द के दर्शन के पश्चात् योग सीखने की इच्छा और भी तीव्र हो गई थी। परिणामस्वरूप कॉलेज के दिनों में योगाभ्यास आरम्भ कर दिया था। प्राणायाम भी बहुत करते थे। उनका विश्वास था कि संसार में सबसे उपयोगी वस्तु बिना मूल्य ही मिला करती है। इसलिए असाध्य रोगों की सर्वोत्तम औषधि वायु है तथा यह वायु प्राणायाम द्वारा रामबाण बन जाती है। इससे मनुष्य बलवान् तथा हृष्ट-पुष्ट बनता है। पण्डित गुरुदत्त मानते थे कि बिना योग के विद्या अधूरी है। अष्टाध्यायी, दर्शन शास्त्र आदि आर्ष ग्रन्थ इसीलिए पूर्ण हैं कि उनके रचयिता योगी थे। ऋषि दयानन्द भी योगी होने के कारण अल्प समय में अधिक कार्य कर गए। आत्मोन्नति के अभिलाषियों को वे कहा करते थे कि अष्टाध्यायी से लेकर वेद पर्यन्त पढ़ो तथा अष्टांग योग की साधना करो।[1] यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि अष्टांग योग विधि पर चलने के लिए वह सबसे प्रतिज्ञा करवाते थे। उस समय यम नियम की इतनी चर्चा थी कि लाहौर के प्रत्येक बगीचे में कॉलेज के छात्र प्राणायाम करते मिलते थे।[2]

यदि मुनिवर गुरुदत्त की डायरी मिली होती तो योग सम्बन्धी अनेक रहस्यों का पता चलता परन्तु जो भी उद्धरण उपलब्ध हैं, उनसे उनकी इस क्षेत्र में लग्न व गति का परिचय मिलता है। मुनिवर लिखते हैं:

''आज से आधा घण्टा प्रतिदिन अपने पवित्र कर्त्तव्यों को अर्पित करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।'' (14 जनवरी 1884)

''प्रचण्ड अग्नि! तू अवश्य धधक। अहा! मेरी बुद्धि को परिपक्व बना दे।'' (18 फरवरी 1885)

''योग– इसका मुझे अनुसरण करना चाहिए।'' (1 मार्च 1885)

''एक क्रान्ति! क्यों न समस्त भावनाओं और अनुरागों को समाप्त कर दूँ तथा मिल और दयानन्द में मिल जाऊँ? अथवा क्या अनुराग अपना प्रभाव जमा लेगा? क्या जीवन में ध्येय बना ही रहता है अथवा मृत्यु के समय अशान्ति छोड़ जाता है?'' (24 अप्रैल 1885)

''मुझे योगाभ्यास अवश्य करना चाहिए अन्यथा व्यर्थ बातों से कोई लाभ नहीं।'' (21 जून 1886)

''मुझे योगाभ्यास के लिए प्रयत्न करना चाहिए और जीवन में उपदेशक बनना चाहिए।'' (16 जनवरी 1887)

''अमरत्व! मेरा स्वप्न तुम हो!
मेरा लक्ष्य तुम हो!!
प्रभु , प्रेरणा दीजिए!!!'' (30 जून 1887)

अगले दिन पण्डित जी ने इन्हीं वाक्यों को अपनी पंजिका में पुनः दो बार अक्षरशः लिखा। अतः पण्डित गुरुदत्त के सामने एक निश्चित लक्ष्य था। बस, वे उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जुट गए। समय-समय पर उन्होंने इस प्रसंग में पंजिका में लिखा :

''मैंने योग की सामान्य क्रियाएँ कीं।'' (25 जनवरी 1887)

''दो आसन सीखे।'' (8 जुलाई 1887)

''मेरे व्रत का प्रथम दिवस।'' (14 नवम्बर 1887)

''प्रतिदिन एक घण्टा निरोध योग को समर्पित करने का प्रण।'' (25 नवम्बर 1887)

पण्डित गुरुदत्त का कई योगियों से परिचय था। उन्होंने 1889 में अपने परिचितों को एक सच्चिदानन्द नामक योगी की जानकारी दी थी कि वह पूर्ण आर्य है और नेपाल के पर्वतों में विचर रहा है।[3] एक बार लाला साईंदास के मकान पर एक योगी की प्रशंसा करते हुए कहा कि वह मुँह के रास्ते अपने पेट में दस गज लम्बी और सवा गज चौड़ी लट्ठे की धोती ले जा सकता है तथा इसे एक-दो मिनट पेट में रख कर फिर निकाल लेता है। लाला जी ने कहा कि यह तो हठ योग है। आप कोई अपना अनुभव बताएँ। इस पर गुरुदत्त बोले– बस, इतना ही कह सकता हूँ कि समाधि के समय मुझे जो प्रकाश दिखाई देता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इस योगाभ्यास से मुझे ऐसे रहस्य स्पष्ट हुए हैं जो बुद्धि और तर्क से परे हैं।[4]

योग सीखने की इच्छा इतनी प्रबल थी कि जहाँ कहीं किसी योगी के प्रवास या पधारने का पता चलता तो अनेक कार्य छोड़कर भी वहाँ पहुँचते और

लाभ उठाते। मुनिवर की दैनिक पंजिका में 14 जनवरी 1884 से 5 सितम्बर 1888 तक लगभग तीस बार योगियों से मिलने, योगविद्या सीखने तथा अभ्यास करने का उल्लेख मिलता है। एक बार एक योगी पण्डित लाहौर पधारे। पण्डित जी नित्य चार बजे सायं उसके पास जाकर योग की शिक्षा लेते और धार्मिक विषयों पर वार्तालाप करते थे। उनके विषय में डायरी में लिखा:

''आज मैं ... के साथ पण्डित जी को मिलने गया। मैं उन्हें मिलकर बहुत प्रसन्न होता हूँ क्योंकि वे योग सम्बन्धी विषयों से भी सुपरिचित दिखाई देते हैं।'' (6 फरवरी 1887)

''मैं श्री ... के साथ गया और उनसे योग के ग्यारह सूत्र पढ़े। मेरी वृत्तियाँ प्राय: बाह्य संसार की ओर आकृष्ट होती हैं।'' (8 फरवरी 1887)

''मैं श्री ... से मिलने गया। ... उसने मुझे बताया कि वह चाहता था कि कोई उसे वास्तविक योग विज्ञान की शिक्षा दे ... उसने देखा कि अनेक लोग उसे कई विधियों से योग सिखाने के लिए तैयार हैं। उसने उनके प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए किन्तु अचानक साफा पहने एक व्यक्ति उसके समक्ष आया। ... उसने आकर कहा, क्या तुम वास्तविक योग सीखना चाहते हो? तुम्हें इसे अभी आरम्भ कर देना चाहिए। इसके दो प्रकार हैं, या तो योगियों की विधि से इसे करो अथवा अपने व्यवसाय में लगे रहकर अपनी जीवन प्रणाली को जारी रखते हुए योग की साधना करो। ... मुझे कहा गया कि मैं ग्रीष्मावकाश में उसके पास जाऊँ और वहाँ योग का अभ्यास करूँ। कल मुझे जल्दी उठना है तथा योगाभ्यास और गायत्री का जप करना है। अत: मुझे जल्दी उठना चाहिए और यथोचित योगाभ्यास करना चाहिए।''

(9 फरवरी 1887)

परन्तु गुरुदत्त विद्यार्थी ग्रीष्मकालीन अवकाश में पितांजी की बीमारी तथा कॉलेज के लिए धन संग्रहार्थ शिष्टमण्डल के साथ जाने की योजना के कारण योगाभ्यास के लिए नहीं जा सके।

पण्डित जी रात्रि को चाहे कितनी देर से सोते परन्तु योगाभ्यास के लिए प्रात: चार बजे उठ जाते थे। वह प्रात: काल दस उपनिषदों का गुटका ले घर से दो-तीन मील दूर जंगल में चले जाते, वहां एक घण्टा प्राणायाम व योगाभ्यास करते और फिर आधा घण्टा उपनिष्द की किसी श्रुति पर मनन कर घर लौट आते। आकर योगाभ्यास वाली कोठरी में चले जाते और एक वा दो योग आसनों का पन्द्रह मिनट तक अभ्यास कर हवन-यज्ञ करते। फिर गाय का गर्म किया हुआ दूध पीते। तदनन्तर आधे घण्टे तक योगाभ्यास के

सूत्रों का मनन करते थे।[2]

मन मन्दिर में झाड़ू लगाने के लिए प्राय: आत्म-चिन्तन करते थे। प्रतिदिन की भाँति पण्डित जी 19 जनवरी 1888 को सैर करने गए। रास्ते में अपने विषय में अचानक सोचने लगे कि कहीं कथनी और करनी में तो अन्तर नहीं है। इसी विचार पर डायरी में लिखा– ''विश्वास का एकमात्र परिणाम है– कर्म। जो (आर्य) समाजी केवल कहते हैं और आचरण नहीं करते, वे यह प्रकट करते हैं कि उन्हें विश्वास ही नहीं है, स्वामी जी कह सकते थे कि मैं सफल हुआ क्योंकि मुझे अपने कथन पर आस्था तथा विश्वास है। तुम आचरण नहीं करते क्योंकि तुम्हें विश्वास ही नहीं है, परन्तु केवल यह दिखाते हो कि तुम जो कहते हो, उस पर विश्वास है।''

एक-एक शब्द उनके सोचने के ढंग पर प्रकाश डाल रहा है। यही कारण है कि उनकी कथनी व करनी एक थी। उन्हें सदैव आत्मिक उन्नति का ध्यान रहता था। उन दिनों आर्यसमाज मन्दिर, लाहौर में एक रजिस्टर रखा हुआ था। प्रत्येक सदस्य से आशा की जाती थी कि वह सप्ताह के अध्ययन एवं शुभ कार्यों का विवरण उसमें लिखे परन्तु यह कार्य प्राय: केवल गुरुदत्त विद्यार्थी ही करते थे। वे लिखा करते थे कि इस सप्ताह वेद, अष्टाध्यायी, उपनिषद् आदि का पाठ किया, अमुक स्थानों पर भाषण दिए...।

पण्डित गुरुदत्त अध्यापन-काल में योग और समाधि का अभ्यास करने के लिए कई बार रात के समय रावी के किनारे चले जाते थे। तब चिरंजीव भारद्वाज (उस समय का नाम चरनजीत लाल) भी रात में उनके साथ योगाभ्यास हेतु छात्रावास से चुपचाप निकल जाते थे। कुछ साथियों ने सोचा कि चरनजीत बुरी संगत में पड़ गया है और इसलिए रात में कहीं भाग जाता है। अत: उन्होंने श्रीगोविन्दपुर में उनके पिता लाला काशीराम को इस विषय में सूचित किया। चिन्तित पिता ने लाहौर पहुँचकर देखा कि उनका पुत्र छात्रावास से अनुपस्थित है। वह रात भर प्रतीक्षा करते रहे। उसके प्रात:काल मिलने पर योगाभ्यास की बात उन्हें पता चली।[5]

अत्यधिक व्यस्तता योगसाधना में भारी रुकावट थी। इसका प्रमाण जालन्धर की एक घटना से मिलता है। बात 29 दिसम्बर 1888 की है। गुरुदत्त आर्यसमाज के उत्सव पर पधारे थे और देवराज के मकान पर ठहरे हुए थे। प्रात: दो बजे उठकर स्नान किया और योग क्रिया में निमग्न हो गए। आठ बजे तक यही क्रम चलता रहा। महात्मा मुन्शीराम दर्शनार्थ पधारे। महात्मा

जी ने इस प्रसंग में उनसे बात की तो कहने लगे, ''जब तक एकान्त में न्योलीकर्म न कर लूँ तब तक अभ्यास नहीं कर पाता।'' इस पर मुन्शीराम ने सुझाव दिया कि यदि पूरा अभ्यास करना है तो लेख तथा व्याख्यान आदि सभी कार्य बंद कर दीजिए अन्यथा साधारण अवस्था तक ही रहिए। पण्डित जी ने सहज स्वभाव से उत्तर दिया –'' मुन्शीराम जी, बात तो आपकी ठीक है। जानता मैं भी सब कुछ हूँ परन्तु न तो अभ्यास का आनन्द ही छोड़ा जाता है और न धर्म प्रचार सम्बन्धी आर्यपुरुषों का आग्रह ही टाले बनता है।''[6]

जब अनेक व्यस्तताओं और स्वाभाविक अनियमितता के कारण नियम भंग हो जाता तो उन्हें बहुत खेद होता। इसके लिए स्वयं को क्षमा न करते। कई बार प्रायश्चित करते थे। ऐसे संकेत उनकी डायरी से मिलते हैं:

''जीवन का एक नया पहलू ... क्या मेरे विश्वास ने मेरे विवेक को इतना अधिक हर लिया है कि मैं अपने कर्त्तव्यों से पूर्णतया विमुख हो गया हूँ? हाँ, मुझे उन्हें अवश्य पूरा करना चाहिए, अवश्य पूरा करना चाहिए, अवश्य पूरा करना चाहिए।'' (4 अक्तूबर 1885)

''क्या मैं नियमित हो सकता हूँ? हे प्रभो! मुझे जो बनना चाहिए, वह बना दीजिए।'' (19 मई 1887)

''आज मैं इतनी देर से उठा कि मेरा विचार आज निराहार रहने, बिना कम्बल सोने और ठण्डे वस्त्र पहनने का है।''[7] (21 नवम्बर 1887)

अधिक कार्य के कारण पण्डित जी रोगग्रस्त रहते थे। इससे भी नियम में बाधा पड़ती थी। फिर भी अभ्यास चलता रहा, उदाहरणार्थ – 10 फरवरी 1887 की पञ्जिका में लिखा –''मैं काफी जल्दी उठता हूँ और गायत्री का एक सहस्र जाप करता हूँ। सायं उसके पास जाता हूँ। योग दर्शन का पहला अध्याय समाप्त।''

इस तप और साधना के कारण प्रभुभक्त को सन्ध्या-प्रार्थना में बहुत आनन्द आता और एकदम उनका ध्यान परम पिता में लग जाता। ऐसे संकेत भी उनकी डायरी से मिलते हैं। पण्डित जी ने 5 सितम्बर, 1888 को डायरी में लिखा था–''एक आनन्ददायिनी सन्ध्या ने, जिसमें मेरा चित्त आकर्षित हो खिंच गया, मन की कुछ अशान्ति हर ली।''

पण्डित जी की योग में अच्छी गति थी। वे कई-कई घण्टे की समाधि लगा लेते थे। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध योग कहलाता है। इस दृष्टि से पण्डित जी महान् योगी थे। उन जैसा वृत्तियों पर नियन्त्रण कौन कर सकता है? '**योगः कर्मसु कौशलम्**' उनके जीवन

का मूल मन्त्र था। **अहिंसाप्रतिष्ठायां वैरत्यागः** को उनसे अधिक अपने जीवन में किसने सिद्ध किया था? किसी से द्वेष करना तो उनका स्वभाव ही न था। वे सबके मित्र थे। फिर भी उन्होंने अपनी योग सम्बन्धी उपलब्धियों की चर्चा किसी से न की। इसका कारण यह था कि ऋषि दयानन्द सरस्वती योग सिद्धियों के प्रदर्शन के पक्ष में न थे। उनका विचार था कि यश तथा धन के लोभ में ऐसे प्रदर्शन करने से योग भ्रष्ट हो जाता है। ऋषि के परम शिष्य गुरुदत्त ने इस आदेश का अक्षरशः पालन किया तथा किसी लेख अथवा भाषण में अपनी योग सिद्धियों का उल्लेख नहीं किया। ऐसे सच्चे योगी ही किसी देश के भूषण एवं गौरव होते हैं।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. आत्माराम अमृतसरी, ब्रह्मयज्ञ, पृष्ठ 149, 151
2. आर्यमित्र (लखनऊ) के ऋष्यंक सम्वत् 1979 (1922) में मास्टर आत्माराम अमृतसरी का लेख
3. लेखराम आर्यमुसाफ़िर, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र, पृष्ठ 860, पाद-टिप्पणी 2
4. निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद अर्थात् पण्डित गुरुदत्त एम.ए. और उनकी बेवक्त मौत, पृष्ठ 77
5. चिरंजीव (6.6.1872-8.5.1915) गुरुदत्त के प्रभाव में आकर आर्यसमाजी बने, उन्हींके कहने पर कानून न पढ़कर डॉक्टरी की शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने कालान्तर में मॉरशिस में आर्यसमाज का प्रचार किया (डॉ. चिरंजीव भारद्वाज के सुपुत्र डॉ. सत्यकाम भारद्वाज का अप्रकाशित लेख)।
6. श्रद्धानन्द स्वामी, कल्याण मार्ग का पथिक, पृष्ठ 165-166
7. यह टिप्पणी बहुत महत्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि स्वनिर्मित नियम पालन करने में यदि कोई चूक रह जाती है तो साधक गुरुदत्त स्वयं को भी क्षमा नहीं करते थे, न बहाना बनाते थे अपितु स्वयं को दण्ड देते थे।

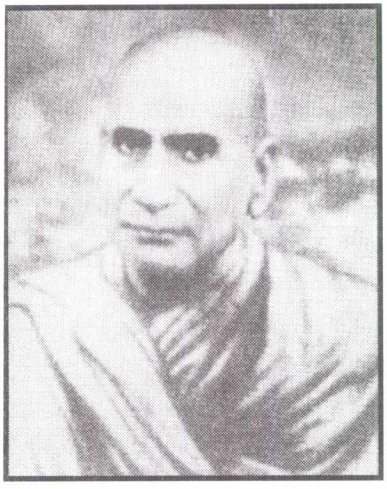

स्वामी श्रद्धानन्द

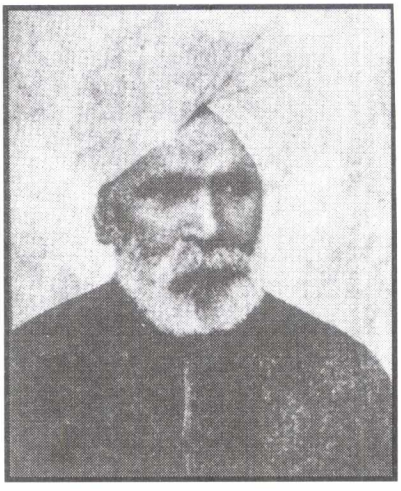

रायबहादुर मूलराज

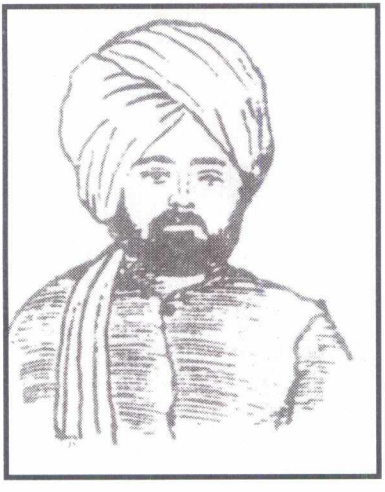

पण्डित लेखराम

मास्टर आत्माराम अमृतसरी

लाला साईदास

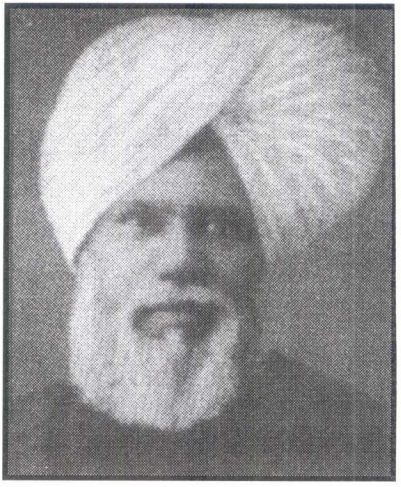

रायबहादुर लाल चन्द

महात्मा हंसराज

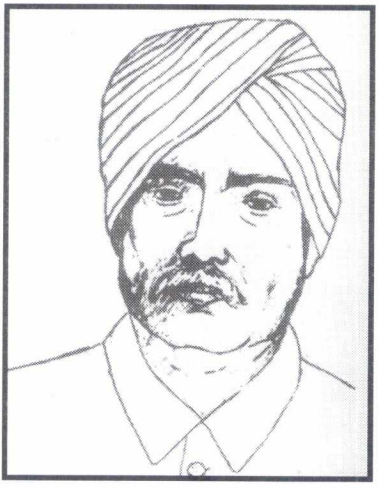

लाला लाजपत राय

क्रान्ति के वे दिन

माली पौधा लगाता है, जल सींचता है, खाद डालता है, तब कहीं पौधा जड़ पकड़ पाता है। फिर भी उसके जीवन का कुछ भरोसा नहीं। आँधी और तूफान, अनावृष्टि और अतिवृष्टि, गर्मी और सर्दी ... उस पर प्रबल आक्रमण करती हैं। ये प्रतिकूल परिस्थितियाँ कितने ही पौधों को पुष्पित और पल्लवित होने से पूर्व नष्ट कर देती हैं। बेचारे माली के अरमान तड़पकर रह जाते हैं परन्तु जो पौधा सब कुछ सह लेता है, वही वृक्ष बनकर थके-माँदे राही को अपनी शीतल छाया तले आश्रय देता है, वही भूखे की भूख मिटाता है, उसी की सुगन्ध चारों ओर फैलती है।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज रूपी पौधा लगाया। इसे अपने रक्त से सींचा परन्तु ऋषि के देहावसान के पश्चात् आर्यसमाज के लिए कठिन परीक्षा की घड़ियाँ आ उपस्थित हुईं। लाहौर उन दिनों आर्यसमाज की गतिविधियों का केन्द्र था। वहाँ 1889 में कई विषयों पर मतभेद उत्पन्न हो गया। सारे विवाद की जड़ दृष्टिकोण का अन्तर था। आरम्भ में आर्यसमाज लाहौर के मुखिया प्रायः अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त वे लोग थे जिन्होंने विचार स्वतन्त्रता का पाठ पश्चिम से पढ़ा था। उन्हें हिन्दुत्व की परम्परागत रूढ़ियाँ पसन्द नहीं थीं। अतः ऋषि दयानन्द की तर्कप्रधान एवं युक्तियुक्त विचारधारा से प्रभावित होकर वे आर्यसमाजी बन गए थे। उन्होंने आर्यसमाज के भव्य शरीर को देखा था परन्तु दिव्यात्मा को नहीं। कारण – संस्कृत का ज्ञान न होने से वैदिक साहित्य का स्वयं मंथन करके अमूल्य रत्न खोजने में वे असमर्थ थे। सुनने और देखने में भारी अन्तर हुआ करता है। इसलिए आर्यसमाज के देश सेवा तथा समाज सुधार के कार्य तो उन्हें रुचि के अनुसार जँचे परन्तु वैदिक अध्यात्मवाद का पूरा आनन्द न लूट पाए। ऐसी बात नहीं कि उनकी इस क्षेत्र में बिलकुल गति न हो। उन्हें ईश्वर पर विश्वास तो था परन्तु यह विश्वास अभी दृढ़ आस्था और श्रद्धा का रूप धारण कर भक्ति में मस्त बनाने के लिए पर्याप्त न था परन्तु जो लोग छोटी आयु में आर्यसमाजी बन गए थे, वे प्रायः ऋषि दयानन्द की विचारधारा के वातावरण में पले थे। पारिवारिक संस्कार उन पर अधिक प्रभाव न डाल पाए थे। उनका झुकाव वेद, संस्कृत तथा ईश्वरभक्ति की ओर अधिक था। यह स्वाभाविक भी था। इस मण्डली के अग्रणी पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी थे। पण्डित जी के लिए

आँख और कान के मध्य का अन्तर विद्यमान नहीं था। उन्होंने स्वयं पूर्व और पश्चिम का दर्शन किया था। उनके लिए दोनों विद्याएँ हस्तामलकवत् थीं। वे तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् ही इधर झुके थे।

शिक्षा-पद्धति

दोनों विचारों के लोग अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार डी.ए.वी. कॉलेज की कल्पना करते रहे। कॉलेज के नाम में प्रयुक्त वैदिक शब्द प्राचीन आर्य सभ्यता एवं संस्कृति तथा एंग्लो शब्द तत्कालीन पाश्चात्य शिक्षा का सूचक था। ऋषि की स्मृति में स्थापित किया गया यह विद्यालय यद्यपि पूर्व और पश्चिम के मिलाप का प्रयास था परन्तु साधारण आर्यों को शिक्षा में पश्चिम की अपेक्षा पूर्व की ओर अधिक झुकाव ही अभीष्ट था। इसीलिए कॉलेज का प्रथम उद्देश्य आर्य विद्या का उद्धार तथा दूसरा पश्चिमी विज्ञान एवं शिक्षा का प्रसार निश्चित हुआ था। कॉलेज के संस्थापकों में गुरुदत्त वैदिक अर्थात् पूर्व के प्रतिनिधि थे तथा राय बहादुर लालचन्द एंग्लो अर्थात् पश्चिम के। एंग्लो शब्द उन्हीं राय बहादुर आदि ख़िताबों से विभूषित अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे उच्च पदासीन लोगों की पसन्द था। गुरुदत्त ने अपने भाषणों में वैदिक पक्ष को ही महत्त्व दिया परन्तु क्रिया में दूसरे दल की विचारधारा को अधिक अभिव्यक्ति मिली क्योंकि राय बहादुर लालचन्द आरम्भ से ही कॉलेज कमेटी के प्रधान थे।

सम्भवत: नेताओं को भी शुरु में यह ज्ञात नहीं था कि दो विभिन्न विचारधाराएँ साथ-साथ कार्य कर रही हैं परन्तु जब पाठ्यक्रम में संस्कृत को सर्वोपरि स्थान न मिल सका तो स्कूल की स्थापना के तीन वर्ष के भीतर ही मतभेद स्पष्ट प्रकट हो गया। गुरुदत्त इस संस्था में वेद तथा संस्कृत को प्रमुख स्थान देना चाहते थे। भारत की आत्मा को समझने और इसके गौरव की पुनर्स्थापना के लिए यह आवश्यक था। उन्होंने लाला लाजपतराय से कई बार कहा कि उनकी यह दृढ़ धारणा है कि दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज एक महान् एवं उच्च उद्देश्य को लेकर खोला गया है। अत: इसकी स्थापना का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि यहाँ से विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ दिलवाकर क्लर्क, वकील तथा सरकारी मशीनरी के अन्य पुर्जे तैयार किए जाएँ। आखिर शिक्षा का उद्देश्य केवल डॉक्टर या इञ्जीनियर, सैनिक या शिक्षक, वकील या क्लर्क, किसान या कारीगर बनाना ही तो नहीं, अपितु मनुष्य निर्माण करना है।[1क]

पण्डित जी वैदिक सभ्यता के द्वारा ही देश की एकता और संगठन

सम्भव मानते थे, इसलिए वे भौतिकता प्रधान पाश्चात्य शिक्षा के पक्षधर नहीं थे। वे देश के लिए केवल उसी शिक्षा-पद्धति को लाभदायक मानते थे जिसमें अंग्रेज़ी व विज्ञान की तुलना में संस्कृत का स्थान मुख्य हो तथा संस्कृत की शिक्षा ऋषि दयानन्द द्वारा वर्णित विधि के अनुसार हो। अत: वे लघुकौमुदी के स्थान पर अष्टाध्यायी[2] के प्रबल समर्थक थे। डिग्री दिलवाने के लिए कॉलेज में सायण व महीधर के वेदभाष्य पढ़ाए जाएँ तथा कॉलेज से बाहर आर्यसमाज इन भाष्यों का खण्डन करे– उन्हें यह विचित्र लगता था। अत: गुरुदत्त कॉलेज में भी ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का पठन-पाठन चाहते थे। पण्डित जी इस कार्य के लिए कॉलेज के किसी भी बलिदान को तुच्छ मानते थे। वे कॉलेज की ऐसी लोकप्रियता के पक्ष में नहीं थे जिससे संस्कृत की शिक्षा को क्षति पहुँचे। वे आत्मा के पुजारी थे, शरीर के नहीं। ज्ञान का उपासक जड़ की आराधना कर ही कैसे सकता था? गुरुदत्त को वेद और संस्कृत से इतना प्यार था कि उन्होंने कई बार कहा, ''कितना अच्छा हो यदि मैं समस्त विदेशी शिक्षा को पूर्णतया भूल जाऊँ तथा केवल विशुद्ध संस्कृतज्ञ बन सकूँ।[3क] जो बात अंग्रेज़ी ग्रन्थों के सहस्र पृष्ठों में मिलती है, वह वेद के एक मन्त्र अथवा ऋषियों के एक सूत्र में मिल जाती है। मिल की समस्त फ़िलॉसफ़ी न्याय दर्शन के दो सूत्रों की व्याख्या ही है।'' वे यह भी कहा करते थे कि यद्यपि पाश्चात्य विज्ञान अच्छा है और इसके द्वारा विविध कलाओं का आविष्कार हुआ है परन्तु वैशेषिक दर्शन के समक्ष यह अभी कुछ भी नहीं। उनका विचार था कि इस समय पृथ्वी पर ऋषि कणाद सदृश पदार्थ-विद्या का ज्ञाता कोई नहीं है। इसलिए वे चाहते थे कि संस्कृत पर अधिक ध्यान दिया जाए, चाहे उसके लिए अंग्रेज़ी की पढ़ाई कुछ कम क्यों न करनी पड़े। उन्होंने कॉलेज के लिए जनता से धन वेद तथा संस्कृत के नाम पर एकत्र किया था, अत: स्कूल और कॉलेज में उनकी पढ़ाई का समुचित प्रबन्ध करवाना अपना नैतिक कर्त्तव्य समझते थे।

दूसरी ओर हंसराज, लालचन्द, साईंदास तथा मूलराज आदि का विचार था कि संस्कृत की शिक्षा के लिए वर्तमान परिस्थितियों में जो किया जा सकता है, वह किया जा रहा है। उससे अधिक कुछ भी करना कॉलेज के हित में नहीं है। वे हिन्दी तथा संस्कृत की सामान्य शिक्षा का प्रबन्ध करके ही काम चला देना चाहते थे। उनका विचार कॉलेज को पंजाब की प्रमुख शिक्षण संस्था बनाना था, अत: वे विश्वविद्यालय से सम्बन्ध जोड़े रखने के पक्ष में थे। कॉलेज अभी भली प्रकार जड़ नहीं पकड़ पाया था। अत: वे आदर्शवाद के

बहाव में बहकर कोई खतरा मोल लेने के लिए उद्यत न थे। उनके लिए कॉलेज था एक ऐसी गैर-सरकारी एवं गैर-ईसाई भारतीय संस्था जहाँ शिक्षित वर्ग को शास्त्रों से यथासम्भव परिचित किया जा सके। वे चाहते थे कि संस्कृत धीरे-धीरे लागू हो। इसके लिए वे न तो तुरन्त पाठ्यक्रम में परिवर्तन करने के लिए उद्यत थे और न ही कॉलेज में एक श्रेणी केवल संस्कृत की खोलने को। उनकी दृष्टि में कॉलेज का उद्देश्य संस्कृत और पाश्चात्य विद्या की मिश्रित शिक्षा प्रदान करना था। संस्कृत की शिक्षा पर अधिक बल देने वाली संस्था का चलना वे सम्भव भी नहीं मानते थे। अंग्रेज़ी की पढ़ाई समय की मांग थी। अत: उसे कम करने का प्रश्न ही नहीं था।

इस प्रसंग में एक बात विचारणीय है। डी.ए.वी. कॉलेज ऋषि दयानन्द का स्मारक था। अत: उसका ऋषि के आदर्शों के अनुकूल होना आवश्यक था। जैसे एक पौराणिक मन्दिर प्रतिमा पूजा के विरोधी ऋषि का स्मारक नहीं हो सकता, वैसे ही संस्कृत शून्य कॉलेज भी उनका उपयुक्त स्मारक नहीं है। उन्होंने अपने जीवन-काल में कई संस्कृत पाठशालाएँ खोलीं। उनके पत्रों एवं विज्ञापनों से विदित होता है कि वे उनमें संस्कृत की अनिवार्य शिक्षा चाहते थे, यथा वे लिखते हैं—

''आर्यावर्त देश की स्वाभाविक सनातन विद्या संस्कृत ही है ... उसी से इस देश का कल्याण होगा, अन्य देश भाषा से नहीं। **अन्य देश भाषा तो जितना प्रयोजन, उतनी ही पढ़नी चाहिए।**'' (सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण की हस्तलिखित प्रति के चौदहवें समुल्लास के अन्त में दिया विज्ञापन)

''अंग्रेज़ी का प्रचार तो जगह-जगह सम्राट् की ओर से जिन की यह मातृभाषा है भले प्रकार हो रहा है। अब इस्की वृद्धि में हम तुम को इतनी आवश्यकता नहीं दीखती।'' (सेठ निर्भयराम को 23 मई 1881 को अजमेर से लिखा पत्र)[4क]

''जहाँ तक बने पाठशाला के उद्देश्य पर कि संस्कृत की उन्नति होनी सो इस पर अच्छे प्रकार ध्यान रहे।'' (राजा दुर्गाप्रसाद को 10 जून 1881 को अजमेर से लिखा पत्र)[4ख]

''पाठशाला में संस्कृत का काम ठीक-ठीक होना चाहिए। ... इस पाठशाला में मुख्य संस्कृत जो मातृभाषा है उस्को ही वृद्धि देना चाहिए। वरन् फारसी का होना कुछ अवश्य नहीं है।'' (राजा दुर्गाप्रसाद को अजमेर से 17 जून 1881 का लिखा पत्र)[4ग]

''पाठशाला में संस्कृत पढ़ के कितने विद्यार्थी समर्थ हुए। अथवा

अंग्रेज़ी फारसी में ही व्यर्थ धन जाता है सो लिखो। जो व्यर्थ ही हो तो क्यों पाठशाला रखी जाए।'' (राजा दुर्गाप्रसाद के नाम 9 दिसम्बर 1882 का पत्र)[4घ]

''तुम्हारी पाठशाला में अलिफ बे और कैट बैट का धर्मार है जो कि आर्य्यसमाजों को विशेष कर्त्तव्य नहीं।''(लाला कालीचरण रामचरण के नाम 25 अप्रैल 1883 का पत्र)[4ङ]

कॉलेज में वेदादि शास्त्रों तथा संस्कृत-शिक्षण की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया जा रहा था। धर्मप्रचारक तैयार करने का भी कॉलेज के विधान में कोई प्रावधान न था। इसलिए संस्कृत के समर्थक समझते थे कि कॉलेज के कर्णधार भटक गए हैं। अत: वे पाठ्यक्रम में आमूलचूल परिवर्तन लाना चाहते थे। यह वर्ग विधान को बदलकर एक नई क्रान्ति लाने के पक्ष में था। गुरुदत्त को धीरे-धीरे की नीति पसन्द नहीं थी। अभी होगा या फिर कभी नहीं हो पाएगा – ऐसा उनका विश्वास था। वे आंग्लभाषा तथा पश्चिमी विज्ञान के विरोधी नहीं थे परन्तु संस्कृत को अंग्रेज़ी के पीछे घिसटता नहीं देख सकते थे। वे कॉलेज को आर्यसमाज तथा वेद के लिए मानते थे, न कि आर्यसमाज को कॉलेज के लिए।

यथास्थितिवादी एवं क्रान्तिकारी विचारों में टक्कर चल रही थी। दोनों पक्ष कॉलेज को अपनी-अपनी ओर खींच रहे थे। कॉलेज लालचन्द व उनके सहयोगियों के हाथ में था, अत: कोई परिवर्तन नहीं हो पा रहा था। लाहौर का अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा वर्ग अधिकतर लालचन्द की नीति के पक्ष में था। यह स्वाभाविक था क्योंकि लाहौर प्रान्त का प्रमुख नगर होने के कारण अंग्रेज़ी शिक्षा का केन्द्र था। साधारण आर्य जनता सर्वत्र पण्डित गुरुदत्त के साथ थी। लाहौर में भी जीवनदास, दुर्गाप्रसाद, केदारनाथ थापर व खुशीराम आदि पण्डित जी के साथ थे। जालन्धर में महात्मा मुन्शीराम उनके कट्टर समर्थक थे। जालन्धर के लोग अगर लाहौर में होते तो गुरुदत्त के झण्डे के नीचे एकत्र हो जाते। वहाँ अनजाने में उनके लिए सेना तैयार हो रही थी। जिन आदर्शों के प्रतिनिधि गुरुदत्त थे, उनका प्रचार लाहौर से बाहर के लोगों ने ही अधिक किया। गुरुकुल की स्थापना उनके स्वप्नों की पूर्ति थी।

शिक्षा सम्बन्धी असन्तोष लाहौर से बाहर भी फैलता जा रहा था। पण्डित धर्मचन्द्र, प्रधान, आर्यसमाज, अमृतसर का एक पत्र इस प्रसंग में सद्धर्म प्रचारक में छपा था। उन्होंने बहुत मीठे शब्दों में अपनी बात समझाते हुए लिखा था – ''प्रतिनिधि सभा पंजाब और मैनेजिंग कमेटी दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज और आर्यसमाज लाहौर और सर्वत्र आर्यसमाजों व आर्यसभासदों

और सब सत्य विद्याओं के प्रचारकों और वैदिक धर्म के सहायकों तथा हितैषियों की सेवा में विनयपूर्वक प्रार्थना है :

1. जब से धर्मरक्षक मैनेजिंग कमेटी के धार्मिक उत्साह से दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज, लाहौर जारी हुआ है तब से उसका नतीजा क़ाबिले शुक्रगुजारी ख़ास-औ-आम के प्रकाशित हो रहा है।

2. अब इस वक्त निहायत जरूरत इस अमर की मालूम होती है कि प्राचीन ऋषिकृत ग्रन्थ वेदांग का पठन-पाठन जारी होना चाहिए और आम तालबे-इल्मों (साधारण विद्यार्थियों) में इस प्रकार की तालीम (शिक्षा) जारी होनी मुमकिन नहीं। उनके वास्ते बिलफ़ेल इस कंदर काफ़ी है कि वैदिक धर्म के उपदेश सुनाए जाएँ और वेदोक्त नित्य कर्म अर्थात् सन्ध्या उपासना आदि पुस्तकें पढ़ाई जाएँ ... इसलिए मुनासिब मालूम तो यह होता है कि चन्दकस संन्यासियों के वास्ते एक शाख दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज की वेदांग और प्राचीन ऋषि कृत ग्रन्थ पढ़ाने के वास्ते खोली जाए।''[5क]

शीतलदास (सियालकोट) ने यही बात अधिक कड़ी भाषा में कही। उन्होंने सद्धर्म प्रचारक में लिखा – ''क्या दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज सचमुच दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज है या दयानन्द वर्नाक्यूलर कॉलेज है? क्या यह संस्कृत विद्या की उन्नति और वेदविद्या के प्रचार के गर्ज से खोला गया था या इल्म अंग्रेज़ी या फ़ारसी की उन्नति के गर्ज से?...''[5ख] एक सज्जन ने यहाँ तक लिखा दिया, ''इस कॉलेज को दयानन्द कॉलेज कहना उस महात्मा के नाम को बट्टा लगाना है।''[5ग] रलाराम (जेहलम) के अनुसार, ''हम इस कॉलेज को वैदिक कॉलेज नहीं कह सकते क्योंकि इसमें वेदों की पूरी तालीम का प्रबन्ध अब तक नहीं हुआ।''[5ग] आर्यसमाज पेशावर ने मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के नाम पत्र में लिखा कि कॉलेज के लिए दान तो संस्कृत और वेद के नाम पर लिया जाता है परन्तु आर्ष साहित्य नहीं पढ़ाया जाता जबकि पादरी अपने स्कूलों में खुलकर अंजील का उपदेश करते हैं।[5घ]

ये पत्र साधारण आर्य जनता के हृदयों की भावनाओं को प्रकट करते हैं। कोलकाता से प्रकाशित होने वाले आर्यावर्त ने तो बहुत पहले (फरवरी 1887) ही स्कूल में संस्कृत की पढ़ाई का समुचित प्रबन्ध न होने की बात कही थी।[6क] उसके उत्तर में आर्य पत्रिका ने लिखा था, ''समस्त भारत में केवल यही एक स्कूल है जहाँ अंग्रेज़ी के साथ-साथ संस्कृत की पढ़ाई अनिवार्य है। इस स्कूल का एक भी छात्र, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, ऐसा

नहीं है जो संस्कृत न पढ़ता हो।''[6ख] मूलराज के समर्थक राधाकिशन (लाहौर) का मत था कि दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज में एकदम वेद पढ़ाना सम्भव नहीं है। हमें समझना चाहिए कि रोम एक दिन में नहीं बन गया था।[5ङ] बाद में कॉलेज की ओर से आक्षेपों का उत्तर प्रायः लाला लाजपतराय देते थे। उनकी वाणी में ओज था और लेखनी में शक्ति।

पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है, ''लाला लालचन्द्र कॉलेज कमेटी के दिमाग थे, ला. हंसराज हृदय थे और ला. लाजपतराय बाहु थे। पण्डित गुरुदत्त जी कॉलेज कमेटी में आत्मा के वह शब्द थे, जो कभी-कभी अपनी हालत पर असन्तोष प्रकट किया करते हैं।''[7] दोनों वर्गों के नेता सुलझे हुए व्यक्ति थे। वे ऊँचे स्तर पर रहकर इस समस्या का समाधान कर रहे थे। अभी विवाद व्यक्तिगत स्तर पर नहीं पहुँचा था। वैसे सब का सोचने का अपना-अपना ढंग था। गुरुदत्त विशुद्ध धार्मिक व्यक्ति थे और प्रत्येक बात को अध्यात्मवाद की कसौटी पर परखते थे परन्तु लाला साईंदास तथा उनके सहयोगी राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व देते थे। महर्षि दयानन्द के प्रोग्राम में दोनों बातों का स्थान है। बाद के आर्य नेताओं में से एक ने एक को पकड़ लिया, दूसरे ने दूसरे को। पण्डित चमूपति ने सारी स्थिति का बहुत सुन्दर विश्लेषण करते हुए लिखा था, ''गुरुदत्त वेद का उपासक था, साईंदास हिन्दुत्व का। गुरुदत्त दयानन्द कॉलेज में प्राचीनता की प्रतिष्ठा चाहता था, साईंदास अर्वाचीनता की। साईंदास देश का हित विज्ञान की शिक्षा में समझता था, गुरुदत्त को वेद के पुनरुद्धार के बिना विश्व की भलाई की सम्भावना ही प्रतीत नहीं होती थी। वह जो व्याख्यानों में कहता था, उसी को क्रिया में लाना चाहता था। गुरुदत्त आदर्शवादी था, साईंदास यथार्थवादी। गुरुदत्त धर्म की मूर्ति था, साईंदास जाति की। गुरुदत्त का धर्म आध्यात्मिक था, साईंदास की जाति आधिभौतिक। ये दो लहरें समाज के समुद्र को एक साथ विक्षुब्ध कर रही थीं परन्तु खेवट सयाने थे। अपनी-अपनी लहर की नौका में सवार थे। परस्पर शान्ति भंग होने से बचाते रहे।''[8क] कई बार शान्ति भंग होने के अवसर आए। विघटन भी हो सकता था परन्तु नेताओं की निःस्वार्थता के कारण स्थिति सम्भलती रही। सूत्र ने कई बार झटके तो सहे परन्तु माला के मोती बिखरने से बचे रहे।

पाठ्यक्रम के विषय में बहुत विवाद रहा। मैनेजिंग सोसाइटी की वार्षिक बैठक में 31 जनवरी 1889 को रलाराम (जेहलम) ने हिन्दी तथा संस्कृत की पढ़ाई अनिवार्य करने, अष्टाध्यायी, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और

सत्यार्थप्रकाश पढ़ाने का प्रावधान करने, वैदिक पुस्तकालय की स्थापना हेतु पाँच हजार रुपये की व्यवस्था करने तथा छात्रावास में विद्यार्थियों के जीवन को नियमित और अनुशासित बनाने का प्रबन्ध करने हेतु एक प्रस्ताव रखा जिसका अनुमोदन पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने किया। नारायणदास और राय गंगाराम ने इसके विरोध में प्रस्ताव दिया, जिसके कारण रलाराम-गुरुदत्त के प्रस्ताव को विचारार्थ स्वीकार ही नहीं किया गया।

कुछ भी हो, कॉलेज कमेटी में संघर्ष चलता रहा। अन्ततः अष्टाध्यायी के पठन-पाठन के विषय में निर्णय करने के लिए एक विशेष उपसमिति बना दी गई। इसके सदस्य थे – लालचन्द, साईंदास, मूलराज, हंसराज तथा गुरुदत्त (संयोजक)। उपसमिति ने सबके विचारों को सुना। राय मूलराज ने समिति को निम्नलिखित पत्र लिखा:[1ख]

"श्रीमान् जी,

क्योंकि मैं उपसमिति की बैठक में नहीं आ पाऊँगा जिसमें संस्कृत पढ़ाने के उस पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में विचार होना है जो दयानन्द कॉलेज प्रबन्धक सभा के सम्मुख रखा गया था, मैं यह पत्र उस विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए लिख रहा हूँ।

मैं समझता हूँ कि वर्णोच्चारण शिक्षा[9] और संस्कृत वाक्यप्रबोध[9] उस शिक्षा-पद्धति में सम्मिलित हैं, जो अब प्रचलित है। मुझे इन पुस्तकों के पढ़ाए जाने पर कोई आपत्ति नहीं यद्यपि ये पाँचवीं कक्षा में समाप्त हो सकती हैं, और क्या यह उस कक्षा में पढ़ाई भी जानी चाहिएँ?

मुझे प्रसन्नता होगी यदि अष्टाध्यायी स्कूल में पढ़ाई जा सके। प्रश्न केवल इतना है कि क्या यह मिडिल के विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव और उनकी अपनी पढ़ाई में विघ्न डाले बिना अच्छी तरह पढ़ाई जा सकती है। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी से प्रार्थना की जाए कि अष्टाध्यायी के उन भागों को अंकित करें जो विभिन्न कक्षाओं को पढ़ाने हैं। मेरा यह विचार है कि यदि पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी यह जानकारी दे दें तो इस विषय पर बेहतर विचार किया जा सकता है।

मुझे सन्देह है कि अधिक संख्या में हम ऐसे विद्यार्थी ढूँढ़ सकते हैं जो दयानन्द कॉलेज में पढ़ने के लिए उद्यत हों, यदि उन्हें उनके संस्कृत पाठ्यक्रम के अतिरिक्त पिंगलसूत्र[9], उणादिकोष[9] तथा भूमिका[9] भी पढ़नी पड़े। इन (पुस्तकों) के प्रवेश का सम्भावित परिणाम यह होगा कि विद्यार्थी संस्कृत के स्थान पर फ़ारसी लेंगे और यदि फ़ारसी उड़ा दी गई तो कोई ही,

सम्भवत: बहुत कम, दयानन्द कॉलेज में प्रवेश लेंगे।

यह बड़ी बात होगी यदि अभी हम स्कूल व कॉलेज में अष्टाध्यायी के कुछ भाग रख सकें।

आपका शुभचिन्तक,

लाहौर : 3 जुलाई 1889 मूलराज''

उपसमिति की बैठक 12 जुलाई 1889 को हुई। गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा प्रस्तुत इस उपसमिति की रिपोर्ट का कुछ भाग निम्नांकित है:[1ग]

''गुरुदत्त विद्यार्थी ने बताया कि संस्कृत सीखने वाली कक्षाओं के छात्रों का संस्कृत उच्चारण बहुत दोषपूर्ण, भद्दा तथा बेढंगा है। इसलिए प्राइमरी विभाग में छात्रों को शुद्ध उच्चारण सिखाने हेतु पग उठाए जाने चाहिएँ। उपसमिति के सदस्य सहमत थे कि ऐसा किया जाना चाहिए। अत: प्रबन्धक समिति से निवेदन किया जाए कि भविष्य में चौथी और पाँचवीं श्रेणी के अध्यापक पाणिनिकृत वर्णोच्चारण शिक्षा के अनुसार छात्रों को उच्चारण की शिक्षा दें। ... लाला लालचन्द का सुझाव था कि मिडिल स्कूल के तीन वर्षों में वे जो कुछ आज पढ़ रहे हैं, उससे अधिक पढ़ाना उचित नहीं है। उन्हें अपने पाठ्यक्रम के अतिरिक्त सम्पूर्ण अष्टाध्यायी को कण्ठस्थ करवाने की निस्बत हिन्दी माध्यम की संस्कृत व्याकरण पढ़ाना ही उनके लिए पर्याप्त है। ... मेरे (गुरुदत्त के) विचार से अष्टाध्यायी को लगाना ही वांछनीय है क्योंकि संस्कृत की वर्तमान व्याकरण सम्बन्धी पुस्तकें त्रुटिपूर्ण हैं तथा वेदों को समझने में सहायक नहीं हैं। पाणिनीय व्याकरण को छोड़कर अन्य सभी व्याकरण ग्रन्थ एक ऐसी शैली में लिखे गये हैं जिससे छात्र का सम्पूर्ण जीवन नष्ट होता है और उसे संस्कृत भाषा की प्रकृति को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। दूसरी ओर लाला लालचन्द द्वारा निर्दिष्ट पद्धति में हिन्दी माध्यम से संस्कृत व्याकरण पढ़ाने का प्रावधान है जो मेरे विचार से अनावश्यक, अवैदिक तथा अपाणिनीय है। निस्सन्देह अन्य व्याकरणों के अध्ययन से पाणिनि के पठन के प्रति दुर्भावना और पूर्वाग्रह की वृत्ति बनती है, जो पाणिनि व्याकरण पढ़ने के अयोग्य बनाती है। विद्यार्थी को स्वल्प काल के लिए ही सही व्याकरण विषयक अपनी पूर्व निर्धारित धारणाओं से संघर्ष करना पड़ता है और पाणिनि का अध्ययन आरम्भ करने से पहले उसे इन अन्य व्याकरणों के प्रभाव को धो-पोंछकर साफ करना पड़ता है। ...

लाला हंसराज की राय है कि लघुकौमुदी के स्तर की अष्टाध्यायी के सूत्रों की एक ऐसी पुस्तक तैयार की जाए जिसमें सन्धि, नाम आदि विषयों से सम्बन्धित सूत्रों का संग्रह हो। व्याकरण की पाठ्य-पुस्तकें इन्हीं सूत्रों के आधार पर तैयार की जाएँ किन्तु इन सूत्रों के अर्थ और व्याख्याएँ स्वामी दयानन्द सरस्वती रचित वेदांगप्रकाश से संकलित कर ली जाएँ। इस विधि से तैयार की गई संस्कृत व्याकरण की पाठ्य-पुस्तकें मिडिल और ऊपर की कक्षाओं के लिए निर्धारित कर दी जाएँ। अष्टाध्यायी को उसके स्तर पर केवल कॉलेज कक्षाओं को ही पढ़ाया जाए। मिडिल और उच्च श्रेणियों में मनुस्मृति, रामायण तथा महाभारत से संकलित अंश भी पाठ्यक्रम में रखे जाएँ।

मेरे विचार से यह कदम पहले से भी अधिक हानिप्रद है क्योंकि इससे व्याकरण के अध्ययन की वैदिक पद्धति को क्षति पहुँचती है। मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि स्वामी दयानन्द सरस्वती का लघुकौमुदी और सिद्धान्तकौमुदी[10] पर आक्षेप इतना उनमें दिए सूत्रों के अर्थों पर नहीं था जितना इन ग्रन्थों में निर्धारित सूत्रों के उस क्रम को लेकर था, जिस क्रम से वे पढ़ाए जाते हैं। इन दोनों कौमुदियों में कुछ ऐसे सूत्र भी हैं जिनकी व्याख्या त्रुटिपूर्ण है, किन्तु उनकी संख्या कम ही है। लघुकौमुदी में तो ऐसे सूत्र और भी कम हैं। ... यदि पाणिनीय अष्टाध्यायी और लघु-कौमुदी में इतना ही अन्तर होता तो थोड़े-बहुत परिवर्तन के पश्चात् इसे ही पाठ्यक्रम में स्थान देने में हमें कोई आपत्ति न होती। ... चाहे यह हमारे पक्षपाती आर्यश्रोत्रों को अच्छी लगती हो परन्तु लघुकौमुदी के विषैले स्वरूप के लिए विषहर औषधि नहीं होगी। लाला हंसराज का सुझाव, स्कूल की पाठ्य-पुस्तक के साथ स्वामी जी का नाम जुड़े होने के गौरव के अतिरिक्त, अक्षरशः मिडिल तथा हाई कक्षाओं में लघुकौमुदी के हिन्दी अनुवाद को भागों में लगाने के समान है।

ऐसी योजना मूल प्रस्ताव को बिगाड़ती है तथा पढ़ाई के क्रम को उलटती है क्योंकि जैसा स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के 66, 67, 68 पृष्ठों[11] पर स्पष्ट किया है, अष्टाध्यायी की दो आवृत्तियाँ होनी चाहिए। पहली अनिवार्य रूप से अष्टाध्यायी सूत्रों के क्रम से हो जिसमें पाठ, पदच्छेद, समास, उदाहरण और कार्य होने चाहिएँ। दूसरी आवृत्ति पूर्णतया प्रयोगसिद्धि के ध्येय से होनी चाहिए, उसमें धातुपाठ, उणादिकोष, गणपाठ, वार्त्तिक, कारिका और परिभाषाओं का अध्ययन सम्मिलित होना चाहिए। यह सुविदित है कि लघुकौमुदी व्याकरण का प्रयोगसिद्धि की दृष्टि से वर्णन है। अतः मिडिल व हाई कक्षाओं में

लघुकौमुदी तथा कॉलेज में अष्टाध्यायी लगाकर हम पढ़ाई के स्वाभाविक क्रम को बिगाड़ रहे हैं। यह तो जड़ों को ऊपर और शाखाओं को नीचे करना है या यह रेखागणित में अनुमेय पहले और सूत्र को बाद में पढ़ाने का प्रयास करने के समान है। स्वामी दयानन्द लिखते हैं–

''तदनन्तर व्याकरण अर्थात् प्रथम अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ ... पदच्छेद ... फिर समास ... और अर्थ ... उदाहरण ... उनका कार्य सब बतलाता जाय ... एक वार इसी प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ा के धातुपाठ अर्थसहित और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रिया सहित ... धातु पाठ के पश्चात् उणादि गण के पढ़ाने में सर्व सुबन्त का विषय अच्छे प्रकार पढ़ा के पुनः दूसरी वार शंका, समाधान, वार्त्तिक, कारिका परिभाषा की घटनापूर्वक अष्टाध्यायी की द्वितीयानुवृत्ति पढ़ावे। ... अर्थात् जो बुद्धिमान्,पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि, के चाहने वाले नित्य पढ़ें पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़ के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोधकर पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़ पढ़ा सकते हैं किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्षों में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत,[12] चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि[13] के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्यों कर हो सकता है! महर्षि लोगों का आशय जहां तक हो सके वहां तक सुगम और जिसके ग्रहण करने में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है। क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहां तक कठिन रचना करनी जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्प लाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना। और आर्षग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना।''

महान् स्वामी दयानन्द की स्मृति में स्थापित एक संस्था को यह शोभा नहीं देता कि शैक्षणिक विषयों में उनकी सम्मति पर ध्यान न दे – ऐसी सम्मति जो उन्होंने अनुभवों के पश्चात् दी, जो उन्होंने अपने सर्वाधिक मूल्यवान् समय और जीवन की कीमत पर चाह और कष्ट के साथ पाई।

इस सुझाव पर अपनी बात समाप्त करने से पूर्व एक बात और। यह निश्चित मानकर भी कि लघुकौमुदी मिडिल तथा हाई कक्षाओं में पढ़ाई जाती है और अष्टाध्यायी कॉलेज कक्षाओं में लगाई जाती है, हम देखें कि क्या परिणाम

निकलता है। कॉलेज की शिक्षा के सारे समय में विद्यार्थी के पास चार वर्ष हैं– दो साल एफ.ए. में, दो साल बी.ए. में। एम.ए. का वर्ष केवल उसी विषय को अर्पित किया जा सकता है जो वह ले। चार सालों में से कॉलेज कक्षाओं के दूसरे तथा चौथे वर्ष तो केवल विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों की तैयारी को अर्पित किए जा सकते हैं। अत: यदि कॉलेज में अष्टाध्यायी पढ़ानी है तो वह इसे एक साल एफ.ए. में और एक साल बी.ए. श्रेणियों में पढ़ सकता है। यह अवश्य उसकी पढ़ाई में व्यवधान डालेगा परन्तु यदि न भी डाले तो भी यह स्पष्ट है कि एक विद्यार्थी के लिए जिसने पहले केवल लघुकौमुदी पढ़ी है, अष्टाध्यायी का मुख्य भाग शून्य समान है। अत: जब वह अपना कॉलेज का शिक्षाकाल पूरा करता है तो उणादिकोष या महाभाष्य[14] के ज्ञान के बिना अधिकाधिक केवल मात्र अष्टाध्यायी जानता है। मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या यही वह आदर्श शिक्षा है जो डी.ए.वी. कॉलेज के एक विद्यार्थी को दी जाएगी? **हमारे कॉलेज का वह स्नातक जो केवल अष्टाध्यायी जानता है और वह भी अधूरी, क्योंकि न तो उसने उणादिकोष, न महाभाष्य, न निघण्टु[15], न निरुक्त[15], न छन्द, न ज्योतिष, न छह दर्शनों में से कोई एक पढ़ा– मैं पूछता हूँ कि क्या ऐसा विद्यार्थी आपकी आर्य शिक्षा के उच्च आदर्शों को पूरा करता है? क्या उसमें वेदों की सत्यता को समझने की क्षमता आ जाती है? क्या वह आर्य शिक्षा के सिद्धान्तों में दृढ़ समझा जा सकता है? यदि इस कॉलेज ने कभी भी वे आशाएँ पूरी करनी हैं जो इस आन्दोलन के साथ सहानुभूति रखने वालों ने चिरकाल से बांध रखी हैं तो आपको निश्चित रूप से अपने विश्वविद्यालय की एम.ए. कक्षाओं से भी उच्चस्तरीय कुछ कक्षाओं की स्थापना की सम्भावना पर अवश्य विचार करना चाहिए।** सुधारवादी चयन के लागू करने के विषय में मुझे केवल इतना कहना है कि व्याकरण न जानने वाले विद्यार्थियों के लिए ऐसी पढ़ाई चाहे कितनी नैतिक क्यों न हो, शैक्षणिक रूप में स्मृति पर बोझ है।

लाला साईंदास का विचार है कि अष्टाध्यायी की पढ़ाई को एक आजमायश दे दी जाए और इसलिए अर्थ तथा साधारण उदाहरण सहित अष्टाध्यायी की पढ़ाई प्रयोग के रूप में एक साल के लिए मिडिल की पहली कक्षा में और नवीं उच्चतर कक्षा में लागू की जाए। एक वर्ष के पश्चात् इस पद्धति की सफलता के विषय में रिपोर्ट दी जाए और तब उचित समझा जाए तो योजना व्यावहारिक मानकर सभी मिडिल व उच्चतर कक्षाओं में पूर्णतया लागू कर दी जाए। परन्तु वे यह भी चाहते हैं कि पहली मिडिल कक्षा में एक घण्टा प्रतिदिन अष्टाध्यायी पढ़ाने के अतिरिक्त इसके साथ-साथ पाठ्यक्रम की पढ़ाई

भी जारी रखी जाए क्योंकि उनका विचार है कि केवल पाठ्य-पुस्तकों के पाठ पढ़ने का निरन्तर अभ्यास ही एक विद्यार्थी को परीक्षा में पास होने के योग्य बनाता है। मैं इस विचार के साथ काफी सहमत हूँ परन्तु अष्टाध्यायी को प्रयोग स्वरूप पढ़ाने के साथ मेरी सहमति नहीं है। ऊपर लिखे कारणों के आधार पर **मैं अष्टाध्यायी पढ़ाना एक नितान्त आवश्यकता का प्रश्न समझता हूँ। मेरे लिए यह प्राथमिकता का प्रश्न नहीं है।** अष्टाध्यायी हमें अवश्य लागू करनी चाहिए, यद्यपि मैं इसे स्कूल में क्रमशः लागू करने के विषय में तुरन्त विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की तैयारी करने वाले प्रत्याशियों के हितों के अनुकूल कोई भी तर्कसंगत छूट देने के लिए उद्यत हूँ।

मेरी यह भी राय है कि आठवीं मिडिल तथा दसवीं उच्चतर कक्षाओं के अतिरिक्त वर्तमान पाठ्य-पुस्तकों की पढ़ाई पूर्णतया बंद कर देनी चाहिए। यह मिडिल कक्षा को केवल अष्टाध्यायी पढ़ाने के लिए पूरे दो साल बचाएगी और इसी कार्य के लिए पूरा एक वर्ष एफ.ए.[16] कक्षा को। इस प्रकार न केवल विद्यार्थियों की सेहत पर ही कुप्रभाव नहीं पड़ेगा अपितु वे शिक्षा की छोटी कक्षाओं में अर्थात् मिडिल तथा हाई श्रेणियों में संस्कृत में अधिक योग्यता प्राप्त कर लेंगे परन्तु मैं पहली दो मिडिल कक्षाओं और एफ.ए.[16] के एक वर्ष में पाठ्य-पुस्तकों की पढ़ाई समाप्त करने का आग्रह नहीं करता— विशेषकर स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से।

मेरा मुख्य तर्क यह है कि वर्तमान पाठ्य-पुस्तकें बहुत भ्रमजनक हैं तथा उन्नीसवीं शताब्दी की नवीन संस्कृत, जो केवल पाठ्य-पुस्तक के लेखक के मस्तिष्क में है तथा अन्यत्र कहीं नहीं है, सिखाती है। मैं उदाहरण के रूप में पाठोपकारक भाग 2 लेता हूँ— जिससे अधिक निकम्मी कोई और संस्कृत पाठ्य-पुस्तक हो सकने की कल्पना नहीं की जा सकती।

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ 13- योहि द्यावा पृथिव्यौ सृष्टवान् एकंब्रह्म द्वितीयो नास्ति	यो हि द्यावापृथिवी सृष्टवान् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म (वा) एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति
मानृतं वक्तव्यं	अनृतं मा वाचि या अनृतं न वक्तव्यम्
आत्मनः पिता माता च माननीयेति	आत्मनः पिता माता च माननीयाविति

मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि	मा हिंसी: सर्वाणि भूतानि
अतएव शास्त्रस्य लिखनं	अतएव शास्त्रस्य लेखनं
ये लोका: परमेश्वरस्य सर्वाज्ञा: पालयन्ति तेषां किंफलं भवति	ये मनुष्या: तेभ्य: ... किं फलं भवति

ऐसी पुस्तक को शुद्ध करना व्यर्थ है। शायद ही कोई ऐसा पृष्ठ हो जिसमें न्यून-से-न्यून दस अशुद्धियाँ न हों।

कॉलेज कक्षाओं में संस्कृत पाठ्य-प्रणाली के विषय में लाला हंसराज, लाला लालचन्द और लाला साईंदास का विचार है कि क्योंकि कॉलेज कक्षाओं में यह पद्धति एकदम लागू नहीं की जा सकती, इस योजना पर विचार करना तब तक स्थगित कर दिया जाए जब तक कॉलेज कक्षाएँ इन पाठ्यक्रमों के उपयुक्त नहीं हो जातीं।

परन्तु मेरी यह राय है कि भविष्य में जब ऐसी योजना लागू करने के योग्य अवसर हों तो कोई भी अनावश्यक देरी न करने के लिए, प्रणाली की वांछनीयता अभी तय कर ली जाए जबकि वह कार्यान्वित चाहे कुछ समय पश्चात् हो।

राय मूलराज एम.ए., पी.सी. आर.सी.एस., जो विशेष उपसमिति की किसी भी बैठक में उपस्थित नहीं हो सके, ने समिति को अपने विचारों से अवगत करने की कृपा की है, जिसके लिए उनका पत्र प्रबन्धक समिति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

27 जुलाई 1889 गुरुदत्त विद्यार्थी''

अत: स्पष्ट है कि मतभेद पाठ्यक्रम के विषय में था। पण्डित गुरुदत्त ऋषि दयानन्द प्रतिपादित विधि के प्रबल समर्थक होने के नाते अष्टाध्यायी पढ़ाना चाहते थे। इसका कारण उनका अपना निजी अनुभव भी था और ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा भी। वे समझते थे कि इस प्रकार विद्यार्थियों का समय बचेगा, वे आर्ष एवं अनार्ष ग्रन्थों का भेद जान सकेंगे और वेद के रहस्यों से भी परिचित हो जाएँगे परन्तु जिन्होंने स्वयं अष्टाध्यायी नहीं पढ़ी थी, उन्हें इस वास्तविकता का ज्ञान नहीं था और वे ऋषि दयानन्द द्वारा निन्दित लघुकौमुदी ही पढ़ाना चाहते थे।

इस समस्या का समाधान करने के लिए काफी प्रयत्न हुए। नवम्बर 1889 में आर्यसमाज लाहौर के उत्सव के अवसर पर कॉलेज कमेटी की बैठक हुई। संस्कृत प्रेमियों के अनुरोध को देखकर हंसराज का यह सुझाव कि लघुकौमुदी के समान अष्टाध्यायी के सरल अंश तैयार किए जाएँ और

वेदांगप्रकाश से सूत्रों तथा उनके हिन्दी अर्थों और व्याख्याओं के आधार पर पाठ्य-पुस्तकें लिखी जाएँ, स्वीकार कर लिया गया। मनुस्मृति, रामायण तथा महाभारत के भाग भी शेष पाठ्यक्रम के अतिरिक्त इन कक्षाओं में पढ़ाना तय किया गया। इस प्रकार गुरुदत्त की कुछ योजनाएँ उसी समय मान ली गईं और मिडिल तथा उच्च कक्षाओं में अष्टाध्यायी की पढ़ाई अनिवार्य कर दी गई। पण्डित जी की शेष योजनाएँ अन्य उपयुक्त समय के लिए स्थगित कर दी गईं।[1घ, 5च] वैसे अष्टाध्यायी सम्बन्धी गुरुदत्त की पूरी योजना पारित हो जाती परन्तु लालचन्द की धमकी के कारण रुक गई।[17]

यद्यपि इससे पण्डित जी की पूरी सन्तुष्टि न हुई तो भी यह उनकी अच्छी विजय थी। कॉलेज कमेटी के जिन लोगों ने जनवरी 1889 में गुरुदत्त को संस्कृत पुस्तकालय की स्थापना के लिए माँगने पर भी पाँच हजार रुपये देने से इनकार कर दिया था,[8ख] उन्हें ही कुछ समय पश्चात् उनके व्यापक प्रभाव तथा पक्ष की स्वीकार्यता को देखकर पाठ्यक्रम में यह परिवर्तन करना पड़ा। लाला लाजपतराय ने इस विषय में लिखा था, ''मेरा विचार है कि डी.ए. वी. कॉलेज की मिडिल कक्षाओं में पाणिनि की अष्टाध्यायी की पढ़ाई शुरु करना वैदिक संस्कृत के लक्ष्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण विजय है और इसके लिए हम सदैव पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी तथा कुछ अन्य जनों के सतत प्रयासों के आभारी रहेंगे। यह निश्चय ही इस अद्वितीय संस्था के इतिहास में एक युग का निर्माण करेगी क्योंकि इस संस्था का भारत के शैक्षणिक भविष्य में अपना विशेष स्थान है। कुछ और सुविधाएँ पहले ही दी जा चुकी हैं और वह दिन अधिक दूर नहीं जब पाश्चात्य ज्ञान और विज्ञान के साथ-साथ पवित्र वेद पढ़ाए जाएँगे।''[1घ] यद्यपि 1890 से मिडिल कक्षाओं में अष्टाध्यायी पढ़ाना मान लिया गया था, फिर भी गुरुदत्त और लाला रलाराम जैसे उनके साथी संस्कृत और वेद विद्या को और अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिलवाने के लिए प्रयत्न करते रहे।

यह टकराव दो भिन्न-भिन्न शिक्षा-पद्धतियों का था। एक लॉर्ड मैकॉले की पाश्चात्य पद्धति थी, दूसरी पण्डित गुरुदत्त की। एक का आधार अंग्रेज़ी तथा पश्चिमी साहित्य एवं दर्शन था, दूसरी का वैदिक संस्कृत और वैदिक साहित्य। एक में अंग्रेज़ी पर बल था, दूसरी में अंग्रेज़ी थी और विज्ञान भी पर ऋषि दयानन्द के निर्देशानुसार 'अन्य देश भाषा तो जितना प्रयोजन, उतनी ही पढ़ाना' अभीष्ट थी। एक का लक्ष्य केवल क्लर्क, इन्जीनियर, वकील, व्यापारी

... पैदा करना था, दूसरी का इसके साथ-साथ मनुष्य निर्माण भी। एक का प्रचलन अभी आरम्भ हुआ था, दूसरी गुरुदत्त के मस्तिष्क में थी। एक को बरतानवी साम्राज्य का पूर्ण समर्थन प्राप्त था, दूसरी का अनभिज्ञता के कारण अपने ही विरोध कर रहे थे। यूँ संस्कृत पर बल देना गैर-आर्यसमाजियों को भी बहुत पसन्द था। अंग्रेज़ी पत्र ट्रिब्यून ने 4 दिसम्बर 1886 को अग्रलेख में लिखा था : ''क्या यह पंजाब की हिन्दू बिरादरी के लिए कलंक नहीं है कि जब यूरोप तथा अमरीका आदि विदेशों में भी संस्कृत की इतनी सराहना की जा रही है और मान दिया जा रहा है, तब इसे अपनी ही भूमि में भुला दिया जाए। जिसमें भी हिन्दू रक्त है, उसकी संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन में रुचि होनी चाहिए। हम दयानन्द कॉलेज के लक्ष्य की केवल इसलिए इतनी अधिक वकालत करते रहे हैं और इसके विज्ञापन नि:शुल्क छापते हैं क्योंकि हमें दृढ़ आशा है कि इस प्रान्त में संस्कृत साहित्य के अध्ययन को पुनर्जीवित करने का यह कॉलेज माध्यम बनेगा।'' अत: यदि पण्डित गुरुदत्त की पद्धति को अपना लिया जाता और अंग्रेज़ी तथा विज्ञान के साथ-साथ संस्कृत पर अधिक बल दे दिया जाता, तो इस देश को शिक्षा के क्षेत्र में एक स्वस्थ विकल्प मिल पाता। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् यहाँ जो भाषाई विवाद हुए, हिन्दी का दक्षिण में जो विरोध हुआ, उत्तर-दक्षिण की जो दरार पड़ी, इतिहास में जो विकृतियाँ हुईं तथा केवल निज हित को प्राथमिकता देने वाली जिस संस्कृति का प्रचलन हुआ – वह सब कुछ न होता।

इस प्रकार कॉलेज के आरम्भिक काल में ही एक विवाद उठ खड़ा हुआ था। उसकी तह में काम करने वाली दोनों प्रवृत्तियाँ आज तक आर्यसमाज में विद्यमान हैं। एक ने स्कूल कॉलेजों को जन्म दिया, तो दूसरी ने गुरुकुलों को। दोनों की अपनी-अपनी उपयोगिता रही है।

मांसाहार

शिक्षा-पद्धति सम्बन्धी इस मतभेद के साथ-साथ एक अन्य विवाद का जन्म हुआ, वह था मांसाहार के विषय में। उन दिनों मुसलमानों के सम्पर्क के कारण पंजाब के हिन्दुओं में मांस-भक्षण प्रचलित था। शताब्दियों पुराने संस्कार मिटते समय लेते हैं। जो संस्कार आचरण के पश्चात् स्वभाव का अंग बन गए हों, उनका मिटना और भी कठिन होता है। जिन जीवों में सात्त्विकता की बहुलता होती है, वे अपने जीवन के दोषों को शीघ्र त्याग देते हैं। परन्तु साधारण व्यक्तियों का कायाकल्प धीरे-धीरे हुआ करता है इसीलिए

कई लोग जो मूर्तिपूजा, मृतक-श्राद्ध तथा सामाजिक कुरीतियों का खण्डन करने में अग्रणी थे, इस विषय में मौन साध लेते थे। परन्तु आर्यसमाज का सदस्य बनने पर प्राय: सभी लोग अन्य बुराइयों की तरह मांस, शराब तथा हुक्का छोड़ देते थे।

महर्षि दयानन्द विशुद्ध शाकाहारी थे। उन्होंने सदैव लेखनी तथा वाणी द्वारा मांसाहार का खण्डन किया। उनकी अमर कृतियाँ इस प्रकार के लेखों से भरी पड़ी हैं। 'गोकरुणानिधि' में उनका हृदय मूक पशुओं के प्रति दया के कारण द्रवित हो उठा है। अंग्रेजी शासन में निरन्तर बढ़ते हुए गाय के उत्पीड़न तथा वध से हो रही धार्मिक एवं आर्थिक क्षति तथा मूक पशुओं के प्रति दायित्व को कूका आन्दोलन के पश्चात् सर्वप्रथम ऋषि दयानन्द सरस्वती ने ही समझा था। अत: उन्होंने गोरक्षार्थ लाखों हस्ताक्षर कराए, उपदेश दिए तथा गोकृष्यादिरक्षिणी (संक्षेप: गोरक्षिणी) सभाएँ बनाईं। वस्तुत: ''1880-94 के दौरान आर्यसमाज उन प्रारंभिक संगठनों में थी जिसने गो-वध के विरुद्ध प्रचार शुरू किया एवं गोरक्षिणी सभाएँ शुरू कीं। बाद में देशभर में आर्यसमाज के साथ विभिन्न धर्मसभाएँ एवं हिन्दू संगठन आ जुटे।''[18] समय के साथ गोरक्षिणी सभाएँ इस आन्दोलन की सबसे महत्वपूर्ण संस्था बनकर उभरीं। ''पंजाब के सभी बड़े शहरों में आर्यसमाज द्वारा गोरक्षिणी सभाओं का गठन किया गया''[18] धीरे-धीरे अन्य प्रान्तों में भी गोरक्षिणी सभाओं का जाल बिछ गया। ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज ने इस प्रकार गोरक्षार्थ जो प्रबल जन जागरण आरम्भ किया, उससे सरकार बहुत चिन्तित थी।[19] ऋषि द्वारा स्थापित गोकृष्यादिरक्षिणी सभाओं के विरुद्ध बोलना तब किसी हिन्दू के लिए सम्भव नहीं था।[20] अंग्रेज़ इन सभाओं को कालान्तर में शरारती और षड़यन्त्रकारी संस्थाएँ समझने लग गया था।[21] नवम्बर 1860 से लेकर 1878 तक भारत में यत्र-तत्र पड़ रहे भीषण अकालों को भी पशुवध के साथ जोड़कर देखा जाने लगा था। गोमांसाहारी अंग्रेज़ 1857 की क्रान्ति में गाय की भूमिका से भी सुपरिचित था। अत: जहाँ पाश्चात्य लेखक तब यह सिद्ध करने में जुट गए थे कि वैदिक युग में गोमांस-भक्षण प्रचलित था, ऋषि भी गोमांस खाते थे तथा यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी, वहाँ ऋषि दयानन्द स्वग्रन्थों में इस मत का पूर्ण खण्डन कर रहे थे। मांसाहार सम्बन्धी विवाद पर विचार करते समय इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है।

गोरक्षा और मांस-भक्षण परस्पर जुड़े हुए प्रश्न थे। आर्यों का विचार था कि जब गोहत्या पाप है, तो मांस-भक्षण हेतु भेड़ बकरी भी कैसे मारी जा

सकती है?[22] उन दिनों पत्रिकाओं में गोकरुणानिधि के आधार पर लेख लिखे जाते थे।[23] क्योंकि कॉलेज में अष्टाध्यायी पर बल देने का विरोध करने वालों में मांसाहारियों का बाहुल्य था, अत: दोनों प्रश्न परस्पर जोड़कर देखे जाने लगे अन्यथा पण्डित गुरुदत्त ने तो कॉलेज की स्थापना से बहुत पहले अगस्त 1882 में मांसाहार के अनौचित्य पर लेख लिखा था।[24] दुर्गाप्रसाद का ध्यान इधर बहुत देर में गया।[25] तब (1887 के पश्चात्) शाकाहार और गोरक्षा के समर्थन में आर्य सभासदों और पत्रिकाओं ने भारी प्रचार आरम्भ कर दिया था। इस विषय पर अनेक ट्रैक्ट प्रकाशित किए गए।[25,26]

पण्डित गुरुदत्त, जीवनदास, मास्टर दुर्गाप्रसाद, महात्मा मुन्शीराम, पण्डित लेखराम, राय पैड़ाराम आदि मांसाहार को पाप मानते थे। साईंदास तथा अंग्रेज भक्त मूलराज व जोधपुर के महाराजा प्रतापसिंह आदि स्वयं सामिषभोजी होने के कारण मांस-भक्षण के पक्ष में थे। अविद्या बहुत बड़ा अभिशाप है। अविद्याग्रस्त व्यक्ति को अपने ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। इसी कारण साईंदास जैसा सच्चा आर्य पुरुष भी मांसभक्षण को बुरा नहीं मानता था। फिर इसे त्यागने की तो बात ही क्या कहनी! पण्डित चमूपति ने लिखा था, ''यदि मांसभक्षण लाला साईंदास को अपने जाति प्रेम के रास्ते में बाधक प्रतीत होता तो वह उसे तुरन्त त्याग देते। मांस का निषेध था वेद में, शास्त्र में। मांस त्याज्य था अध्यात्म की दृष्टि से। लाला साईंदास के लिए यह दृष्टियाँ गौण थीं। इन दृष्टियों का प्रतिनिधि गुरुदत्त था। ... उन्हें (साईंदास को) जाति हित में मांसाहार बाधक प्रतीत नहीं होता था।''[8ग] यह कारण है कि साईंदास ने इसका परित्याग नहीं किया परन्तु आर्यसमाज की वेदी से मांसाहार के विरुद्ध प्रचार करने में वह कभी बाधक नहीं बने।

लाहौर में मांसभक्षण के प्रबल समर्थक राय मूलराज एम.ए.[27] तथा मुलकराज भल्ला थे। भल्ला जी महात्मा हंसराज के बड़े भाई थे। साईंदास से उनका गहरा स्नेह था। लोगों में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। महात्मा जी को आर्थिक सहयोग देने के कारण उनका मान और भी बढ़ गया था। वे विचारों से आर्यसमाजी नहीं थे, न ही कभी आर्यसमाज के सदस्य बने। वे ब्रह्मसमाज के सदस्य थे और हिन्दू जाति के उत्थान की भावना रखते थे। उनका विचार था कि बौद्ध तथा जैन मत की अहिंसा ने आर्यावर्त देश का नाश किया है। अत: स्वयं भी मांस खाते थे और इसका प्रचार भी करते थे। उन्होंने मांसभक्षण के पक्ष में उर्दू में कई कविताएँ रचीं तथा पुस्तकें भी लिखीं। उनका ध्येय आर्यसमाज को लाभ या हानि पहुँचाना नहीं था अपितु अपने विचारों का

प्रचार करना था। महात्मा हंसराज उनके विचारों से सहमत थे परन्तु वे मांसाहार के पक्ष में प्रचार के समर्थक नहीं थे।[3ख] भल्ला जी की इन गतिविधियों ने जनता में महात्मा जी के प्रभाव को क्षति पहुँचाई क्योंकि कुछ लोग मुलकराज के कार्यों के लिए भी उन्हें दोषी ठहराने लगे। सम्भवत: मुलकराज की आर्थिक सहायता हंसराज तथा आर्यसमाज दोनों को मँहगी पड़ी। जो आभूषण कान फाड़े उसका क्या लाभ?

मांसभक्षकों की सामान्यतया तथा राय मूलराज की विशेषतया मानसिक दुर्बलता की यह दशा थी कि जब तक ऋषि दयानन्द जीवित रहे तब तक किसी ने भी यह आभास नहीं होने दिया कि वह मांसाहार के पक्ष में है। आर्यसमाज लाहौर की स्थापना जून 1877 में हो गई थी। तब से लेकर ऋषि की मृत्यु पर्यन्त छह वर्ष पाँच मास की लम्बी अवधि में किसी आर्यसमाजी ने किसी भी सिद्धान्त पर कभी शंका न की। आर्यसमाज लाहौर की अन्तरंग सभा ने तो 1884 में मांसाहार के विरुद्ध प्रचार करने हेतु एक उपसमिति का गठन भी किया था, जिसके मन्त्री जवाहरसिंह थे। परन्तु मांसाहारी मूलराज ने देव दयानन्द के देहावसान के पश्चात् मांसाहार का प्रचार आरम्भ कर दिया।[28] फिर कुछ अन्य लोग भी अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग अलापने लग गए।

ऋषि के परलोक गमन के पश्चात् 28 दिसम्बर 1883 को परोपकारिणी सभा का प्रथम अधिवेशन अजमेर में मेयो कॉलेज में बनी मेवाड़ राज्य की कोठी में हुआ था। इसमें एक प्रस्ताव ऋषि के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के विषय में पारित किया गया जिसका विवरण आर्यसमाज अजमेर की मासिक पत्रिका देश हितैषी में इस प्रकार छपा था, ''रायबहादुर गोपालराव हरि देशमुख जी ने निम्नलिखित श्री स्वामी जी का सिद्धान्त सुनाया और कहा कि इस समय दूर-दूर के स्थानों के आर्यगण उपस्थित हैं। सब कोई जान लें कि स्वामी जी का क्या सिद्धान्त था। जहाँ तक हो सके उसी के अनुसार बर्ताव करें। मन्त्रसंहिता वेद हैं, ब्राह्मण इत्यादि वेद नहीं है। वेदों में किसी जन्तु के मारने की आज्ञा नहीं है। वेदों में सब सत्य विद्याओं का मूल है। पाषाण मूर्तिपूजन वेदविरुद्ध है। ईश्वर निराकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अजर, अमर, नित्य पवित्र है; उसी की उपासना करने योग्य है। जो बात नीति और बुद्धि के विरुद्ध हो, वह धर्म नहीं। वेदों का अधिकार सब वर्णों को है। कर्म और गुण से वर्ण है, वीर्य से नहीं। जहाँ तक हो सके बाल विवाह से बचकर ब्रह्मचारी रहना चाहिए। वायु की शुद्धि के लिए हवन

की आवश्यकता है। मृतकों को भोजन छादन कभी नहीं पहुँचता। वेदों की आज्ञा है कि सब मनुष्य देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर की यात्रा करें। आर्यों को उचित है कि पाठशाला नियत करें और प्राचीन ग्रन्थों का पठन-पाठन रखें। स्वार्थ साधकों ने उनमें यत्र-तत्र मिला दिया हो, उसको वेदों की कसौटी से परीक्षा कर उससे दूर करें। इस पर सब सभासदों के हस्ताक्षर कराए गए और सबने उत्साहपूर्वक कर दिए।''[29] देश हितैषी के इसी अंक के दूसरे पृष्ठ पर हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों के नाम दिए हैं, जिनमें मूलराज भी हैं। नैतिकता की मांग थी कि मूलराज इस पर हस्ताक्षर न करते।

मांसाहार के समर्थकों का मानना था कि प्राचीन ऋषि भी मांस खाते थे और चरक व सुश्रुत आदि इसका अनुमोदन करते हैं। परन्तु पण्डित गुरुदत्त की मान्यता थी कि वेद में मांस-भक्षण का केवल निषेध ही नहीं किया गया अपितु इसे पाप माना गया है। उन्होंने ऋषिकृत ग्रन्थों का गहन स्वाध्याय किया था। उनके लिए ऋषिकृत वेदभाष्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश का एक-एक वाक्य सत्य, प्रामाणिक तथा मान्य था। इस विषय में उन्होंने विपक्षियों को शास्त्रार्थ की चुनौती भी दे रखी थी।[30] पण्डित जी मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, सायण, महीधर आदि की व्याख्याओं से सहमत नहीं थे। ऋषि दयानन्द सरस्वती पर उनकी इतनी श्रद्धा थी कि वे ऋषि सिद्धान्तों के विपरीत कुछ भी सहन करने के लिए उद्यत नहीं थे। इसलिए वे और उनके साथी मांसाहार के प्रबल विरोधी थे।

31 जनवरी 1889 को कॉलेज प्रबन्धक समिति की हुई बैठक में पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में गुरुदत्त और मूलराज के मतभेद उभर आए। लाला नारायणदास,अतिरिक्त सहायक कमिश्नर भी उस मीटिंग में उपस्थित थे। उन्होंने उसी दिन मीटिंग के पश्चात् अपने भाई भक्त ईश्वरदास एम.ए. के मकान पर मूलराज, साईंदास, गुरुदत्त, जीवनदास, हंसराज, लालचन्द आदि की एक बैठक बुलाई ताकि मतभेद दूर हो सकें। तब पूछने पर गुरुदत्त ने कहा कि उनके मूलराज से मतभेद के कारण हैं – राय बहादुर मूलराज का मांस-भक्षण का पक्ष लेना, वेद को ईश्वरीय ज्ञान न मानना, ईश्वर की सत्ता में उनका अविश्वास तथा 'संसार का उपकार करने' के स्थान परन्तु केवल अपनी जाति एवं देश के हितार्थ अन्य जातियों एवं देशों के विनाश को उचित मानना। नारायणदास ने गुरुदत्त के विचारों से सहमति दर्शाई परन्तु मूलराज ने किसी बात का कोई सीधा उत्तर न दिया। इतना अवश्य कहा, ''मैंने आर्यसमाज का सदस्य बनते समय ही कहा दिया था कि क्योंकि मैंने वेद

नहीं पढ़े, अत: मैं वेदों को नहीं मानता।'' इसका तत्काल खण्डन करते हुए साईंदास ने कहा कि मूलराज ने ऐसा कभी नहीं कहा था। मूलराज अपने पक्ष की पुष्टि तो न कर सके परन्तु इतना अवश्य बोले, ''सुना है कि पण्डित जी गुरु बनना चाहते हैं।'' इस सरासर निराधार कथन को किसी ने भी गम्भीरता से न लिया। सभी ने इसे हंसी में ही उड़ा दिया।[31]

लालचन्द ने कुछ साथियों से सलाह करके कहा कि यदि गुरुदत्त मांसाहार का विरोध करना छोड़ दें, तो मूलराज इसके पक्ष में प्रचार करना बंद कर देंगे। गुरुदत्त बोले, 'वेद मांसाहार को पाप मानता हैं और मैं वेद विरुद्ध नहीं जा सकता।' तब यह सुझाव आया कि कुछ सदस्य गम्भीरतापूर्वक विचार करें कि वेद में क्या विधान किया गया है; फिर जो निर्णय हो, उसे सब स्वीकार करें। मूलराज ने कहा कि मैंने वेद नहीं पढ़े, अत: मैं इस निर्णय से सहमत नहीं हूँ। तब गुरुदत्त बोले, ''आप वेद नहीं जानते तो स्वामी जी के हिन्दी भाषा के ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश आदि पढ़कर निर्णय कर लें।'' इस पर मूलराज का उत्तर था कि वे स्वामी जी को निर्भ्रान्त नहीं मानते। साईंदास तथा हंसराज का मत था कि इस विषय पर परस्पर विचार-विमर्श से कुछ लाभ नहीं होगा। लाला साईंदास ने कहा, 'गुरुदत्त अन्तरंग सभा की मीटिंगों में बहुत कम आते हैं। यदि आना शुरू कर दें तो मेलजोल से मतभेद दूर हो सकते हैं।' गुरुदत्त ने कहा कि अन्तरंग सभा में प्राय: आय-व्यय तथा प्रबन्ध सम्बन्धी विषयों पर विचार होता है। वेद प्रचार की बात तो होती नहीं, अत: वे वह समय बचाकर अष्टाध्यायी तथा आर्षग्रन्थों का स्वाध्याय कर लेते हैं। अन्त में नारायणदास ने कहा कि सभी सज्जनों को मांसाहार के विषय में प्रीतिपूर्वक विचार करना चाहिये ताकि शीघ्र निर्णय लिया जा सके।[31]

कुछ दिनों पश्चात् जब राय नारायणदास पुन: लाहौर आए तो भक्त ईश्वरदास के निवास पर लालचन्द, जीवनदास, मुरलीधर, साईंदास आदि की फिर मीटिंग हुई। साईंदास अस्वस्थ होने के कारण उठकर चले गए। नारायणदास के पूछने पर लालचन्द तथा ईश्वरदास ने कहा कि क्योंकि वे वेदों को नहीं जानते अत: उन्होंने इस विषय पर कोई विचार नहीं किया। पलटकर ईश्वरदास ने नारायणदास से पूछा, ''क्या आपने पढ़ें हैं वेद?'' राय नारायणदास ने दुखी स्वर में उत्तर दिया, ''ऋषि दयानन्द अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी पुस्तकें पढ़कर वेदों के बारे में मेरी संतुष्टि हो गई है। इसीलिए

आर्यसमाज का सदस्य बना हूँ। तुम लोग ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थों पर तो विश्वास करते नहीं परन्तु मैक्समूलर और आर.सी.दत्त की व्याख्याओं को सही मानते हो। उनके अनुसार तो ऋषि गोमांस खाया करते थे। उन्हें सही मानते हो तो तुम भी वैसा ही करो।''[31]

महात्मा मुन्शीराम ने अपने जीवन-चरित में किसी बड़े सरकारी पदाधिकारी, एम.ए., प्रेमचन्द रायचन्द स्कॉलर की एक घटना लिखी है।[32क] मूलराज सरकारी कर्मचारी थे, एम.ए. थे तथा प्रेमचन्द रायचन्द स्कॉलर भी। सम्भव है यह घटना उन्हीं के जीवन की हो। घटना इस प्रकार है कि उक्त सज्जन एक दिन गुरुदत्त से कहने लगे, ''पण्डित जी, आप शास्त्रीय आधार पर मांसभक्षण का विरोध करते हो परन्तु सुश्रुत में तो इसकी खुली आज्ञा है।'' प्रश्न करते समय उस सज्जन की आँखों में गर्व की चमक थी। उसे लग रहा था कि मानो गुरुदत्त उत्तर ही न दे पाएँगे। इधर पण्डित जी ने सोचा कि जिन लोगों की वेदों तथा शास्त्रों पर न श्रद्धा है, न अध्ययन है, उनके सामने शास्त्रीय विवेचना का क्या लाभ? अतः बहुत ही मनोरंजक उत्तर दिया। बोले – ''सुश्रुत की इस बात पर आचरण करने के लिए तैयार हो?'' झटपट उत्तर मिला, ''क्यों नहीं परन्तु क्या आपने भी मांसभक्षण का औचित्य स्वीकार कर लिया?'' पण्डित गुरुदत्त कहने लगे, ''तुम मेरी बात छोड़ो परन्तु यदि मांसाहार ही करना है तो मांस अच्छा होना चाहिए। मनुष्य का मांस सर्वोत्तम रहेगा। यदि मनुष्यों में एम.ए. मिल जाए और वह भी प्रेमचन्द रायचन्द स्कॉलर – तो फिर कहना ही क्या?'' बस, तब क्या था! घड़ों पानी पड़ गया। जिस लाठी से गुरुदत्त को हांकना चाहा था उससे अपनी ही पिटवाई करवाकर चलते बने।

जो वर्ग कॉलेज में संस्कृत की शिक्षा पर अधिक बल देने का विरोधी था, उसी के कुछ सदस्य मांसाहार के समर्थक थे। निस्सन्देह उनमें से कुछ लोग ऐसे भी थे जो स्वयं मांसभक्षण के नितान्त विरोधी थे। कुछ इसे पाप मानते हुए भी मांसाहारियों को सदस्य बनाए रखने के पक्ष में थे। उनका तर्क यह था जैसे असत्य वक्ता आर्यसमाज का सदस्य रह जाता है, उसी प्रकार ये लोग भी रहने देने चाहिएँ। यह वर्ग भी उनसे आशा रखता था कि वे धीरे-धीरे मांसाहार का परित्याग कर देंगे। आम धारणा यह थी कि मांसाहारी आर्यसमाज का सदस्य भले ही बन जाए पर सभासद बनने से पूर्व उसे मांस-भक्षण छोड़ देना चाहिए। इसीलिए आर्यसमाज लाहौर की अन्तरंग सभा

में 30 जुलाई, 1889 को एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया कि बिना डॉक्टर की अनुमति के मांस तथा शराब का सेवन करने वाला आर्य सभासद नहीं बन सकता। हंसराज ने इसका यह कहकर विरोध किया कि यह प्रस्ताव नियमों में संशोधन तुल्य है, अत: अमान्य है। हंसराज के मत के पक्ष में आठ और विरोध में पाँच मत पड़े।[33] लाजपतराय के अनुसार ''आर्यसमाज का बहुमत मांसाहार का विरोधी था तथा जो थोड़े लोग मांसाहार करते थे, वे भी अपने पक्ष में कभी कोई वेद मन्त्र प्रस्तुत न कर सके।''[1ङ] फिर भी गुरुदत्त ने सितम्बर 1889 में मांसाहारियों के तर्कों का खण्डन करने वाले प्रमाणों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने का निश्चय किया। एक छोटा-सा संकलन किया भी[1च] परन्तु इससे पूर्व कि वे अपने स्वप्न को साकार करते, निर्मम मृत्यु ने उन्हें सदा के लिए हम से छीन लिया।

आर्यों के लिए धर्म विषय में प्रमाण ऋषि दयानन्द व गुरुदत्त थे, न कि मूलराज व उन जैसे विचारों के अन्य व्यक्ति। निरामिषभोजियों के लिए मांसाहारियों को आर्यसमाजों में अधिकार दिए रखना असह्य हो गया। अत: साईंदास को प्रधान पद से हटाने की लहर भी चली। परन्तु शीघ्र ही 13 जून 1890 को उनका देहावसान हो गया और बात वहीं समाप्त हो गई। किन्तु मूलराज को आर्यसमाज के उत्सव पर 1893 में दिए गए मांसाहार विषयक उनके वक्तव्य के लिए अन्तरंग सभा ने उन्हें कारण बताओ नोटिस दे दिया। बार-बार लिखने पर भी जब मूलराज ने कोई उत्तर न दिया तो उन्हें आर्यसमाज की सदस्यता से अलग करने के लिए एक प्रस्ताव आर्यसमाज लाहौर की अन्तरंग सभा में अगस्त 1893 में प्रस्तुत कर ही दिया गया परन्तु शाकाहार के प्रबल पोषक राय पैड़ाराम की असहमति के कारण केवल एक मत के अभाव में पारित होने से रह गया।

इस विवाद का सुखद परिणाम यह रहा कि आर्य जगत् आन्दोलित हो उठा। आखिर परोपकारिणी सभा, अजमेर ने समस्त आर्यसमाजों की सम्मतियाँ मंगवाई। समूचे भारत में केवल एक जोधपुर के आर्यसमाज ने सर प्रतापसिंह के निजी प्रभाव के कारण मांसाहार का पक्ष लिया। इस पर परोपकारिणी सभा ने 28 दिसम्बर 1893 के अधिवेशन में मांसाहार को वेद विरुद्ध घोषित कर दिया। फिर 11 जनवरी 1898 को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने नियम पारित किया : ''जो मनुष्य यह राय रखे कि ऐसे भोजन का खाना जिसमें मांस अर्थात् गोश्त, मुर्गी, मछली, अण्डा इत्यादि हों, वेदों के अनुसार है और पाप नहीं है, आर्य प्रतिनिधि सभा के मतालब के लिए समझा जावेगा कि

उसने सदाचार की उक्त शर्त को तोड़ दिया है।'' अक्तूबर 1903 में महात्मा हंसराज ने एक वक्तव्य द्वारा मांस-भक्षण की तीव्र निन्दा की। इस प्रकार समूचे आर्यसमाज ने मांस-भक्षण को वेदविरुद्ध घोषित कर दिया। लगभग 1913 में डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर के छात्रावास का मांस वाला एक मात्र किचन बंद कर दिया गया। समस्या सदा के लिए सुलझ गई।

वैदिक सिद्धान्त और मूलराज

यदि उस युग में पण्डित गुरुदत्त, मास्टर दुर्गाप्रसाद, जीवनदास, केदारनाथ, महात्मा मुन्शीराम तथा पण्डित लेखराम सरीखे सिद्धान्तवादी लोग न होते तो आर्यसमाज का स्वरूप ही बिगड़ जाता क्योंकि शाकाहार से सम्बन्धित एक और प्रश्न भी था। वह था ऋषि दयानन्द तथा वेद की प्रामाणिकता के विषय में। कुछ मांसाहारी विचार-स्वतन्त्रता की आड़ में यह प्रचार करते थे कि ऋषि दयानन्द के समस्त मन्तव्यों को मानना आर्यसमाज के सदस्य के लिए अनिवार्य नहीं है। वेद को अपौरुषेय और ऋषि दयानन्द के भाष्य को सही मानना भी जरूरी नहीं है। मांसाहार पर भी अपनी भिन्न राय रखता हुआ कोई व्यक्ति केवल आर्यसमाज के दस नियमों पर हस्ताक्षर करके समाज का सदस्य बन सकता है। मूलराज ऐसा ही मानते थे। वही ऐसा विचार रखने वाले दल के अगुवा थे।

ऋषि सिद्धान्तों पर बल देने वाले आर्यों से विचार भिन्नता को स्पष्ट करने हेतु मूलराज ने नवम्बर 1892 में आर्यसमाज लाहौर के उत्सव पर अंग्रेज़ी में दिए अपने भाषण[34] में इसी मान्यता की वकालत की थी। कॉलेज विभाग के कुछ लोगों ने इन विचारों का खुलकर प्रचार किया।[35] यह बात तब अधिक स्पष्ट हुई जब ऋषि निर्वाणार्द्धशताब्दी के अवसर पर उन्होंने दशप्रश्नी नामक एक ट्रैक्ट प्रकाशित करवाया।[36] उसमें राय साहब ने दस प्रश्न लिखकर उनके उत्तर दिए हैं। यह पुस्तिका ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज सम्बन्धी उनके विचारों पर प्रकाश डालती है। आठवां प्रश्न यह है कि ''क्या आर्यसमाज का सभासद बनने के लिए स्वामी दयानन्द कृत ग्रन्थों में लिखी हुई सभी बातों को मानना आवश्यक है?'' इसके उत्तर में राय साहब ने स्पष्ट लिखा है कि आर्यसमाज के सदस्यों को दस नियमों के अतिरिक्त दयानन्द के किसी और सिद्धान्त को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार शेष प्रश्नों के उत्तरों का सार भी यही था कि आर्यसमाज के सदस्यों के लिए ऋषिभाष्य को सही मानना आवश्यक नहीं है। यह मानना भी अनिवार्य नहीं है कि वेद चार हैं तथा आदि सृष्टि में इनका प्रकाश हुआ था।

'दशप्रश्नी' द्वारा इतने भ्रांतिपूर्ण विचार फैलाए गए कि महात्मा हंसराज जैसे सागर समान गम्भीर व्यक्ति को दुखी होकर उसके उत्तर में लेखनी उठानी पड़ी थी।[37] महात्माजी ने लिखा था, ''लाहौर पहुँचकर मैंने इस रसाले को पढ़ा। इसे पढ़कर मुझे सख्त रंज हुआ। ... मेरी तो राय साहब से प्रार्थना है कि जिस आधार-शिला पर स्वामी जी महाराज ने आर्यसमाज की नींव रखी है, उसको उखाड़ने का यत्न न करें। ... यदि राय साहब के विचार को ठीक मान लिया जाए, तो आर्यसमाज किसी बात का प्रचार कर ही नहीं सकता। इन ख़यालात को जो अर्द्धशताब्दी जैसे पवित्र समय पर इन्होंने (मूलराज ने) पेश किए हैं – आर्य पब्लिक के सामने रखकर उनसे यह फ़ैसला तलब करूँ के आया आर्यसमाज के मेम्बर, सभासद और नेता आर्यसमाज को राय बहादुर और उनकी सहायक नई पार्टी के ख़यालात के मुताबिक चलाना चाहते हैं या इनका ख़याल इससे मुख़्तलिफ़ है।'' महात्मा जी ने इस उत्तर में मूलराज के बारे में लिखा – ''मुझे शुरू से राय साहब बहादुर का नियाज़ हासिल रहा है। मैं उनको अपना बुजुर्ग समझता हूँ।'' अतः यह कटु आलोचना किसी विरोधी की नहीं, उन्हीं के दल के एक सदस्य परन्तु ऋषिभक्त की है। इसके पश्चात् आर्यसमाजों ने प्रस्ताव पारित कर यह मांग की कि दस नियमों के साथ ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों को मानना अत्यावश्यक है और जो ऋषि के सिद्धान्तों को नहीं मानते उन्हें आर्यसमाज की संस्थाओं में अधिकार नहीं मिलने चाहिएँ। तब 24 दिसम्बर 1933 को **महात्मा हंसराज की अध्यक्षता में आयोजित आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की बैठक में सर्वसम्मति से दशप्रश्नी में व्यक्त विचारों के कारण मूलराज के लिए आर्यसमाज की वेदी बंद कर दी गई और उनके विचारों से पूर्ण असहमति का प्रस्ताव पारित किया गया**। काश! आँख समय पर खुलती। वाह री जाति! जब अनिष्ट हो रहा था तब तू बेसुध सो रही थी। बेचारा गुरुदत्त अकेला संघर्ष कर रहा था। यदि चालीस वर्ष पूर्व पण्डित गुरुदत्त की बात मान लेते तो इतिहास और ही होता।

राय मूलराज दस नियमों पर हस्ताक्षर भले ही करते रहे परन्तु उनका तो इन पर भी विश्वास नहीं था। जब आर्यसमाज के नियम बनाए जा रहे थे, तो उन्होंने ऋषि दयानन्द को सुझाव दिया था कि तीसरे नियम – ''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है''– में से 'सब' शब्द हटा दिया जाए। परन्तु ऋषिवर ने यह सुझाव रद्द कर दिया था।[37,38] मूलराज आर्यसमाज के छठे, पहले तथा दूसरे नियम को भी पूर्णतया नहीं मानते थे। वे सम्भवतः नास्तिक थे। कांग्रेस के संस्थापक ए.ओ. ह्यूम को जब पता चला कि मूलराज

आर्यसमाज लाहौर के सदस्य बने हुए हैं, तो उसने आर्यसमाज लाहौर के प्रधान के नाम एक पत्र में लिखा था – ''मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि राय मूलराज, एम.ए. मेरे मित्र स्वामी दयानन्द की आर्यसमाज के नास्तिक होने पर कैसे सदस्य बन गए? इस विषय में लाहौर आर्यसमाज को उचित पड़ताल तथा प्रबन्ध करना चाहिए।''[32ख] ह्यूम महाशय ने यह पत्र क्यों लिखा – इस पर मतभेद हो सकता है परन्तु मूलराज इस आरोप का खण्डन नहीं कर पाए, अत: आरोप की सत्यता निर्विवाद है। उन दिनों लाला साईंदास आर्यसमाज लाहौर के प्रधान थे। उन्होंने यह पत्र गुरुदत्त आदि केवल दो चार व्यक्तियों को ही दिखाया था। वे झगड़ा बढ़ाना नहीं चाहते थे अत: चुप्पी साध गए और इसे अन्तरंग सभा में भी प्रस्तुत नहीं किया। यदि ऋषि दयानन्द को ऐसा पत्र लिखा गया होता तो वे अवश्य पड़ताल करते। भला जिस ऋषि ने सत्य के लिए घर-बार छोड़ा, माता-पिता का प्यार बिसराया, लाखों रुपयों की गद्दियों को ठोकर मारी, अल्काट तथा देवी ब्लैवट्सकी से नाता तोड़ा, वे मूलराज की क्या परवाह करते? गुरुदत्त तथा केदारनाथ आदि यदा-कदा लाला साईंदास से इस विषय में चर्चा करते रहते थे।[31] वे टालमटोल में समय व्यतीत करते रहे।

एक बार पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी व महात्मा मुन्शीराम बैठे थे। लाला साईंदास ने इस विवाद को समाप्त करने के लिए यह अवसर उपयुक्त समझा। बोले– ''गुरुदत्त जी! अब तो राय मूलराज ईश्वर को मानने लग गए हैं।'' झटपट जेब से मूलराज का लिखा एक पत्र निकालकर दिखा दिया जिस पर अंग्रेज़ी में लिखा था, ''आई बिलीव इन गॉड'' अर्थात् ''मैं ईश्वर में विश्वास रखता हूँ।'' गुरुदत्त मूलराज की चालाकी को समझते थे। अत: इतने मात्र से उनकी सन्तुष्टि न हुई। कहने लगे – ''जब तक राय साहब ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या नहीं करते तब तक बात नहीं सुलझेगी।'' इस पर मुन्शीराम ने कहा, ''जब राय साहब ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया है तो विवाद समाप्त हो जाना चाहिए।'' गुरुदत्त बोले, ''मुन्शीराम जी! मैं कैसे मान लूँ कि राय साहब वास्तव में वेदोक्त ईश्वर को मानने लग गए हैं क्योंकि मेरे स्पष्ट कहने पर कि मैं नास्तिक हूँ, लाला साईंदास जी ने मेरा नाम आस्तिक प्रकट कर समाज में लिख लिया था।''

राय मूलराज के विषय में गुरुदत्त की आशंका निराधार नहीं थी। कुछ वर्ष पश्चात् यह विचार काफी प्रबल हो गया था कि मूलराज आर्यसमाजी नहीं है अपितु अंग्रेज़ सरकार का जासूस है और उसे स्वाधीनता की पक्षधर

आर्यसमाज में विघटन उत्पन्न करने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है।[39] मांसाहार विवाद को उनके द्वारा अधिक तूल देने के पीछे सम्भवत: यह भी कारण था। वह सर्वज्ञ पिता ही जानता है कि सत्य क्या है?

इसमें सन्देह नहीं कि मूलराज ने जीवन पर्यन्त कोई ऐसा कार्य नहीं किया जो अंग्रेज़ को पसन्द न हो। यद्यपि वे ऋषि दयानन्द के बहुत निकट थे तो भी उन्होंने ऋषि के प्रबल आग्रह के बावजूद कई ऐसे कार्य नहीं किए जिनसे आर्यसमाज का गौरव बढ़ता था। तीक्ष्णबुद्धि रायबहादुर के ऐसा न करने की तह में उनका अंग्रेज़ समर्थक होना ही हो सकता है। ऋषि दयानन्द ने मेरठ से 27 जुलाई 1880 को राय साहब को लिखा कि उनका विचार है कि ''सरकार को एक ऐसा नियम पास करने के लिए कहना चाहिए जिससे कि विधवाओं की सन्तान अपने पिताओं की चल और अचल सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त करे और उसे ले सके और जो कोई विधवा को किसी प्रकार का भी कष्ट दे, वह सरकार का दण्डभागी बने।''[4च] ऋषि ने इस विषय में एक परिपत्र हिन्दी में लिखकर उन्हें भेजा ताकि वह उसके आधार पर अंग्रेज़ी में एक स्मरणपत्र तैयार कर दें जो सरकार को भेजा जा सके। परन्तु मूलराज ने न करना था, न किया। ऋषि दयानन्द आर्य युवकों को आधुनिक कला-कौशल सीखने के लिए विदेश भेजने के पक्ष में थे। जब इस विषय में ऋषिवर ने मूलराज की राय ली तो उत्तर मिला कि भारतीय नवयुवकों को एतदर्थ विदेश भेजने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द ने उन्हें 'गोकरुणानिधि' का अंग्रेज़ी में अनुवाद करने के लिए 3 मार्च, 1881 को आगरा से पत्र लिखा।[4छ] अजमेर जाकर 28 मई को पुन: स्मरण करवाया।[4ज] परन्तु राय साहब ने ध्यान न दिया। तब दुखी होकर 11 नवम्बर को चितौड़ से लिखा— ''जब आप इतना भी पुरुषार्थ नहीं कर सकते तब आर्यसमाज की उन्नति किस प्रकार होगी?''[4झ] इतने प्रबल आग्रह पर मूलराज ने मान तो लिया[4ञ] परन्तु किया फिर भी नहीं। तब ऋषि ने 29 अप्रैल 1882 को लिखा, ''बड़े भारी शोक की बात है कि आपने अब तक गोकरुणानिधि की अंग्रेज़ी नहीं की। हमें निराश होकर यहाँ मुंबई में और लोगों से अंग्रेज़ी बनवानी पड़ी, अब आप उसमें कुछ मत बनाना।''[4ट] इस कार्य के लिए अधिकाधिक पाँच-सात दिन का समय चाहिए था पर रायसाहब ने न किया। हाँ, समय आने पर मांसाहार के प्रचार में पूरी लग्न से जुट गए। नवम्बर 1892 में आर्यसमाज लाहौर के उत्सव पर मूलराज ने यहाँ तक कह दिया था – ''एक मैं हूँ जो मांसाहार को वेदानुकूल मानता हूँ।''[40] इस पर जनता ने विरोध

किया। शेम, शेम कहा। तब राय साहब मौन साधकर बैठ गए परन्तु राय साहब के इस वक्तव्य ने आर्यसमाज के विभाजन की नींव रख दी।[41] इस वक्तव्य के कारण महात्मा नारायण स्वामी ने मूलराज को ''आर्यसमाज की तत्कालीन शान्ति और प्रेमभाव को भंग करने वाला शत्रु'' लिखा है।[42] निस्सन्देह मूलराज के इस दुष्प्रचार ने आर्यसमाज में विघटन का बीज बो दिया। गुरुदत्त और साईंदास के निधन के कारण तब कोई ऐसा सर्वमान्य नेता नहीं था जो स्थिति सम्भाल सकता। साईंदास की मृत्यु पर लाजपतराय ने ठीक ही लिखा था, ''हाय! पण्डित गुरुदत्त के मरने से तो हम बे-उस्ताद ही हो गए थे मगर लाला साईंदास के मरने से हम यतीम हो गए।''[5छ]

31 जनवरी 1889 को हुई बैठक के पश्चात् राय मूलराज तथा उनकी मण्डली ने पण्डित जी के विरुद्ध अभियान ही आरम्भ कर दिया। अपनी सफ़ाई में कहने के लिए कुछ था नहीं। बस, उलटा चोर कोतवाल को डांटे। जब गुरुदत्त पर दोषारोपण के लिए कुछ न मिला, तो यही प्रचार शुरू कर दिया कि उपदेशकों को वश में करके मनमानी चलाना चाहता है। इसीलिए ये भगवापोश (संन्यासी) चेले मूँड रखे हैं। प्रभु-भक्त सब कुछ सुनता रहा। उसे ईश्वरीय नियमों तथा सत्य की विजय में अटल विश्वास था। इसलिए कभी किसी बात का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं समझी। हाँ, एक बार (ज्येष्ठ सम्वत् 1946 वि. अर्थात् जून 1889 में) महात्मा मुन्शीराम के पूछने पर अवश्य कहा – ''मुन्शीराम जी, ये संन्यासी महात्मा मेरे लिए गुरु समान हैं। इनके विषय में ऐसी बातें सुनकर मुझे खेद होता है।''

मूलराज तथा उनके साथियों ने यहाँ तक कहा कि पण्डित गुरुदत्त कॉलेज का प्रिंसिपल बनना चाहते हैं। मारने वाले का हाथ पकड़ा जा सकता है, कहने वाले की जिह्वा नहीं। अभी न कॉलेज कक्षाएँ आरम्भ हुईं थीं, न प्रिंसिपल नियुक्त हुआ था, तब गुरुदत्त को बिना बताए एक बार मास्टर दुर्गाप्रसाद ने भक्त ईश्वरदास से तथा जीवनदास ने लालचन्द से अवश्य कहा था कि कॉलेज का प्रिंसिपल वेद का विद्वान् ही होना चाहिए।[43] कई अन्य लोग भी कहते रहे कि पण्डित गुरुदत्त स्वयं भले ही प्रिंसिपल बनने के लिए तैयार न हों परन्तु उनकी उच्च योग्यता के कारण उन्हें प्रिंसिपल बनाया जाना चाहिए। पण्डित जी को राजकीय महाविद्यालय में विज्ञान के प्रथम भारतीय सीनियर प्रोफेसर के रूप में कार्य करने का अनुभव प्राप्त था। डी.ए.वी. कॉलेज के निर्माण में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। उनकी प्रतिभा एवं योग्यता के विषय में लाजपतराय ने लिखा था कि पण्डित गुरुदत्त के देहान्त के

पश्चात् कॉलेज के संयुक्त 'एंग्लो' और 'वैदिक'– पाश्चात्य और प्राच्य उद्देश्य के अनुरूप पाठ्य-प्रणाली का निर्माण करने की योग्यता ही किसी में नहीं है। अत: यह सुझाव अनुपयुक्त नहीं था। लालचन्द भी गुरुदत्त को इस पद के योग्य मानते थे और मुलकराज भी। यद्यपि जीवनदान के समय हंसराज ने यह आश्वासन ले लिया था कि वे इस संस्था के प्रमुख होंगे और किसी के अधीन कार्य नहीं करेंगे, फिर भी स्वयं मुलकराज ने एक बार साईंदास से कहा, ''हंसराज की पिछली सेवा को ध्यान में न रखा जाए। यदि गुरुदत्त को योग्यता के आधार पर प्रिंसिपल बनाया जाए तो कोई बात नहीं।''

लालचन्द तथा ईश्वरदास से ही यह बातचीत अन्य लोगों तक पहुँची अन्यथा मास्टर दुर्गाप्रसाद और जीवनदास ने इस प्रसंग में न कभी सार्वजनिक चर्चा की,[43] न ही गुरुदत्त ने कोई रुचि ली। गुरुदत्त तो स्वयं सरकारी नौकरी के राजपथ को छोड़कर कण्टकाकीर्ण पथ के पथिक बने थे। उनका एक ऐसे कॉलेज का प्रिंसिपल बनने का प्रश्न ही नहीं था जिसमें वेद और संस्कृत को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो। उनके जीवन का एक लक्ष्य था। उन्होंने लक्ष्मी के मन्दिर में पाँव रखने की कभी बात ही नहीं सोची। वे जल में कमल के समान शोभायमान थे। केवल जल की शोभा बढ़ाना ही उनका ध्येय था। अपना स्वार्थ तो था नहीं। लाजपतराय ने भी स्वीकार किया है – ''कोई भी व्यक्ति उनकी पूर्ण अनासक्ति से इनकार करने का साहस नहीं कर सकता। ... मेरा निश्चित मत है कि पण्डित गुरुदत्त का मस्तिष्क लाला हंसराज के प्रति लेशमात्र भी ईर्ष्या से रहित था।... मैं विश्वास करता हूँ कि गुरुदत्त ने कभी भी लाला साईंदास और लाला हंसराज पर आक्षेप नहीं किया।''[3ग]

हंसराज तथा गुरुदत्त में स्कूल के विषय में कुछ मतभेद थे। साईंदास इस विषय में हंसराज से सहमत थे। अत: वे हंसराज को ही प्रिंसिपल बनाना चाहते थे। लालचन्द का भी यही विचार था। कारण स्पष्ट शिक्षा-पद्धति का था। गुरुदत्त के प्रिंसिपल बनने का अर्थ था – पाठ्यक्रम में आमूलचूल परिवर्तन। कमेटी में उनका नाम आया परन्तु उन्हें नियुक्त नहीं किया गया। ऐसा निर्णय साईंदास के कहने पर हुआ था।[44क] मुन्शीराम ने स्थिति स्पष्ट करने के लिए यह प्रश्न भी उस दिन (जून 1889) पूछ लिया। पण्डित जी बोले, ''मैंने कभी प्रिंसिपल बनना नहीं चाहा। हाँ, कॉलेज के अधिकारी मुझे विज्ञान का अध्यापक नियुक्त करना चाहते थे परन्तु मैं विज्ञान तो नहीं, प्रतिदिन दो-तीन घण्टे वेद पढ़ाने के लिए तैयार था, वह भी अवैतनिक क्योंकि जिस

कॉलेज के लिए मैंने स्वयं धन दिया, गले में झोली डालकर दूसरों से भिक्षा माँगी, भला उससे वेतन कैसे लेता? परन्तु वेद पढ़वाने के लिए वे तैयार नहीं हुए।''[32ग]

रायबहादुर मूलराज तथा मेहता राधाकिशन आदि ने कोई भी ओछा हथियार प्रयोग किए बिना न छोड़ा। और कुछ न बन पाया तो उनके विरुद्ध लाला साईंदास के कान भरने शुरू कर दिए। खैर, महात्मा मुन्शीराम ने उन्हें समझाया कि ''लाला जी! आपको किसी की बातों में नहीं आना चाहिए तथा स्वयं मिलकर स्थिति स्पष्ट कर लेनी चाहिए।'' इस पर लाला साईंदास उनके साथ पण्डित गुरुदत्त को मिलने गए। उस समय वे घर पर नहीं थे। कुछ दिनों पश्चात् वे मरी पर्वत पर चले गए। इस प्रकार परस्पर विचार-विनिमय का अवसर न मिल सका।

शान्तिप्रिय गुरुदत्त इन कलह झगड़ों से बहुत दुखी थे। एक तो उन दिनों क्षयरोग के कारण शारीरिक कष्ट, दूसरे यह मानसिक अशान्ति। उन्हें यह पसन्द नहीं था कि मूलराज जैसे वैदिक सिद्धान्तों में आस्थाहीन लोग आर्यसमाज के अगुवा बने रहें। भला जिसे किसी संस्था के सिद्धान्तों एवं आदर्शों में ही आस्था न हो, उसे उस संस्था का सदस्य बने रहने का क्या नैतिक अधिकार है? इन सैद्धान्तिक विवादों के कारण पण्डित गुरुदत्त को मांसाहारियों की जली-कटी सुननी पड़ी। वैचारिक मतभेद ने उनके कोमल, सरल एवं विश्वासी हृदय पर गहरी चोट की परन्तु सिद्धान्त की रक्षा हो गई। यदि मांसाहार के प्रश्न पर प्रत्येक सदस्य को स्वतन्त्रता दे दी जाती तो फिर ईश्वर, वेद, मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध आदि किसी विषय पर न तो आर्यसमाज की कोई मान्यता विशेष रहती और न ही सिद्धान्तों को मानना किसी के लिए आवश्यक रहता। आर्यसमाज तमाशा बनकर रह जाता। अतः जो बीज मूलराज जैसे लोगों ने बोया था, उसे अंकुरित होने से पूर्व ही मसल देना श्रेयस्कर रहा। नहीं तो आर्यसमाज का सारा कार्य ही रुक जाता क्योंकि उन्हें गलियों में धर्म प्रचार भी ठीक नहीं लगता था। उनके विचार में नाहक अन्य मतावलम्बियों को नाराज किया जा रहा था। वस्तुतः उन्हें सत्यार्थप्रकाश में किया गया खण्डन भी कठोर लगता था। वे शास्त्रार्थों के विरुद्ध थे तथा इन कार्यों के लिए युवा मण्डली की आलोचना करते रहते थे। उन्होंने यहाँ तक कह दिया था, ''युवा आर्यसमाजियों को उनकी अनुमति के बिना कोई वाद-विवाद शुरू नहीं करना चाहिए।'' वे आर्यसमाज को केवल हिन्दू जागृति एवं समाज सुधार तक सीमित रखना चाहते थे।[44ख,45]

नियोग

मतभेद का तीसरा विषय था नियोग। यद्यपि यह सिद्धान्त वैदिक है परन्तु प्रचलित न होने के कारण साधारण जनता को यह विचित्र लगा[46] और इसे चरित्रहीनता समझा गया। इसलिए वेद विरोधी मतवादी जनता को इस विषय में आसानी से बहकाकर ऋषि दयानन्द व आर्यसमाज को बदनाम करने में सफल हो रहे थे।[47क] पौराणिक ऋषि को अपना शत्रु समझते थे, ईसाई अपना विरोधी। वे लोग ऋषि के निर्मल चरित्र तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य के सामने ठहर नहीं पा रहे थे। देव दयानन्द ने वेदों का यथार्थ भाष्य करके जनता में वैदिक धर्म के प्रति जो श्रद्धा पैदा कर दी थी, उसके कारण भारत को ईसाई बनाने का पादरियों का स्वप्न धूल में मिलता जा रहा था। पादरियों के समक्ष अपनी योजनाओं की सफलता के लिए ऋषि को बदनाम करने के अतिरिक्त कोई मार्ग शेष न था। वे ऋषि पर कीचड़ उछालने के लिए उधार खाए बैठे थे। इसलिए योजना बनाकर नियोग का विरोध किया गया। पौराणिक पण्डितों में यह चाल समझने की न योग्यता थी, न इच्छा। जब आर्यसमाज पर प्रहार होता तो उन्हें भी प्रसन्नता होती। राम व कृष्ण के इन अविद्याग्रस्त नाम-लेवाओं को इस वास्तविकता का ज्ञान नहीं था कि पादरी जिस पहलू पर बाण बरसा रहे हैं, वहाँ एक धड़कता हुआ दिल है और यदि कहीं वह घायल हो गया तो फिर वेद तथा राम कृष्ण का नाम धरती से मिट जाएगा। परन्तु हाय रे अज्ञान! उन्हें इससे क्या? वे तो स्वयं शत्रु के कुल्हाड़े में दस्ते का काम दे रहे थे। आर्यसमाज के लिए यह विकट परिस्थिति थी। साधारण योग्यता के आर्य पुरुषों से कोई उत्तर बन नहीं पड़ रहा था। फिर उत्तर भी किस-किस का देते। चारों ओर शत्रुदल खड़ा था। ऐसा लगता था कि मानो निहत्थे अभिमन्यु को शत्रुओं ने घेर लिया हो। ऐसे समय में कुशल नाविक गुरुदत्त ने पतवार सम्भाली और नैय्या को सुरक्षित किनारे पर पहुँचा दिया। यदि गुरुदत्त साहस न करते[48] तो आर्यों ने नियोग को अमान्य घोषित कर दिया होता। फिर आर्यसमाज में भी मूलराजों[49] की कमी न थी। वे तो चाहते ही थे कि आर्यसमाज कहीं एक बात पर झटका खा जाए, फिर विचार स्वतन्त्रता की आड़ में भक्ष्याभक्ष्य इत्यादि विषयों पर भी चोट कर दी जाए परन्तु अकेला वीर सब शत्रुओं पर भारी निकला।

ईसाई पादरी जिस चालाकी से नियोग को उछाल रहे थे, उसका ज्ञान पादरी टी. विलियम्स (रेवाड़ी) के पत्र से होता है।[47क, 50क] पादरी विलियम्स ने लिखा था: "... वह (दयानन्द) इस विस्मयोत्पादक सिद्धान्त

की नींव रखते हैं कि सन्तानहीन मनुष्य की पत्नी पति के जीते जी ही सन्तान प्राप्ति के लिए किसी दूसरे विवाहित पुरुष से सम्भोग कर सकती है। अपने इस अद्‌भुत सिद्धान्त की पुष्टि वे पूर्ववत् मनु द्वारा नहीं अपितु आश्चर्य है कि ऋग्वेद में पाने का बहाना करते हैं और दसवें मण्डल की दसवीं ऋचा का भाग उद्‌धृत करते हैं। उनके पास प्रस्तुत करने के लिए सबसे बड़ा और एक मात्र प्रमाण यही है।''

''मेरा अभिप्राय यह नहीं कि ऋग्वेद में ऐसी अश्लीलता नहीं है क्योंकि मैं दिखला सकता हूँ कि उसमें है। परन्तु यह दिखलाना आर्यसमाज के प्रवर्त्तक दयानन्द के लिए ही रह गया था कि ऋग्वेद वस्तुत: ऐसी अत्यन्त दुराचार की शिक्षा देता है कि यदि किसी स्त्री का पति नपुंसक हो तो वह किसी दूसरे विवाहित पुरुष के पास सम्भोग के लिए चली जाए। मेरा यह भी अभिप्राय नहीं कि हिन्दुओं ने इस सिद्धान्त को पहली बार दयानन्दियों से ही सुना है क्योंकि यह बात कुख्यात है कि हिन्दू इसके अनुसार शताब्दियों तक कर्म करते रहे हैं। प्रयाग में पण्डे ब्राह्मणों से यही काम लिया जाता है, इसी प्रकार के काम ने वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के महाजनों को बदनाम किया है और इसी ने जैनियों के विवाह कर्म को जगत् में निन्दित प्रसिद्ध कर दिया है। परन्तु जो मैं कहना चाहता हूँ वह यह है कि मेरे पास ऐसा विचारने के लिए कारण है कि हिन्दुओं के इतिहास में अब यह पहला ही समय है जब यह विकट सिद्धान्त ऋग्वेद के गले मढ़ा गया है और इस प्रकार गले मढ़ने की अस्पृहणीय प्रतिष्ठा आर्यसमाज के प्रवर्त्तक दयानन्द को प्राप्त है परन्तु महाशय! जब हमें यह पता लगता है कि यह सब झूठ है तो इस प्रतिष्ठा की अस्पृहणीयता सहस्त्रों गुणा प्रबल हो जाती है।''

''महाशय! क्या आपको विदित नहीं कि ऋग्वेद मण्डल 10, सूक्त 10, मन्त्र 10 का जो भाग दयानन्द उद्‌धृत करता है उसमें बोलने वाला भाई है और वह स्त्री जिससे वह बात करता है, उसकी बहिन है।''

''... दयानन्द इसका इस प्रकार अनुवाद करते हैं कि बोलने वाला पति है और जिस स्त्री से वह बात करता है वह उसकी पत्नी है। अब यहाँ वह जान-बूझकर झूठ बोलते हैं। मैं पूर्ण निश्चय से कहता हूँ कि दयानन्द जानते थे कि बोलने वाला यम है और वह अपनी जुड़वां बहिन यमी से बात करता है। कितना भीषण है वह असत्य जिसके बोलने का वह अपराधी है।''

तदनन्तर पादरी महोदय ने यह सिद्ध करना चाहा कि यम यमी पति-पत्नी नहीं हैं। वह लिखता है: ''यास्क और उसका टीकाकार जिन

मन्त्रों को उद्धृत करते हैं, उन्हें वे यम और यमी के कथोपकथन का एक भाग समझते हैं, जिसमें यमी यम के साथ सम्भोग करना चाहती है परन्तु यम इनकार करता है। भला इसका एक नपुंसक पति का अपनी स्त्री को किसी दूसरे विवाहित पुरुष के पास सम्भोग के लिए जाने की आज्ञा देने के साथ क्या सम्बन्ध है?'' अन्त में पादरी महोदय लिखते हैं : ''दयानन्द का योग्य शिष्य गुरुदत्त 'अपने गुरु को अपने समय का वेदों का एक मात्र पण्डित' बताता है। परन्तु दयानन्द को जान-बूझकर वेदों को झुठलाने तथा ऋग्वेद के सिर एक ऐसा अत्यन्त अश्लील सिद्धान्त (जिसकी उसमें गन्ध तक नहीं) मढ़ने का अपराधी सिद्ध करने के बाद मैं यह कहने के लिए उद्यत हूँ कि निस्सन्देह दयानन्द अपने समय में वेदों का सबसे भयानक शत्रु था।''

इस प्रकार इस पत्र में पादरी टी. विलियम्स ने अपने कलुषित हृदय के कुटिल भावों को ओछी भाषा में प्रस्तुत किया है। भारत के धर्म तथा सम्प्रदायों को बदनाम किया है। ऋषि दयानन्द तथा यास्काचार्य आदि पर कीचड़ उछाला है। वेद की रक्षा के नाम पर बड़ी चालाकी से उसमें बहिन भाई में अपवित्र सम्बन्ध की शिक्षा देने का आरोप भी लगा दिया है।

इस पत्र की प्राप्ति पर पण्डित गुरुदत्त ने 'नियोग पर टी. विलियम्स के दोषारोपण का उत्तर' नामक निबन्ध लिखा था। गुरुदत्त का यह उत्तर पढ़ते ही बनता है। पादरी साहब की इतनी सुन्दरता के साथ खबर ली है कि बेचारे को फिर नियोग पर लेखनी उठाने का साहस नहीं हुआ। पण्डित जी ने लिखा, ''जिस मनुष्य का सिर घूमता है, वह यह समझता है कि सारी दुनिया घूम रही है। ... टी. विलियम्स ने ईसाई पक्षपात का चश्मा पहन रखा है और पाण्डु रोग के रोगी की तरह उन्हें प्रत्येक वस्तु अपने चश्मे के रंग में रंगी हुई दिखाई पड़ती है।''

दूसरे की आँख में तिनका खोजने वाले को उसकी आँख का शहतीर दिखाने के लिए फिर गुरुदत्त ने बाइबिल के आधार पर यह सिद्ध किया कि पादरी ने जो आरोप ऋषि दयानन्द पर लगाए हैं, वे वस्तुतः ईसा पर लागू होते हैं। पण्डित गुरुदत्त ने लिखा – ''टी. विलियम्स स्वामी दयानन्द को नियोग के विस्मयकारी और अत्यन्त अश्लील तथा विकट सिद्धान्त का प्रचार करने का दोषी ठहराते हैं। हम विधि-विवरण ग्रन्थ[51] से उद्धृत करते हैं– यदि कई भाई एक साथ रहते हों और उनमें से एक सन्तानहीन मर जाए तो मृतक की पत्नी परिवार के बाहर के किसी अपरिचित से विवाह न करे अपितु उसका देवर (पति का भाई) उसके पास जाए और उसे पत्नी बनाए, और

उसके साथ देवर का कर्त्तव्य पालन करे और वह यह कि पहली सन्तान जो उससे पैदा हो, वह उसके उस भाई की उत्तराधिकारी हो जो मर चुका है, जिससे उसका नाम इसराईल से मिट न जाए। और यदि वह मनुष्य अपने मृत भाई की पत्नी को ग्रहण करना पसन्द न करे तब उसके भाई की पत्नी को बड़ों के द्वार पर जाने और कहने दीजिए, 'मेरे पति का भाई मेरे पति की पीढ़ी इसराईल में चलाने से इनकार करता है। वह मेरे साथ देवर का कर्त्तव्य पालन नहीं करेगा।' तब नगर के प्रमुख व्यक्ति उसे बुलाएँ और उसे समझाएँ और यदि वह न माने और कहे, 'मैं उसे ग्रहण करना पसन्द नहीं करता,' तब उसके भाई की पत्नी बड़ों की उपस्थिति में उसके सामने आए और उसके पैर से उसका जूता खोले और उसके मुँह पर थूके और कहे, उस मनुष्य के साथ जो अपने भाई के घर को बनाने और वंश चलाने से इनकार करता है, यही व्यवहार होगा और इसराईल में उसका कुल उस मनुष्य का कुल कहलाएगा जिसका जूता खोला गया है।'' यह उद्धरण देकर गुरुदत्त ने लिखा, ''यह स्पष्ट नियोग है। इस प्रकार ईसा नियोग के अत्यन्त अश्लील और विकट सिद्धान्त का प्रचार करने का दोषी ठहरता है।''

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने बाइबिल में नियोग खींचतान कर आरोपित नहीं किया था, अपितु वास्तविकता यही है। पण्डित जी के इस उत्तर के प्रकाशन के 96 वर्ष बाद प्रसिद्ध भाषाविज्ञ ईसाई पादरी फ़ादर कामिल बुल्के ने पवित्र बाइबिल का जो हिन्दी अनुवाद किया है, उसमें उन्होंने स्वयं इन आयतों का शीर्षक 'नियोग' लिखा है तथा दो बार 'नियोग की प्रथा के अनुसार' वाक्यांश का प्रयोग किया है।[52] जो गुरुदत्त ने एक सदी पूर्व लिखा था, उसे कालान्तर में पादरी महोदय ने भी स्वीकार कर लिया।

टी. विलियम्स के आशय के विषय में पण्डित जी लिखते हैं – ''गुलाब के फूल के नीचे बैठे हुए साँप की भाँति, वह अपने आप में भूले हुए हिन्दुओं को अपनी झूठी प्रशंसा से भरे हुए व्यंजनामय वाक्य सुना रहे हैं ताकि वे आर्यों से चिढ़कर साँझे काम में उनसे मिल जाएँ। वह धोखे से प्रकट करते हैं कि मन्त्र का अर्थ यह है कि यमी अपने भाई यम से विवाह की प्रार्थना करती है और यम इनकार करता है, इसलिए वेद नियोग की आज्ञा नहीं देते। यह सब तो छल है, उसमें गुप्त वक्रोक्ति यह है कि हिन्दुओं के पवित्र एवं पूज्य पूर्वजों, प्राचीन आर्यों, पुरातन महान् वैदिक ऋषियों में भी ऐसी भ्रष्टता थी कि एक बहिन अपने जुड़वां भाई से विवाह की प्रार्थना करने का साहस कर सकती थी।'' अन्त में विलियम्स के पत्र में से ही यह सिद्ध

किया कि यम यमी भाई बहिन नहीं है तथा मन्त्र नियोग का प्रतिपादन करता है।[50ख] यह लेख पण्डित जी की दृष्टि की गहराई, अध्ययन की गहनता, भाषा पर अधिकार, विरोधी को पराजित करने तथा अपना पक्ष सिद्ध करने की क्षमता पर प्रकाश डालता है। लाजपतराय भी मानते हैं कि "जब तक गुरुदत्त विद्यार्थी ने नियोग की स्पष्ट और उदात्त व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर दी, तब तक सभी प्रकार के तर्क-वितर्क और पादरियों के लिए कहे गए निन्दापूर्ण कथन व्यर्थ ही रहे।" नियोग के विषय में यह प्रथम निर्णायक लेख था।

इस प्रकार गुरुदत्त सिद्धान्तों की रक्षा में संघर्षरत रहे। ऋषि के महाप्रयाण के पश्चात् आर्यसमाज के जीवन में यह निर्णायक वर्ष था। पाठ्यक्रम के विषय में मतभेद होना सम्भव है। यह कार्य कठिन है। राज्य सरकारें इसके लिए उपसमितियाँ बनाती हैं। वर्षों लगते हैं, तब कहीं कुछ बन पड़ता है। उन्नीसवीं सदी में आर्यों ने इस दिशा में जो प्रयास किया था, वह महत्त्वपूर्ण है। यह उनकी भारत की शिक्षा-पद्धति को एक देन सिद्ध हुई। दोनों विचारधारा के लोगों के हृदय में सत्य और हित की भावना थी। वे जल की लहरों की भाँति टकराते थे। न किसी को चोट लगती थी, न अलगाव था परन्तु मांसाहार का पक्षपोषण और नियोग का विरोध – इससे आर्यसमाज का कहीं हित नहीं था। किसी ने शत्रु बनकर आक्रमण किया, किसी ने मित्र बनकर। हिमपात भी हुआ, झुलसा देने वाली लू भी चली। जिन लोगों ने उन दिनों आर्यसमाज का पथ प्रदर्शन किया, उनका महत्त्व नींव के पत्थरों जैसा है। उन्हीं के कारण आर्यसमाज इन परीक्षाओं में सफल रहा। ये दिन क्रान्तिकारी सिद्ध हुए। आर्यसमाज ने जीवन रक्षा के लिए सिद्धान्तों की बलि नहीं दी। प्रहार सहकर छातियाँ उभर आईं। काँटों ने पाँव छलनी कर दिए परन्तु कदम बढ़ते रहे।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. लाला लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, (क) पृष्ठ 96, (ख) पृष्ठ 150-151, (ग) पृष्ठ 144-150, (घ) पृष्ठ 76, (ङ) पृष्ठ 77, (च) पृष्ठ 152
2. महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरणक्षेत्र में मानव-मस्तिष्क का अपूर्व आविष्कार है। इसे शब्दानुशासन, पाणिनीयाष्टक अथवा वृत्तिसूत्र भी कहते हैं। इसके आठ अध्यायों के बत्तीस पादों में 3979 सूत्र हैं। अष्टाध्यायी में सूत्रों के क्रम का विशेष महत्त्व है।
3. लाजपतराय, ऑटोबाइऑग्रॅफ़िकल राइटिंग्ज़, (क) पृष्ठ 49, (तुलना: मास्टर आत्माराम अमृतसरी, ब्रह्मयज्ञ, पृष्ठ 144-5), (ख) पृष्ठ 56, (ग) पृष्ठ 50, 52
4. भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग 2, (क) पृष्ठ 501-2,

(ख) पृष्ठ 504, (ग) पृष्ठ 504-5, (घ) पृष्ठ 635, (ङ) पृष्ठ 684, (च) भाग 1, पृष्ठ 375, (छ) भाग 1, पृष्ठ 485, (ज) भाग 2, पृष्ठ 503, (झ) भाग 2, पृष्ठ 522, (ञ) भाग 2, पृष्ठ 523, (ट) भाग 2, पृष्ठ 530-1

5. सद्धर्म प्रचारक, (क) 29 जून, 1889, पृष्ठ 6, (ख) 17 अगस्त 1889, पृष्ठ 7,8, (ग) 9 नवम्बर 1889, क्रमशः पृष्ठ 10,11, (घ) 18 जनवरी 1890, पृष्ठ 8-9, (ङ) 16 नवम्बर 1889, पृष्ठ 8, (च) 1 मार्च 1890, पृष्ठ 3, नये पाठ्यक्रम के लिए द्रष्टव्यः पृष्ठ 199-200, (छ) 19 जुलाई 1890, पृष्ठ 11

6. द्रष्टव्यः आर्य पत्रिका, (क) 15 फरवरी 1887, (ख) 1 मार्च 1887 पृष्ठ 6

7. इन्द्र विद्यावाचस्पति, आर्यसमाज का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 204

8. चमूपति, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का सचित्र इतिहास, (क) पृष्ठ 58-59, (ख) पृष्ठ 59, (ग) पृष्ठ 87

9. ऋषि दयानन्द ने पाणिनि द्वारा रचित शिक्षा सूत्रों का हस्तलेख प्राप्त कर प्रथम बार सम्वत् 1936 में 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नाम से प्रकाशित किया। इसमें वर्णो के उच्चारण व दोषों की गम्भीर विवेचना की गई है। महर्षि दयानन्द द्वारा रचित संस्कृत वाक्यप्रबोध में दैनिक व्यवहार के विविध प्रसंगों से सम्बद्ध वाक्यों को वार्तालाप के रूप में हिन्दी व संस्कृत में लिखा गया है। पिंगल मुनि प्रणीत पिंगलसूत्र (छन्दः शास्त्र) छन्द नामक वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें वेदों के प्रयुक्त विविध छन्दों से सम्बद्ध नियमों का सूत्र रूप में वर्णन है। उणादिकोष पाणिनि की रचना है। इसे पाणिनीय अष्टाध्यायी के कृदन्त प्रकरण का परिशिष्ट कहा जा सकता है। इसमें कुल पांच पाद है। इस पर महर्षि दयानन्द ने अपनी स्वतन्त्र वृत्ति लिखी है। ऋषि दयानन्द ने संस्कृत व्याकरण को सरल रूप से प्रस्तुत करने के लिए वेदांगप्रकाश से चौदह पुस्तकें लिखीं। नामिक उसका तीसरा खण्ड है। इसमें संस्कृत के शब्दरूपों की व्याकरणिक प्रक्रिया दी गई है। हितोपदेश संस्कृत साहित्य में विष्णु शर्मा की कालजयी कृति है। इसके चार परिच्छेद हैं - मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह तथ सन्धि। सरलभाषा शैली में लिखी गई इस रचना में कुल तैतालीस नीति कथाएँ हैं। भूमिका से ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका अभिप्रेत है।

10. भट्टोजि दीक्षित विरचित सिद्धान्तकौमुदी एक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ है। सिद्धान्तकौमुदी को बहुधा कौमुदी ही कहते हैं। इसका रचना काल 1640 के लगभग है। यद्यपि इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के सूत्रों की सम्पूर्ण व्याख्या है परन्तु अष्टाध्यायी के पौर्वापर्ययुक्त विशिष्ट सूत्रक्रम को भंग कर दिया गया है, जिससे उसकी निहित वैज्ञानिकता खण्डित हो गई है। इसीलिए स्वामी विरजानन्द दण्डी ने कौमुदी परम्परा को त्याज्य घोषित किया। स्वामी दयानन्द कौमुदी को 'कुमति' कहा करते थे।

11. सत्यार्थप्रकाश की ये पृष्ठ संख्याएँ इसके तीसरे संस्करण की हैं जो वैदिक पुस्तकालय, अजमेर से 1887 ई. में प्रकाशित हुआ था।

12. वृद्धावस्था के कारण अनुभूतिस्वरूपाचार्य के अगले दांत टूट गए थे। एक बार उनके मुख से पुंसु शब्द के स्थान में पुंक्षु निकल गया। यह सुनकर अन्य विद्वानों ने वृद्ध आचार्य

का उपहास किया। उन्होंने अपनी उच्चारण-अशुद्धि स्वीकार न की और घर आकर एक रात में अपने पक्ष-पोषण में सात सौ सूत्रों का सारस्वत व्याकरण रच डाला।

13. मनोरमा अथवा प्रौढ़ मनोरमा सिद्धान्तकौमुदी पर भट्टोजि दीक्षित द्वारा रचित व्याख्या-ग्रन्थ है। नागेश भट्ट (1671-1753) ने अपने गुरु हरि दीक्षित के नाम से प्रौढ़ मनोरमा पर शब्दरत्न नामक व्याख्या लिखी थी।

14. पतंजलि का कालजयी ग्रन्थ महाभाष्य पाणिनि की परम्परा में वररुचि कात्यायन के वार्त्तिकों के बाद अष्टाध्यायी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ माना जाता है। युधिष्ठिर मीमांसक पतंजलि का काल 2000 विक्रम पूर्व मानते हैं (द्रष्टव्य: संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 375)।

15. महर्षि यास्क ने निरुक्त में वेदों में प्रयुक्त शब्दों के विभिन्न निर्वचनों पर प्रकाश डाला है। विशिष्ट अर्थों में रूढ़ शब्दों की तर्क संगत व्याख्या की गई है। निरुक्त का आधार ग्रन्थ निघण्टु ऋग्वेद के कठिन शब्दों का संकलन है। दयानन्द इसे यास्क मुनिकृत मानते हैं।

16. तब दसवीं के पश्चात् दो साल लगाकर एफ.ए. की जाती थी।

17. लाजपतराय, जीवन चरित्र पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी (उर्दू), संस्मरण केदारनाथ

18. धर्मपाल तथा टी.एम.मुकुन्दन, गो-वध और अंग्रेज़, पृष्ठ 24, 27; यह पुस्तक 1880-1894 के मध्य आर्यसमाज द्वारा गोरक्षार्थ किए गए प्रयासों पर प्रकाश डालती है।

19. शिवकुमार गुप्ता; पीएच.डी. थीसिस, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, पृष्ठ 41-47

20. लैंसडाउन कॉरिस्पॉन्डॅन्स, क्रास्थवेट टू लैंसडाउन, 10 अगस्त 1893 (माइक्रोफ़िल्म, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)

21. लैंसडाउन कॉरिस्पॉन्डॅन्स, किम्बरले टू लैंसडाउन, पत्र संख्या 62, 28 सितम्बर 1893 (माइक्रोफ़िल्म, राष्ट्रीय संग्रहालय), द हिमाला (रावलपिण्डी), 15 सितम्बर 1893

22. आर्य दर्पण के 1880-86 के अंकों में गोहत्या एवं मांसभक्षण के विरुद्ध बहुत लेख छपे थे। द्रष्टव्य: द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, 7 अप्रैल 1884, पृष्ठ 1-2; 20 अक्तूबर 1884, पृष्ठ 1-3; 27 अक्तूबर 1884, पृष्ठ 1-3; आर्य पत्रिका में 26 सितम्बर, 3 अक्तूबर 23 अक्तूबर 1885 को क्रमश: प्रकाशित लेख 'पशुओं पर अत्याचार-भाग 1-3'; सद्धर्म प्रचारक, 27 दिसम्बर 1890, पृष्ठ 2-3

23. आर्य दर्पण, 15 फरवरी 1882, पृष्ठ 45; दि आर्य, अगस्त 1882, पृष्ठ 131-34 (पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का लेख), नवम्बर 1882, पृष्ठ 203-3; द रिजेनरेटर ऑफ़ आर्यावर्त, 7 अप्रैल 1884, पृष्ठ 1-2, 30 जून 1884 पृष्ठ 1, 20 अक्तूबर 1884, पृष्ठ 1-3, 27 अप्रैल 1884, पृष्ठ 1-3; आर्य पत्रिका, 18 जुलाई 1885

24. दि आर्य, अगस्त 1882, पृष्ठ 131-134, यह लेख गुरुदत्त ने 'दि आर्य' (जुलाई 1882, पृष्ठ 101) में गुरदासपुर के एक सज्जन के छपे पत्र के अनुरोध पर लिखा था।

25. दुर्गाप्रसाद, मनु एन्ड वेजिटेॲरिअनिज्म, फ़िजिकल ईवॅल्ज ऑफ़ फ़्लेश ईटिंग एन्ड स्पिरिच्यूॲल ॲवेकॅनिंग ऑफ़ वेजिटेॲरिअनिज्म, 1887; स्पिरिच्यूॲल ऐडवॅनटेजॅस ऑफ़ वेजिटेॲरिअनिज्म, 1889; ऑशन ऑफ़ मरसि, 1889; रीज़न एन्ड इन्स्टिन्क्ट, 1888

(अन्तिम तीनों ट्रैक्ट विरजानन्द प्रेस, लाहौर द्वारा प्रकाशित); खुन्नीलाल शास्त्री का पंजाब मांक्ष-भक्षण वर्जिनी सभा, लाहौर में दिया व्याख्यान 'मांस-भक्षण निषेध' शीर्षक से इसी यन्त्रालय से 1892 में छपा था।

26. आत्माराम अमृतसरी, (i) क्या मांस भक्षण आर्य धर्म अनुकूल है?, 1892, (ii) क्या सरद मुल्क के आदमी गोश्तखोरी छोड़ सकते हैं?, (iii) गोश्त क्यों इन्सान की कुदरती खुराक नहीं? 1890

27. सोमनाथ मरवाह लिखते हैं कि शुरू में किसी को यह ज्ञात नहीं था कि मूलराज मांसाहारी हैं। तब वह आर्यसमाज में मांस-भक्षण के विरुद्ध भाषण दिया करते थे। एक दिन वह रविवारीय सत्संग के बाद कुछ सदस्यों के साथ चले जा रहे थे। नाक साफ करने के लिए जेब से रुमाल निकालने लगे तो एक अण्डा नीचे गिर गया। यह देखकर सभी हैरान रह गए। पूछने पर मूलराज ने कहा, 'मैं तो मांस-भक्षण का केवल इसलिए विरोध करता हूँ ताकि इसे कम लोग खाएँ और यह मँहगा न हो।' कालान्तर में उसी मूलराज ने जमकर मांसाहार का समर्थन किया (द्रष्टव्य: महात्मा हंसराज, पृष्ठ 153-154)।

28. मूलराज, मांस प्रचार का सिलसिला, 1893, इससे पूर्व मांसभक्षण के पक्ष में हिन्दुओं द्वारा अधिक नहीं लिखा गया था। इस लेख के खण्डन में नारायणदत्त, ज्वालादास, लेखराम आर्य पथिक, भोलानाथ आदि ने ट्रैक्ट तथा लेख लिखे (द्रष्टव्य : केनेथ डब्ल्यू. जॉन्स, आर्य धर्म, पृष्ठ 170-171)।

29. देश हितैषी, मार्गशीर्ष सम्वत् 1940 वि., खण्ड 2, अंक 10, पृष्ठ 8; द्रष्टव्य : भारत सुदशा प्रवर्त्तक, फरवरी 1884, पृष्ठ 15

30. प्रकाश (साप्ताहिक), 15-22 अक्तूबर 1933 में महात्मा हंसराज का लेख

31. लाहौर आर्यसमाज के साबिक़ा ओहदेदारों की पॉलिसी यानी हिक्मते अमली

32. श्रद्धानन्द स्वामी, कल्याण मार्ग का पथिक, (क) पृष्ठ 180, (ख) पृष्ठ 99, (ग) पृष्ठ 181

33. श्रीराम शर्मा, महात्मा हंसराज, पृष्ठ 21-2

34. इस भाषण से उत्सव में अशान्ति फैल गई। जीवनदास तथा रैमलदास ने तत्काल इस भाषण तथा मांसाहार के प्रबल समर्थक शंकरदास की ऋषि दयानन्द के प्रति अनुचित टिप्पणी का तीव्र विरोध किया। फिर **सितम्बर 1892 में आर्यसमाज बिच्छोवाली लाहौर के चुनाव में महात्मा हंसराज के स्थान पर दुर्गाप्रसाद को प्रधान चुन लिया गया।** दूसरे पक्ष ने अनारकली का नया आर्यसमाज बना लिया।

35. लाला साईंदास के सुपुत्र सुन्दरदास ने इस भाषण का उर्दू व हिन्दी में अनुवाद कर 1894 ई. में पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करवाया था। यह भाषण जीवनदास सम्पादित पेपर्स फ़ार द थॉटफुल नम्बर 3 में पृष्ठ 1-34 पर छपा था।

36. इस अवसर पर मूलराज ने दशप्रश्नी के अतिरिक्त निम्नलिखित तीन पैम्फ़लेट छपवाए थे : ए मेमो ऑन द फ़ाउन्डेशॅन ऑफ़ दि आर्यसमाज; द वेद एन्ड दि आर्यसमाज, दि आर्यसमाज एन्ड डॉग्मा। उनका ऐसा ही लेख दयानन्द कॅमेमोरेशॅन वाल्यूम में छपा था।

रायसाहब मूलराज ने फिर 1 जनवरी 1934 को 'दशप्रश्नी की अशाअत की असल हक़ीक़त' प्रकाशित की। इन सब में एक जैसे विचार हैं जिनके साथ कोई ऋषि भक्त आर्यसमाजी सहमत नहीं हो सकता।

37. हंसराज महात्मा, दशप्रश्नी की समीक्षा, 1933, इसका उर्दू अनुवाद उर्दू साप्ताहिक प्रकाश के 12 नवम्बर 1933 के अंक में पृष्ठ 9-12 में छपा था।

38. हरबिलास सारदा, लाइफ़ ऑफ़ दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 183

39. सोमनाथ मरवाह, महात्मा हंसराज, पृष्ठ 153

40. मूलराज रायबहादुर, ऑटोबाइऑग्रफ़ि ऑफ़ मूलराज, पृष्ठ 32, 206

41. जे.टी.एफ. जार्डन, स्वामी श्रद्धानन्द, पृष्ठ 35; जे.आर. ग्राहम, दि आर्यसमाज एज ए रेफ़मेशॅन इन हिन्दुइज्म, पृष्ठ 406, नोट 1

42. नारायण स्वामी, आत्मकथा, पृष्ठ 19

43. भारत सुधार और आर्यसमाज (मेहता राधाकिशन की पैसा अख़बार में दिनांक 03 अप्रैल 1893 की चिट्ठी का उत्तर), 10 अप्रैल 1893; मास्टर दुर्गाप्रसाद के साथ इस सुझाव मात्र के लिए इतना अभद्र व्यवहार हुआ कि उन्होंने स्कूल से त्यागपत्र दे दिया, जो मुन्शीराम के कहने पर वापिस लिया गया था (द्रष्टव्य : वही, पृष्ठ 7)।

44. केनेथ डब्ल्यू. जॉन्स, आर्य धर्म, (क) पृष्ठ 87, तुलना: खुशहालचन्द, महात्मा हंसराज, पृष्ठ 46, (ख) पृष्ठ 127-28

45. एम.आर. जम्बुनाथन, स्वामी श्रद्धानन्द, पृष्ठ 71

46. वैसे इतिहास में नियोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। पाण्डु के अयोग्य होने पर नियोग द्वारा ही कुन्ती ने पुत्र प्राप्त किए थे। व्यास जी ने विचित्रवीर्य का कुल चलाया था। अधिक जानकारी हेतु द्रष्टव्य: रामप्रकाश, सत्यार्थप्रकाश-विमर्श, पृष्ठ 107-114

47. (क) टी. विलियम्स, एक्स्पोज़र ऑफ़ दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 14-18, (ख) जे.सी. ओमन, कॅल्ट्स, कॅसटॅम्स एन्ड स्यूॅपस्टिशॅन्स ऑफ़ इण्डिया

48. गुरुदत्त के अतिरिक्त आरम्भ में जिन विद्वानों ने नियोग के पक्ष में लिखा, उनमें मास्टर दुर्गाप्रसाद एक हैं। उनके इस विषय में तीन लेख आर्य पत्रिका के 13 मार्च 20 मार्च तथा 15 मई 1888 के अंकों में छपे थे।

49. नियोग का मज़ाक उड़ाते हुए मूलराज ने आर्यसमाज लाहौर के उत्सव पर 1893 में अपने भाषण में कहा था, "क्या यह हास्यास्पद नहीं है कि किसी को यह बताया जाए कि वह तब तक आर्यसमाज का सदस्य नहीं बन सकता जब तक वह नियोग के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखता।" आर्यसमाज का विरोध करने के लिए विपक्षियों ने प्राय: इस भाषण का पूरा लाभ उठाया।

50. रामप्रकाश (सम्पादक), वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, (क) पृष्ठ 307-310, (ख) पृष्ठ 270-276

51. डियोटरनोमी, 25: 5-10

52. कामिल बुल्के (अनुवादक), पवित्र बाइबिल, पृष्ठ 254

बढ़ते कदम

आर्यसमाज का प्रभाव तीव्र गति से बढ़ रहा था। सत्यानुरागी सज्जन वृन्द प्रत्येक कार्य में सहयोग प्रदान कर रहे थे। भद्र पुरुषों की शुभकामनाएँ साथ थीं परन्तु एक वर्ग मतवादियों का था। उसे यह सब कुछ असह्य था। आर्यसमाज की बढ़ती हुई शक्ति रोकने के लिए पौराणिकों ने काशी धाम में भारत धर्म महामण्डल की स्थापना की। सर्वत्र शाखाएँ खोली गईं। पूरा जोर लगाया गया परन्तु सब व्यर्थ रहा। राह में पड़े पत्थर कभी सरिता को रोक नहीं पाए। जल की धारा हिमगिरि की छाती चीर कर बह निकलती है।

धर्म महामण्डल की पंजाब शाखा के मन्त्री पण्डित दीनदयालु शर्मा नियुक्त हुए। वे मुन्शी जी के नाम से प्रसिद्ध थे। अच्छे वक्ता थे। तुलसीदास के दोहे व चौपाइयाँ और उर्दू के शे'र खूब सुनाया करते थे। जहाँ जाते, वहाँ पौराणिक दल में अच्छा प्रभाव जमा लेते थे। मुन्शी जी मध्य जनवरी 1889 में लाहौर पधारे और मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा श्राद्ध आदि के मण्डन में भाषण देने आरम्भ कर दिए। आर्यसमाज की ओर से उनके साथ शास्त्रार्थ की बातचीत चली परन्तु कुछ परिणाम न निकला। तब उनके प्रत्युत्तर में स्वामी स्वात्मानन्द, स्वामी अच्युतानन्द तथा पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यान हुए। गुरुदत्त विद्यार्थी ने इस कार्य में बड़ा भाग लिया और उनका जनता पर इतना प्रभाव पड़ा कि आर्य पत्रिका में छपा था, ''गुरुदत्त जी के एक भाषण के पश्चात् आर्यसमाज के पचास नये सदस्य बन गए।''[1]

दीनदयालु शर्मा को काफी असफलता हुई। इस पर भी पौराणिकों ने सर्वत्र आर्यसमाज की पराजय और धर्म महामण्डल की विजय की गप्प उड़ा दी। झूठ एक दिन में सत्य से कई गुणा अधिक चलता है। बस, यह समाचार पहली फरवरी को जालन्धर भी पहुँच गया। महात्मा मुन्शीराम को तो विश्वास नहीं हुआ परन्तु आर्यसभासदों के आग्रह पर वे सत्य का पता लगाने उसी रात रेलगाड़ी से लाहौर चल पड़े। वहाँ का वृत्तान्त उन्होंने स्वजीवन-चरित में इस प्रकार लिखा है, ''... साढ़े सात बजे समाज मन्दिर में पहुँचा। ... वहाँ पता लगा कि जो किम्वदन्तियाँ फैलाई गई थीं और जो कुछ कोहेनूर में निकला था, वह सब गप्प है। उसी समय सनातन मण्डल के उत्तर में बाबू मुन्नालाल और स्वामी स्वात्मानन्द जी के व्याख्यान हुए। तब एक बड़े विद्वान् संन्यासी स्वामी महानन्द जी ने अपनी सेवा आर्यसमाज के अर्पण

की। अनेक साधु स्वामी जी के शिष्य थे और उनकी विद्या की पण्डित गुरुदत्त ने स्वयं प्रशंसा की। उस समय बीस अन्य महाशयों ने समाज में प्रवेश के लिए प्रार्थनापत्र दिए। यह भी सुनाया गया कि पैंतीस नए सभासद् पहिले प्रविष्ट हो चुके हैं। उस समय उत्साह की लहर चल रही थी।''[2]

लाहौर में धर्म महामण्डल वालों का प्रचार नितान्त फीका रहा। फिर भी पौराणिकों ने उन्हें पर्याप्त धन दिया। बाद में पता चला कि मण्डल के मन्त्री ने वह धन स्वयं हड़प लिया। इससे सनातन धर्म सभा लाहौर में फूट पड़ गई। दो दल बन गए। एक मन्त्री जी के पक्ष में, दूसरा विरोध में। इस प्रकार रही सही कसर भी पूरी हो गई।

इस वर्ष आर्यसमाज गुजरांवाला अपना वार्षिकोत्सव 23 तथा 24 फरवरी को मना रहा था। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी 23 फरवरी को उत्सव पर पधारे तथा ब्रह्मचर्य और शिक्षा के विषय में एक सारगर्भित भाषण दिया।

सनातन धर्म महामण्डल वाले अपनी पराजय का बदला लेना चाहते थे। रस्सी जल गई थी परन्तु बल अभी शेष थे। इस बार स्वामी केशवानन्द को पंजाब भेजा गया। यह स्वामी जी का पंजाब का प्रथम दौरा था। स्वामी जी संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। गेरुएँ वस्त्र पहनते थे। आकृति भी प्रभावशाली थी। उनके साथ काफी साधु रहते थे। स्वयं चार घोड़ों की गाड़ी में चलते थे। सनातन धर्म वालों को उन पर बड़ा अभिमान था परन्तु वे जहाँ भी गए, वहीं आर्यसमाज ने उनका पीछा किया। स्वामी जी भी प्रायः शास्त्रार्थ की चुनौती तो दे देते थे परन्तु जब कोई आर्य विद्वान् बुलाया जाता तो नियम तय करने में ही समय टाल देते थे। मई 1889 में वे अपने चालीस साथियों सहित लाहौर पधारे और प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उनके प्रत्युत्तर में पण्डित गुरुदत्त, स्वामी अच्युतानन्द, स्वामी स्वात्मानन्द, मास्टर दुर्गाप्रसाद व लाला मुरलीधर आदि ने भाषण दिए। स्वामी केशवानन्द नें अपने व्याख्यानों में वैदिक शब्दों को रूढ़ि सिद्ध करना चाहा। इस मान्यता का खण्डन पण्डित गुरुदत्त ने एक भाषण में किया और वैदिक शब्दों को यौगिक सिद्ध किया। गुरुदत्त के ''मूर्तिपूजन के विषय के व्याख्यान ने तो लोगों पर जादू का असर पैदा किया ... बड़े-बड़े विद्वान् और फाज़िल आदमियों की राय थी कि ऐसा जोरदार व्याख्यान मूर्तिपूजा के बरख़िलाफ़ कभी सुनने में नहीं आया।''[3क]

तब पौराणिक दल ने यह प्रसिद्ध किया कि पण्डित गुरुदत्त को संस्कृत का ज्ञान ही नहीं है और न ही वे संस्कृत में भाषण दे सकते हैं। यहाँ भी क्या देर थी! पण्डित जी ने तुरन्त बिना किसी तैयारी के एक घण्टे से

अधिक समय तक शुद्ध एवं धाराप्रवाह संस्कृत में आर्यसमाज मन्दिर में महती उपस्थिति के समक्ष भाषण देकर पौराणिकों के दावे की पोल खोल दी। पण्डित जी ने यहीं बस नहीं की। वे बुरे को उसके घर तक पहुँचा कर आते थे। अत: झटपट आर्यसमाज की ओर से संस्कृत में शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन दे दिया। तब स्वामी केशवानन्द फँस गए। क्या बहाना बनाते? स्वयं ही सिंह की मान्द में हाथ दिया था। अन्तत: सामने आना पड़ा परन्तु पण्डित जी के हाथों बुरी तरह पराजित हो कर गए। सूर्य के समक्ष एक बदली की क्या सामर्थ्य!

अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य श्रेणी

पण्डित गुरुदत्त वेदाध्ययन के लिए अष्टाध्यायी की जानकारी आवश्यक मानते थे। जब कोई उनसे आत्मिक उन्नति के उपाय पूछता तो झटपट उत्तर देते कि अष्टाध्यायी से लेकर वेद तक पढ़ो तथा योग सीखो। एक बार लाला शिवनारायण अपने पुत्र को पण्डित जी के पास ले गए और बोले – ''मैं इसे अंग्रेज़ी नहीं पढ़ाना चाहता और अष्टाध्यायी पढ़ाने का विचार है।'' यह सुनकर पण्डित जी बहुत प्रसन्न हुए। कहने लगे, ''जब चौरानवें प्रतिशत लोग अंग्रेज़ी पढ़े बिना पेट पाल सकते हैं तो आपको भी केवल रोटी के लिए इसे अंग्रेज़ी नहीं पढ़ानी चाहिए।''[14] मुनिवर गुरुदत्त के दो व्रत थे जिन के कारण तब पंजाब की आर्यसमाजों में प्रेम, उत्साह और सेवा का राज्य दिखाई पड़ता था। उनका एक व्रत था-योगाभ्यास और दूसरा व्रत था – प्रतिदिन संस्कृत का अभ्यास करना और आर्यसमाज के उन सदस्यों से करवाना जो उनसे मिलने आते थे। उनका मानना था कि व्यक्ति की चाहे कुछ भी आयु का क्यों न हो, उसे संस्कृत सीखने की दृढ़ प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। वे कहा करते थे कि भले ही तुम साठ वर्ष के वृद्ध हों परन्तु यदि तुम संस्कृत पढ़ने के लिए जीवन के शेष दिन नहीं दे सकते तो हमारे पास कभी मत आओ। यदि तुम साल-दो-साल में स्वर्ग भी सिधार गए तो दूसरे जन्म में संस्कृत पढ़ने के संस्कार लेकर जाओगे और फिर अगले जन्म में पूरे विद्वान् हो सकोगे। इसी प्रकार अफलातून ने भी नियम बना रखा था कि जो रेखा-गणित नहीं जानता वह उनसे पढ़ने न आए। आत्माराम अमृतसरी के अनुसार ''यदि गुरुदत्त जी जीवित होते तो प्रत्येक आर्यकुमार एक शास्त्री जितनी संस्कृत जानने वाला होता और वार्षिक सम्मेलनों में सब भाषण संस्कृत में होते। उर्दू, हिन्दी व अंग्रेज़ी में कभी कोई आर्यकुमार सभा कार्यवाही न करता।''[15]

यही कारण था कि जब कॉलेज में सुचारु रूप से अष्टाध्यायी की पढ़ाई का प्रबन्ध न हो सका तो पण्डित जी ने अपने मकान पर ही मई 1889 में अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य की कक्षाएँ लगानी शुरू कर दीं। आधी-आधी रात तक विद्यार्थियों को अष्टाध्यायी पढ़ाते रहते थे। उन्होंने घोषित किया कि जो व्यक्ति अष्टाध्यायी पढ़ने के लिए नौकरी छोड़कर उनके पास रहेगा, उसे उसके वेतन के बराबर छात्रवृत्ति दी जाएगी। सरदार उमरावसिंह ने इस कार्य के लिए आर्थिक सहायता देने का वचन दिया परन्तु एक भी पढ़ने वाले ने नौकरी छोड़कर छात्रवृत्ति नहीं ली। लोगों में अष्टाध्यायी पढ़ने का चाव तो पैदा हो गया परन्तु नौकरी कौन छोड़े? लाला नारायणदास एम.ए., अतिरिक्त सहायक कमिश्नर ने इस कार्य को इतना पसन्द किया कि स्वयं पढ़ने आने लगे और तीन महीने की छुट्टी ले ली। यह आन्दोलन लाहौर में ही सीमित नहीं रहा, बाहर के नगरों से भी कुछ सज्जन पधारे। युवकों पर जादू की यह हालत थी कि महात्मा मुन्शीराम, मास्टर दुर्गाप्रसाद, लाला जीवनदास, मास्टर आत्माराम अमृतसरी तथा पण्डित रामभजदत्त आदि की बगल में अष्टाध्यायी ही रहती थी। पण्डित गुरुदत्त इन सब विद्यार्थियों को प्रातःकाल सन्ध्या के पश्चात् एक घण्टा सत्यार्थप्रकाश पढ़ने को कहा करते थे।

महाभाष्य श्रेणी थोड़े दिन ही चली परन्तु इससे विद्यार्थियों को बड़ा लाभ हुआ। बड़ी आयु के जो लोग अष्टाध्यायी नहीं पढ़ पाते थे, गुरुदत्त उन्हें ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का संस्कृत भाग पढ़ने का सुझाव दिया करते थे। कई सज्जनों ने ऐसा ही किया। परिणामस्वरूप अल्पकाल में उन्हें संस्कृत का सामान्य ज्ञान प्राप्त हो गया।

उपदेशक कक्षा

पण्डित गुरुदत्त को जब यह लगा कि जिस डी.ए.वी. कॉलेज के लिए उन्होंने धन वेद विद्या के प्रचार के नाम पर एकत्र किया है, उसमें कुछ लोग वेदादि शास्त्रों के पढ़ाने की व्यवस्था करने पर सहमत नहीं हैं, तो इस हेतु उन्होंने उपदेशक श्रेणी चलाने का आन्दोलन आरम्भ कर दिया। उधर स्वामी रामानन्द काशी में विद्यालय खोलना चाहते थे परन्तु महात्मा मुन्शीराम के परामर्श पर उन्होंने भी लाहौर को अधिक उपयुक्त समझा। स्वामी जी जून में पण्डित गुरुदत्त से मिले और उनकी हस्ताक्षरित अपील लेकर चन्दा एकत्र करने निकल पड़े। अपील पर गुरुदत्त के सहयोगियों के भी हस्ताक्षर थे।

सद्धर्म प्रचारक में केवल इतनी सूचना छपने पर कि "जिस उपदेशक क्लास की स्वामी रामानन्द जी तहरीक कर रहे हैं उसके मुतालिक जो महाशय

चन्दा भेजना चाहें बखिदमत पण्डित गुरुदत्त एम.ए. लाहौर भेज दें,''[3ख] चन्दा भी आया और राय मूलराज के अनुयायियों द्वारा यह कहकर विरोध भी हुआ कि क्या समानान्तर प्रतिनिधि सभा बनाई जा रही है, आदि।[3ग] संवैधानिकता की आड़ में किए जा रहे विरोध का सद्धर्म प्रचारक[3घ] और स्वामी रामानन्द[3ङ] ने उत्तर देकर स्थिति स्पष्ट की कि यह अस्थायी व्यवस्था तभी तक है जब तक डी.ए.वी. कॉलेज कमेटी या प्रतिनिधि सभा इस कार्य को अपने हाथ में नहीं लेती। कार्य चलाने के लिए एक वैदिक क्लास प्रविजॅनॅल कमेटी (वैदिक कक्षा अन्तरिम समिति) स्थापित कर दी गई। इसकी सूचना 3 सितम्बर 1889 की आर्य पत्रिका में इस प्रकार छपी : ''क्योंकि आर्षग्रन्थों की शिक्षा के लिए एक क्लास का खोलना आवश्यक है, इस कारण जब तक डी.ए.वी. कॉलेज की प्रबन्धक सभा या कोई अन्य नियमपूर्वक बनी कमेटी इस काम को हाथ में नहीं लेती, तब तक क्लास के लिए चन्दा एकत्र करने तथा क्लास सम्बन्धी अन्य कार्यों के लिए निम्नलिखित सज्जनों की एक अस्थायी कमेटी बनाई जाए:

स्वामी रामानन्द सरस्वती, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम.ए., लाला जीवनदास (लाहौर), लाला मुन्शीराम (जालन्धर), लाला रलाराम (जेहलम), मास्टर दयाराम (गुजरात), पण्डित धर्मचन्द्र (अमृतसर), डॉक्टर सीताराम (पेशावर), लाला केदारनाथ (लाहौर)

अनुपस्थितों की स्वीकृति हो जाने पर निम्नलिखित निर्णय काम में लाए जाएँ :

(1) लाला मुन्शीराम जी प्रधान हों, (2) लाला केदारनाथ जी मन्त्री हों, (3) लाला जीवनदास कोषाध्यक्ष हों, (4) स्वामी रामानन्द उपदेशक समझे जाएँ।''

पण्डित गुरुदत्त कहने में नहीं, करने में विश्वास रखते थे। कठिन उनके लिए कुछ था ही नहीं। उनके मस्तिष्क में सोचने की शक्ति थी और हाथों में करने की। बस, उसी वर्ष (1889) अपने मकान पर ही उपदेशक कक्षा आरम्भ कर दी।

उपदेशक कक्षा ने सारे प्रान्त में हलचल पैदा कर दी। परिणामस्वरूप कॉलेज की पाठ्यविधि से असन्तुष्ट वर्ग के आन्दोलन को शान्त करने के लिए स्वयं लाला लालचन्द ने 26 अक्तूबर 1889 को पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि ''आर्य प्रतिनिधि सभा का कर्त्तव्य है कि उपदेशक क्लास का संचालन करे। इस कारण लाला मुन्शीराम जी को उसके नियम आदि बनाने का काम सौंपा जाए। उपदेशक

क्लास के लिए जो पैसा आए, मन्त्री उसे जुदा हिसाब में रखता जाए।''[6क] यह प्रस्ताव पारित हो जाना गुरुदत्त की सफलता थी। फिर जुलाई 1890 में महात्मा मुन्शीराम द्वारा बनाए नियम सामान्य संशोधन के साथ आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा पारित हुए[6ख] तथा अगले वर्ष के आरम्भ में आर्य उपदेशक पाठशाला खोल दी गई। आर्यजनों को यह विचार इतना उपयोगी जँचा कि 1895 में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने अपना प्रथम उद्देश्य ही यह घोषित किया – ''वेदों तथा अन्य प्राचीन शास्त्रों की शिक्षा प्रदान करने और आर्य उपदेशक तैयार करने के लिए विद्यालय स्थापित करना।'' बाद में कई उपदेशक विद्यालय खोले गए। इस प्रकार उपदेशक विद्यालय के विचार के जन्मदाता पण्डित गुरुदत्त हैं। विचार के देने वाले ही नहीं अपितु पौधा लगाने का परिश्रम भी उसी माली ने किया। हाँ, यह पुष्पित और पल्लवित बाद में हो पाया।

वैदिक मैगज़ीन

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने 18 सितम्बर 1888 को डायरी में लिखा, ''मैंने सारा दिन वैशेषिक दर्शन पढ़ा। मेरा विचार है कि मैं संस्कृत के छह दर्शनशास्त्रों पर छोटी-छोटी पुस्तकें लिख सकता हूँ। वे दोनों प्रकार से लाभदायक होंगी।'' फिर 22 जनवरी 1889 को लिखा, ''क्या मैं सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद या एक संस्कृत मैगज़ीन का संचालन नहीं कर सकता?'' ऐसे विचार काफ़ी समय से पण्डित जी के मस्तिष्क में उठ रहे थे। कॉलेज की सेवा से निवृत्त होकर पण्डित जी ने एक ऐसी पत्रिका प्रकाशित करने का विचार किया जिसमें दर्शनशास्त्र एवं ब्रह्मज्ञान की चर्चा हो। अन्ततः जुलाई 1889 में वैदिक मैगज़ीन के नाम से आंग्ल भाषा में एक मासिक पत्रिका का सम्पादन आरम्भ कर दिया।[7] प्रथम अंक में मैगज़ीन के निम्नलिखित उद्देश्य बताए गए थे – ''वैदिक साहित्य के विविध भागों का अनुवाद, सार, समालोचना और विवेचना करके वेदों में बढ़ती हुई रुचि को पूरा करना; वैदिक तत्त्वज्ञान की आन्तरिक सच्चाइयों को, जो जड़वाद के इस युग के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, प्रकट करना; संसार के साम्प्रदायिक या पंथाई परन्तु करुणाविहीन मतों की तुलना में वेदों का परोपकारी व दयामय धर्म प्रस्तुत करना; अविद्या-जन्य प्राचीन मूढ़ विश्वासों पर कुल्हाड़ी चलाना; कालानुवर्ती एवं लोकप्रिय नीतियों के विपरीत सच्चे सुधार के नियमों की शिक्षा देना, विवादास्पद लेख और आलोचनाएँ प्रकाशित करके वेदों की पवित्र एवं सरल सच्चाइयों को ताजा करना, स्वार्थी पुरोहितों, कपटी पांडित्यदर्शी भाषा तत्त्वविदों तथा खोखले जड़वादियों के हठपूर्ण मिथ्या

प्रचार अथवा वास्तविक भ्रांतियों को दूर करना।''[8]

ऐसी पत्रिका का सम्पादन तथा संचालन साधारण योग्यता के व्यक्ति के बस का काम नहीं था। इसके लिए भूमण्डल का ज्ञान चाहिए। कोई विषय भी तो अछूता नहीं छोड़ा। अत: कोई गुरुदत्त सरीखा मेधावी ही जिसने पौर्वात्य साहित्य का मन्थन किया हो और जो पश्चिमी विज्ञान का भी विद्वान् हो – यह कार्य कर सकता था। इसीलिए कोई व्यक्ति लेख द्वारा सहयोग प्रदान करने का साहस नहीं करता था। कुछ लोग इस योग्य थे भी परन्तु उन्हें चाहिए था लेख के बदले में पारिश्रमिक परन्तु किसी को देना तो एक ओर रहा, पण्डित जी के पास उन दिनों घर-गृहस्थी चलाने के लिए भी धन नहीं था। फिर भी बाधाओं से घबराए नहीं और अकेले ही यज्ञ आरम्भ कर दिया।

पण्डित जी इस मैगज़ीन में वैदिक सिद्धान्तों पर खोजपूर्ण, गम्भीर एवं दार्शनिक लेख लिखा करते थे। एक-एक शब्द से उनकी योग्यता, विशाल ज्ञान, ऋषिभक्ति तथा वैदिक संस्कृति में आस्था का परिचय मिलता था। उनकी विद्वता और सच्चरित्रता से प्रभावित होकर सद्धर्म प्रचारक ने लिखा था –''हमें आश्चर्य है कि अब तक महात्मा पण्डित जी को महामहोपाध्याय का खिताब क्यों नहीं मिला!''[6ग] लेख इतने विद्वत्तापूर्ण थे कि देश-विदेश में सर्वत्र पत्रिका का मान हुआ। समस्त धार्मिक एवं साहित्यिक जगत् में एकदम हलचल मच गई। विदेशी पत्रों ने भी इसकी प्रशंसात्मक समालोचनाएँ कीं। मास भर अगले अंक की प्रतीक्षा होती रहती थी। जब अंक सामने आता, तब ब्रह्मवाक्य की तरह पढ़ा जाता था। यह पत्रिका थी क्रान्ति का अग्रदूत तथा पाखण्ड, दम्भ, दुराचार एवं मिथ्याविश्वासों को जलाकर भस्म करने वाली पवित्र अग्नि। पत्रिका चलता-फिरता आर्यसमाज था। आर्यसमाजी इसके महत्त्व को पहचान गए। उन्हें इसके द्वारा वेद प्रचार और देश सुधार का कार्य सम्भव होता दीख पड़ा। इसीलिए खूब सहयोग दिया।

वैदिक मैगज़ीन के पहले तीन अंकों में माण्डूक्योपनिषद्, द टर्मिनॉलॅजि ऑफ़ द वेदाज़ एन्ड यूरोपियन स्कॉलर्ज़, पिक्यून्मेन्या (धन की डाह) तथा एविडॅन्सिज़ ऑफ़ ह्यूमन स्पिरिट (जीवात्मा के प्रमाण) विषयक उनके सारगर्भित लेख छपे। सभी लेख बहुत खोजपूर्ण हैं। अकेले 'जीवात्मा के प्रमाण' में उन्होंने लगभग तीस पश्चिमी तथा भारतीय लेखकों की मान्यताओं की विवेचना कर वैदिक सिद्धान्त की स्थापना की। इसके लिए उन्हें कितनी साधना करनी पड़ी होगी – इसका अनुमान लगाना कठिन है। लेख पढ़ने से उसका प्रभाव इस प्रकार मस्तिष्क पर बैठ जाता है कि वाणी अभिव्यक्ति का

सामर्थ्य खो बैठती है। भाषा इतनी परिमार्जित तथा भाव इतने गहरे हैं कि फ्रांस, इंग्लैंड आदि में भी पण्डित जी की धाक जम गई। भारत के उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों को भी लेखों को समझने के लिए उन्हें कई-कई बार पढ़ना पड़ता था। आर्यसमाज से प्रयत्न करने पर भी आज तक ऐसी पत्रिका नहीं बन पाई। बने भी कैसे? उसके लिए गुरुदत्त चाहिए, और वह कहाँ से आए?

वैदिक मैगज़ीन के कुल चार अंक प्रकाशित हुए थे। पहले तीन अंक क्रमशः जुलाई, अगस्त तथा सितम्बर 1889 में छपे थे। चौथा अंक पण्डित गुरुदत्त के देहावसान के पश्चात् सम्भवतः मई 1890 में छपा था जिस पर अन्तिम अंक लिखा था। चारों अंक विरजानन्द प्रेस, लाहौर में मुद्रित हुए थे। दुर्गाप्रसाद ने 10 मई 1890 को एक नोटिस द्वारा वैदिक मैगज़ीन के बंद होने तथा ग्राहकों को बकाया चन्दे के बदले में पण्डित जी की पुस्तकें अथवा नगद राशि लेने की सूचना दी थी।[9]

पण्डित जी इस मैगज़ीन के प्रकाशन में इतने व्यस्त रहे कि उन दिनों समाचारपत्र भी नहीं पढ़ते थे। वैसे यह समस्त आयु की सतत साधना का फल था, तो भी उन दिनों विशेष स्वाध्याय करना पड़ा। निरुक्त, निघण्टु, महाभाष्य, ऋषिकृत वेद-भाष्य, मनुस्मृति, मैक्समूलर के सारे ग्रन्थ, न्यायमीमांसा, वैशेषिक व योगदर्शन तथा अनेक अन्य ग्रन्थ पढ़ डाले। साथ ही आर्यसमाज के उत्सवों पर पूर्ववत् बाहर जाते रहे। एक विज्ञापन भी निकाल दिया कि जो व्यक्ति चाहे वैदिक सिद्धान्तों पर प्रति बुधवार सायं संस्कृत, अंग्रेज़ी, हिन्दी अथवा उर्दू में शंका समाधान के लिए लाहौर आ सकता है।[10] विचित्र लग्न थी प्रचार की।

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी अब एक व्यक्ति नहीं अपितु आन्दोलन बन गए थे। ऋषि दयानन्द के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा का प्रभाव सर्वत्र स्पष्ट दिखाई देता था। वर्षों बाद महात्मा हंसराज ने लिखा था: "आर्यसमाज में पण्डित जी के प्रभाव से श्रद्धा की लहर चल पड़ी। सहस्त्रों लोगों ने इस लहर में स्नान करके अपने हृदयों को शान्त और आत्मा को पवित्र किया।"[11]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. आर्य पत्रिका, 26 फरवरी 1889
2. श्रद्धानन्द स्वामी, कल्याण मार्ग का पथिक, पृष्ठ 171
3. सद्धर्म प्रचारक, (क) 8 जून 1889, पृष्ठ 4, (ख) 20 जुलाई 1889, पृष्ठ 4; यह इश्तिहार गुरुदत्त से बिना पूछे दिया गया था (द्रष्टव्य: सद्धर्म प्रचारक, 3 अगस्त 1889,

पृष्ठ 4), (ग) 3 अगस्त 1889, पृष्ठ 3,7; 19 अगस्त 1889, पृष्ठ 6; 25 जनवरी 1890, पृष्ठ 7-9, (घ) 3 अगस्त 1889, पृष्ठ 4-5; 10 अगस्त 1889, पृष्ठ 4-5, 7, 8; 17 अगस्त 1889, पृष्ठ 5, 6 ; 31 अगस्त 1889, पृष्ठ 2; 5 अक्तूबर 1889, पृष्ठ 4-6, 8-10; 11 अक्तूबर 1890, पृष्ठ 3, (ङ) 24 अगस्त 1889, पृष्ठ 5

4. आत्माराम अमृतसरी, ब्रह्मयज्ञ, पृष्ठ 151-2

5. आर्यमित्र (लखनऊ) के ऋष्यंक सम्वत् 1979 (1922) में मास्टर आत्माराम अमृतसरी का लेख

6. सद्धर्म प्रचारक, (क) 2 नवम्बर 1889, पृष्ठ 11; इस प्रस्ताव का अनुमोदन जीवनदास ने किया था, (ख) 12 जुलाई 1890, पृष्ठ 12, 14 फरवरी 1891, पृष्ठ 8-9, (ग) 3 अगस्त 1889, पृष्ठ 2-3

7. केनेथ डब्ल्यू. जॉन्स ने लिखा है कि गुरुदत्त ने वैदिक मैगज़ीन 1888 में शुरू की थी (आर्य धर्म, पृष्ठ 164)। सत्यव्रत शर्मा लिखते हैं कि यह 1 जून, 1889 को आरम्भ हुई (वेदभक्त पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, पृष्ठ 77-78) – ये दोनों कथन सही नहीं हैं।

8. वैदिक मैगज़ीन, जुलाई 1889, पृष्ठ 2-3

9. इस मैगज़ीन की एक प्रति का मूल्य बारह आने तथा विदेश में दो शिलिंग और वार्षिक चन्दा छह रुपये अथवा पन्द्रह शिलिंग था। चन्दे से प्राप्त धन राशि पण्डित जी के ईलाज पर खर्च हो चुकी थी।

10. निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद, पृष्ठ 67

11. प्रकाश (साप्ताहिक), 15-22 अक्तूबर 1933 में महात्मा हंसराज का लेख

पदचिह्न

1877-1890 के मध्य आर्यसमाज के अनुयायियों की संख्या तो निरन्तर बढ़ती जा रही थी परन्तु उनके विश्वासों को स्पष्ट धरातल पर दृढ़ करना अभी शेष था। इस संदर्भ में पण्डित गुरुदत्त की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। यही भूमिका उस युग की जरूरत थी। एतदर्थ उन जैसा शिल्पी मिलना असम्भव था। आन्तरिक प्रेरणा, जीवन की निर्मलता, कर्त्तव्य निष्ठा, बहुमुखी प्रतिभा, गहन अध्ययन, अथक परिश्रम, ऋषि भक्ति और अनुकरणीय ईश्वर विश्वास ने प्रत्येक आर्य के हृदय में उनके लिए एक विशेष स्थान बना दिया था। उन्होंने सर्वात्मना ऋषि की विचारधारा को मूर्तरूप दे दिया अन्यथा आर्यसमाज की शक्ति शनैः-शनैः क्षीण होने की आशंका थी।

भले ही आर्यसमाज की स्थापना मुंबई में हुई थी परन्तु लाहौर आर्यसमाज का सर्वाधिक सक्रिय केन्द्र बन गया था। वहाँ ऋषि दयानन्द के महाप्रयाण के पश्चात् आर्यसमाज में दो विचारधाराएँ काम कर रही थीं। एक के अगुवा थे— मूलराज। मूलराज एम.ए. करने तथा प्रेमचन्द रायचन्द स्कॉलरशिप प्राप्त करने वाले पहले पंजाबी थे, आर्यसमाज लाहौर के प्रथम प्रधान तथा परोपकारिणी सभा अजमेर के उपप्रधान थे। दूसरे पक्ष के नेता थे-गुरुदत्त। उनकी वेद तथा ऋषि दयानन्द में पूर्ण निष्ठा थी। कालान्तर में मूलराज के विचार और उनके मानने वाले लोग ही आर्यसमाज में विभाजन का कारण बने थे। वे आर्यसमाज के दस नियमों के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त को स्वीकार करना आवश्यक नहीं मानते थे। आर्यसमाज की मान्यताओं पर जाने-अनजाने की जा रही इस चोट को सर्वप्रथम गुरुदत्त ने ही 1888-89 में पहचाना था। उन्हें ही आर्यसमाज में छिपे हुए मूलराजों की विद्यमानता से चिन्ता हुई थी। आर्यसमाज का सदस्य बनने के लिए दस नियमों पर हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित किसी सिद्धान्त का मानना आवश्यक नहीं—इस प्रचार का अर्थ तथा मांसाहार के विषय में छूट देने के पीछे छिपी मनोवृति को वे समझते थे। इन मनोवृतियों से उत्पन्न स्थिति की पूरी पैचीदगियों तथा भावी परिणामों को तब लाला साईंदास, महात्मा हंसराज आदि नेता भी हृदयंगम नहीं कर पाए थे। अकेला पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी सबको सचेत कर रहा था।

मूलराज द्वारा 1893 में आर्यसमाज लाहौर के उत्सव में मांसाहार का

पक्ष लेने से समूचा आर्य जगत् आन्दोलित हो उठा था। मूलराज की पक्षपोषक पत्रिका भारतसुधार के अतिरिक्त प्राय: सभी आर्यसमाजी पत्रिकाओं में मांस-भक्षण को वेद विरुद्ध बताया गया। विभिन्न आर्यसमाजों एवं राजस्थान, बिहार, बंगाल, मुंबई आदि आर्य प्रतिनिधि सभाओं ने 1893 के दिसम्बर मास तक इस आशय के प्रस्ताव धड़ाधड़ पारित किए।[1] बाद में 1903 में महात्मा हंसराज ने भी मांस-भक्षण का विरोध किया। फिर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के पूछने पर आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए 9 अक्तूबर 1918 को घोषणा की— ''मांस-भक्षण के विषय में हमारी सभा का सिद्धान्त वही रहा है, और अब भी वही है जो कि स्वामी दयानन्द जी महाराज का है, अर्थात् मांस-भक्षण वेदों के अनुकूल नहीं है।''[2] नैरोबी (केनिया) में पण्डित ऋषिराम द्वारा कॉलेज विभाग से सम्बन्धित आर्यसमाज की स्थापना एवं मांसाहार विषयक प्रश्नों[3क] का उत्तर देते हुए महात्मा हंसराज ने 2 फरवरी 1928 को पुन: स्पष्ट किया— ''मैं आचार्य के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं जाना चाहता। स्वामी दयानन्द ने मांस-भक्षण वेद विरुद्ध कहा है। मैं भी ऐसा ही स्वीकार करता हूँ। हाँ, मांस खाने वालों से द्वेष का भाव अनुचित है।''[3ख] इसी प्रकार गुरुदत्त की इस धारणा पर कि आर्यसमाज के दस नियमों के साथ-साथ अन्य सिद्धान्तों को मानना भी अनिवार्य है— कहीं 1933 में जाकर महात्मा हंसराज, पण्डित घासीराम एडवोकेट, पण्डित चमूपति, आचार्य रामदेव आदि नेताओं ने बल दिया।[3ग] पण्डित गुरुदत्त ने जो विचार सरिता प्रवाहित की थी — यह उसका ही परिणाम था कि मूलराज को न डी.ए.वी. कॉलेज प्रबन्धक कमेटी में और न ही आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा में कभी कोई पद मिल पाया। यदि आर्य जगत् गुरुदत्त के समय ही सचेत हो जाता, तो आर्यसमाज के आरम्भिक पैंतालीस वर्षों का इतिहास कुछ और ही होता।

आर्यसमाज के प्रादुर्भाव से पूर्व हिन्दुओं की रूढ़ियों से तंग आया उच्चवर्ग और सामाजिक असमानता में पिसता निम्नवर्ग क्रमश: ब्रह्मसमाज तथा ईसाई मत की ओर झुक रहा था। कुछ बंगालियों ने थोड़े से पंजाबियों की सहायता से 1863 में लाहौर में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ आदि नेताओं ने पंजाब का दौरा किया। लाहौर में 1877 में हिन्दी, पंजाबी तथा उर्दू में अनूदित ब्रह्म साहित्य प्रकाशनार्थ प्रेस लगाया गया। अमृतसर, रोपड़, शिमला, मुलतान, रावलपिण्डी, डेरा ग़ाज़ीख़ां आदि में शाखाएँ खोली गईं। ब्रह्मसमाजी तत्कालीन हिन्दू मान्यताओं एवं परम्पराओं

के घोर आलोचक तथा आधुनिकता, यूरोपीय सभ्यता एवं ईसाई नैतिकता के उपासक थे। जो कुछ भी भारतीय था वह उन्हें निकम्मा तथा जो पाश्चात्य था वही श्रेष्ठ लगता था। तो भी कई पंजाबी इसकी ओर आकर्षित हो गए।

कुछ प्रमुख ब्रह्मसमाजी ऋषि दयानन्द को लाहौर आमन्त्रित करने में अगुवा थे। जब वहाँ आर्यसमाज के नियम तय किए जाने लगे तो ब्रह्मसमाजियों ने चाहा कि उनमें वेद सम्बन्धी मान्यता का उल्लेख न हो परन्तु ऋषिवर ने यह सुझाव स्वीकार न किया।[4क] इस पर वे रुष्ट हो गए। शिवनारायण अग्निहोत्री ने सैद्धान्तिक मतभेद को निजी कटुता में परिवर्तित कर दिया और आर्यसमाज तथा ऋषि दयानन्द के विरुद्ध 1878 में ट्रैक्ट लिखने शुरू कर दिए। उनके द्वारा लिखित 'पण्डित दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य पर रिव्यू' तथा 'दयानन्दी कलयुगी मज़हब' आदि पुस्तिकाएँ उनकी मनोवृति की परिचायक हैं। पण्ड़ित गुरुदत्त विद्यार्थी ने ब्रह्मसमाज और उसकी मान्यताओं के सम्बन्ध में तीन लेख लिखे। परिणाम स्पष्ट है। जहाँ 1891 में आर्यसमाज के सदस्यों की संख्या 14030 हो गई, वहाँ ब्रह्मसमाज तथा देवसमाज की सदस्य संख्या क्रमशः केवल 128 तथा 12 रह गई।[5क] इस तरह सहमे दुबके रूढ़िग्रस्त हिन्दुओं पर ब्रह्मसमाज के पहरावे में अंग्रेज़ियत का आक्रमण सदा के लिए रुक गया।

दूसरा हमलावर ईसाई पादरी थे। लाहौर आर्यसमाज की स्थापना से 27-28 वर्ष पूर्व नवम्बर 1849 में पादरी सी.डब्ल्यू. फारमॅन अपने छह मिशनरी साथियों के साथ लाहौर पहुँचा। उसने धीरे-धीरे कार्य आरम्भ कर दिया। 1857 की क्रान्ति की विफलता के पश्चात् उनके प्रयत्न तेज़ हो गए। चर्च मिशनरी सोसाइटी, लाहौर ने 1868 में लाहौर की चुन्नियां तहसील में 1935 एकड़ भूमि पर अपनी पहली कालोनी स्थापित की। गली प्रचार, साहित्य वितरण तथा शिक्षण संस्थाओं का क्रम जारी हुआ। हिन्दुओं में व्याप्त सामाजिक बुराइयों, रूढ़ियों, शिक्षा के अभाव, दरिद्रता, असमानता, निज सभ्यता-संस्कृति के वैदिक स्वरूप से अनभिज्ञता, वैदिक साहित्य पर सायण व महीधर आदि की अनर्गल टीकाओं इत्यादि के कारण ईसाइयत का प्रचार सहज ही होने लगा। साथ ही सरकार की ओर से पादरियों को धर्मप्रचार के लिए पूर्ण संरक्षण एवं सुविधाएँ प्राप्त थीं।[6] 1880 तक पंजाब में उनका जाल बिछ गया।

ईसाइयत के प्रचारार्थ अपनाए गए दो प्रमुख साधन थे— (क) वैदिक साहित्य का अंग्रेज़ी में ऐसा अनुवाद जिसे पढ़कर वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा न रहे, तथा (ख) अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार। एक ओर मोनियर विलियम्स, मैक्समूलर आदि शास्त्रों का अनर्गल अनुवाद करने में लगे हुए थे। उन्होंने अथक परिश्रम

किया। उनका ध्येय स्पष्ट था। इसीलिए मैक्समूलर ने 1868 में अपने प्रयत्नों का मूल्यांकन करते हुए भारत विषयों के मन्त्री ड्यूक ऑफ़ आर्गायल के नाम पत्र में लिखा था – ''भारत का प्राचीन धर्म मृतप्राय है और यदि ईसाइयत पदार्पण नहीं करती तो यह किस का दोष होगा?''[7]

दूसरी ओर मैकॉले अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार द्वारा काले अंग्रेज़ तैयार करने का बीजारोपण कर चुका था। उसने शिक्षा का ढांचा ही ऐसा बनाया था कि किसी पठित व्यक्ति का विचारों से भारतीय रह पाना सम्भव नहीं था। समय-समय पर इस शिकंजे को और अधिक कसा गया। यद्यपि जॉन स्टुअर्ट मिल, बेन, स्पेन्सर आदि स्वतन्त्र विचारकों की रचनाओं को तब भारतीय विद्यार्थी उत्सुकतापूर्वक पढ़ता था और ईसाइयत के विरोध में प्रयोग किए जाने वाले शस्त्र मुख्यतया इन्हीं लेखकों से उधार लिए जाते थे, परन्तु समय पाकर विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम काफी बदले गए और उसमें ऐसी रचनाएँ सम्मिलित की गईं जिनकी सुरतान स्पष्टतया क्रिश्च्यॅन थी।[8क] साथ ही भारत के अन्य भू भागों की तरह गोरी सरकार ने पंजाब एवं उत्तर प्रदेश में भी शिक्षा प्रसार के कार्य में चर्च एवं पादरियों को उनकी संख्या के अनुपात से अधिक महत्त्व एवं प्रभाव प्रदान किया।[9] इसका असर धर्मान्तरण के पक्ष में हुआ। उस समय के पादरियों ने स्वयं स्वीकार किया है कि ''उच्च जन्म जातियों से ऐसे धर्म परिवर्तित व्यक्ति बहुत कम हैं जिन्होंने आरम्भिक ईसाई प्रशिक्षण मिशन स्कूलों में न लिया हो। मिशन स्कूलों में बोए बीज प्रायः वर्षों पश्चात् फलीभूत हुए हैं।''[8ख] इसलिए 1880-90 के दशक में ईसाई जनसंख्या में 410 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।[5ख] इस दशक में सियालकोट जिले में दलितों के धर्म परिवर्तन में 3000 प्रतिशत की वृद्धि हुई।[10] अतः ईसाई खतरा वास्तविक था।

लगता था कि थोड़े समय में ही पादरी अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेंगे परन्तु ऋषि दयानन्द ने उन्हें हिला दिया। लाहौर के बिशप ने स्वयं स्वीकार किया था, ''मुझे बहुत खेद रहा कि मेरे भाषण में जो मैंने एक शाम आपके बड़े दिल्ली स्कूल के कमरे में हिन्दुस्तानी बोलने वाले बाबुओं के समक्ष दिया था, उपस्थिति उतनी अधिक नहीं थी जितनी उसी समय दयानन्द सरस्वती– एक हिन्दू सुधारक द्वारा दिए जा रहे एक दूसरे भाषण के कारण प्रत्याशित थी।''[11] ऋषि दयानन्द के निर्वाणोपरान्त गुरुदत्त काल (1883-1890) में ''आर्यसमाज ने मिशन तैयार किए तथा ईसाई मिशनों तथा मुसलमानों से संघर्ष करना अपने कर्त्तव्य का एक भाग समझा।''[12] लाहौर में

यह प्रभाव इतना स्पष्ट था कि पादरी जे.सी.आर. इविंग, प्रिंसिपल मिशन कॉलेज, लाहौर को मुंबई अधिवेशन में मानना पड़ा था – ''जो लाहौर के पठित समुदाय में काम करते हैं, उनके लिए आर्यसमाज एक कम महत्त्व की संस्था नहीं है ... साधारणतया इसकी सदस्यता इसके ईसाइयत के प्रतिरोध से पहचानी जाती है।''[8ग]

लाहौर में गुरुदत्त ने स्वयं मोर्चा सम्भाला था। तब आर्यों का एक समुदाय खण्डन-मण्डन से बचना चाहता था और गली-प्रचार से संकोच करता था। गुरुदत्त ने जहाँ एक ओर लेख, भाषण तथा नवयुवकों में प्रचार के माध्यम से ईसाई आक्रमण का मुकाबला किया, वहाँ दूसरी ओर डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर की स्थापनार्थ पुरुषार्थ किया। डी.ए.वी. कॉलेज आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने के लिए 1883 से 1890 तक जितना कार्य गुरुदत्त ने किया, उतना इस अवधि में किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया। **वे डी.ए.वी. आन्दोलन के प्रथम मन्त्रदाता एवं मूल सूत्रधार थे।** वे पहले दिन (6 नवम्बर 1883) से ही इससे जुड़े हुए थे। उन्हीं के मस्तिष्क में इस का समग्र स्वरूप था। उन्हीं की जादुई वाणी ने इसे जन-मानस का प्रिय विचार बनाया था। उन्हीं की हृदयस्पर्शी अपीलों पर धन बरसा था। इस आन्दोलन की आरम्भिक सफलता का श्रेय बहुत हद तक उन्हीं को है।

लाहौर में तब सभी आर्यसमाजी गतिविधियों के केन्द्र बिन्दु साईंदास थे। स्वामी श्रद्धानन्द के अनुसार ''लाहौर आर्यसमाज की – और उसके साथ पंजाब के सारे आर्यसमाजों की, जिनका जीवन इस समय लाहौर आर्यसमाज पर निर्भर था – सारी कला के संचालक लाला साईंदास जी ही थे। इस शक्ति तथा अधिकारों को वे ही लोग जानते हैं, जिन्हें लाला साईंदास जी से अधिक वास्ता पड़ा था।''[13क] उनके निकटतम सम्बन्धी लाला लालचन्द ''बड़े सुशील तथा सादे आदमी थे, यहाँ तक कि सिवाय नीची आंखें करके व्याख्यान देते जाने के वह कभी भी किसी विद्यार्थी पर दृष्टि डालते नहीं देखे गए।''[13ख] वे आरम्भ से ही कॉलेज कमेटी के अध्यक्ष थे। लाजपतराय तथा हंसराज क्रमशः मार्च 1887 तथा फरवरी 1889 में कॉलेज कमेटी के सदस्य लिए गए थे। तब 'उन दोनों की आवाज इतनी दीन था कि वे कॉलेज कमेटी के निर्णयों को प्रभावित करने की आशा भी नहीं कर सकते थे।'[14] महात्मा हंसराज का कॉलेज सम्बन्धी दृष्टिकोण लगभग वही था, जो साईंदास का था। इसीलिए साईंदास ने उन्हें कॉलेज का प्रिंसिपल बनवाया था। धन संग्रह तथा

आक्षेपों के उत्तर देने का कार्य 1892 से 1907 तक लाला लाजपतराय ही करते रहे। इस प्रकार पहले दो दशकों में इस पंच-मूर्ति की डी.ए.वी. आन्दोलन में सर्वाधिक भूमिका रही है।

मनीषी गुरुदत्त डी.ए.वी. को पूर्व और पश्चिम का ऐसा अमृत मिश्रण बनाना चाहते थे, जिसका मॉडल आज भी अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। निर्मम मृत्यु गुरुदत्त को छीन ले गई और साथ ही छीन ले गई उस कल्पना को भी। लालचन्द उस समय के पठित एवं प्रबुद्ध वर्ग की भावना के अनुरूप इसे ढाल रहे थे। साईंदास इसे आर्यसमाजी तथा राष्ट्रीय भावना से युक्त परन्तु विश्वविद्यालय के मापदण्डों पर पूरा उतरने वाली आदर्श शिक्षण संस्था बनाने के लिए तन्मयता से लगे हुए थे। बहुत सीमा तक डी.ए.वी. का स्वरूप उनकी कल्पना के अनुसार ही बन पाया। इसी उद्देश्य के लिए संघर्षरत त्याग-मूर्ति हंसराज ने जून 1886 से लेकर सर्वाधिक लम्बे समय तक घड़ी-घड़ी पल-पल पूर्ण समर्पण भाव से इसकी सम्भाल की। बाद में लाला लाजपतराय इस स्वरूप को बदलना चाहते थे। कालान्तर में वे यह लिखने पर विवश हो गए थे कि यद्यपि ''दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज ने पंजाब में संस्कृत व हिन्दी को बढ़ावा दिया है परन्तु इसका 'वैदिक' भाग 9/10 हद तक ही नहीं सम्भवत: 99/100 की सीमा तक 'एंग्लो' के नीचे दबा रहा। कॉलेज का सारा कार्यालय अब तक अंग्रेज़ी भाषा में ही काम करता है। उसका सारा पत्रव्यवहार अंग्रेज़ी भाषा में होता है। कॉलेज की प्रबन्ध समिति की भी यही स्थिति है। कॉलेज का बड़ा भाग विश्वविद्यालय की आवश्यकता को पूरा करता है। कॉलेज अब तक अपनी पाठ्य-पुस्तकें नहीं बना सका। ... कॉलेज का प्रबन्ध अब तक उन लोगों के हाथ में है, जो न अच्छी प्रकार हिन्दी पढ़ सकते हैं, न लिख सकते हैं और जिनके जीवन का बहुत बड़ा भाग कानूनी शब्दावली के प्रेम में बीत जाता है तथा जिन पर सदैव समय की सरकार का दबदबा छाया रहता है।''[15] उन दिनों (1921 में) लाला जी कॉलेज को सरकारी विश्वविद्यालय से मुक्त दयानन्द विश्वविद्यालय में बदलना चाहते थे।[16] गुरुदत्त को बहुत पहले ही लगने लग गया था कि कॉलेज के कुछ संस्थापक दिग्भ्रमित हो गए हैं, तब ''उनका कॉलेज से वह प्रेम था जो पिता का अपने पुत्र से होता है। पुत्र से असन्तुष्ट होकर भी पिता उसका दुश्मन नहीं हो सकता।''[17]

डी.ए.वी. स्कूल लाहौर के माध्यम से तत्कालीन विज्ञान एवं तकनीकी

प्रगति का समन्वय अति प्राचीन वैदिक संस्कृति से करना अभीष्ट था। जब यह स्कूल स्थापित किया गया तब पंजाब में सभी प्राइमरी (प्राथमिक) स्कूलों में उर्दू तथा फ़ारसी अनिवार्य थी। पेशावर शहर के कुछ घरानों के अतिरिक्त फ़ारसी समूचे प्रान्त में कहीं भी बोली नहीं जाती थी। उर्दू भी कचहरी की लिखित भाषा अवश्य थी परन्तु जनभाषा नहीं थी। इसमें अरबी तथा फ़ारसी के शब्दों का बाहुल्य था। तो भी यह प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा का माध्यम थी। हिन्दी, संस्कृत तथा गुरुमुखी की पढ़ाई की कोई व्यवस्था न थी। गुरुदत्त के नेतृत्व में डी.ए.वी. स्कूल में शिक्षा का माध्यम हिन्दी निश्चित हुआ। पहली कक्षा से हिन्दी और तीसरी से संस्कृत आरम्भ की गई। हिन्दी पहली, तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी कक्षा में, संस्कृत तीसरी से दसवीं तक, अंग्रेज़ी चौथी से दसवीं तक और उर्दू (वैकल्पिक) केवल चौथी से आठवीं तक पढ़ाना तय हुआ था। हिन्दी-संस्कृत पर इतना जोर गुरुदत्त, रलाराम और उनके साथियों के कारण था। वैसे कॉलेज की स्थापना से बहुत पहले प्रथम शिक्षा आयोग के समय से ही गुरुदत्त से लेकर मूलराज तक आर्य जन देवनागरी लिपि में हिन्दी पढ़ाने के पक्षधर थे।[4ग] फ़ारसी की अपेक्षा देवनागरी सरल एवं वैज्ञानिक लिपि है। अत: मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं में साक्षरता कहीं अधिक थी।

उन दिनों संस्कृत के अध्ययन पर बल देना आसान नहीं था। प्रसिद्ध सुधारक राजा राममोहनराय ने भी अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली को प्रोत्साहित किया था। बंगाल सरकार कोलकाता में संस्कृत कॉलेज स्थापित करना चाहती थी परन्तु राजा राममोहनराय ने तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट को पत्र लिखकर प्रस्तावित संस्कृत कॉलेज का विरोध किया था। डॉक्टर लाइटनर ऑरिएन्टॅल (प्राच्य) शिक्षा-पद्धति लागू करना चाहते थे। वे पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना एक ऑरिएन्टॅल विश्वविद्यालय के रूप में करने के लिए सक्रिय थे परन्तु मूलराज जैसे लोग अंग्रेज़ी माध्यम के पक्षधर थे ताकि विज्ञान की शिक्षा दी जा सके।[4ग] इसलिए मूलराज आदि ऑरिएन्टॅल संस्थान के रूप में पंजाब विश्वविद्यालय की कल्पना के कट्टर विरोधी थे। ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना का विरोध करने के लिए मूलराज और लाहौर चीफ कोर्ट बार के नेता बाबू योगेन्द्रचन्द्र बोस ने सरदार दयालसिंह मजीठिया से मिलकर अंग्रेज़ी पत्र ट्रिब्यून जारी करवाया था,[4ख] जिसमें प्राच्य विश्वविद्यालय की स्थापना के विरुद्ध लेख छपते रहे। यह थी वह पृष्ठभूमि जिसमें गुरुदत्त और उनके साथी संस्कृत लागू करवाने का प्रयत्न कर रहे

थे, और संस्कृत भी अष्टाध्यायी के माध्यम से। उन दिनों लाहौर के कुछ लोग अष्टाध्यायी पढ़ाने के विरुद्ध युक्तियाँ घड़ा करते थे। तब गुरुदत्त ने आर्यसमाज में एक भाषण दिया। विषय था – 'लोग क्या कहेंगे?'[18] समय पाकर पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का उपदेशक क्लास तथा अष्टाध्यायी कक्षा का आन्दोलन उपदेशक विद्यालयों एवं गुरुकुलों की शृंखला की स्थापना का बीज सिद्ध हुआ। आज न केवल गुरुकुल कांगड़ी ही विश्वविद्यालय है अपितु देश में कई संस्कृत विश्वविद्यालय हैं।

ऋषि दयानन्द के पश्चात् गुरुदत्त प्रथम महापुरुष हैं जिन्होंने मोनियर विलियम्स तथा मैक्समूलर आदि से लोहा लिया। तब भारतीय विद्वान् उनकी आरती उतारते थे, उनके विरुद्ध लिखने की बात तो क्या कहिए। श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसा देशभक्त विद्वान् भी मोनियर विलियम्स के सहायक के रूप में इंग्लैंड में कार्य करता रहा और उनके वेद विषयक किसी भी लेख के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखा। किसी अन्य मतावलम्बी ने भी इस दिशा में कोई कार्य नहीं किया। स्वामी विवेकानन्द सदृश सुधारक ने भी 'ईशदूत ईसा' नामक पुस्तक लिखकर प्रशंसात्मक गीत गाने का सरल एवं सुविधाजनक मार्ग ही अपनाया।[19] यदि गुरुदत्त तथा आर्यसमाज इस क्षेत्र में कार्य न करते तो वैदिक शास्त्रों का स्वरूप ही बिगड़ जाता। पण्डित गुरुदत्त ने विदेशियों के ग्रन्थों की समलोचना की। उनके आक्षेपों का तर्क संगत उत्तर दिया। भाषा की उत्पत्ति तथा वैदिक संज्ञा विज्ञान आदि पर लेख लिखे। उपनिषदों पर टीकाएँ लिखीं। उनके लेख विदेशों में आर्यसमाज के सत्संगों में पढ़कर सुनाए जाते थे।[20] इस प्रसंग में स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा था, ''अब तक यूरोप और अमेरिका में आर्यसमाज के उच्च विचार फैलाने का गुरुदत्त के लेखों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। जो उपनिषद् व्याख्या का क्रम पण्डित गुरुदत्त ने आरम्भ किया था, उसको भी आगे ले चलने वाला कोई उत्पन्न न हुआ।''[13ग]

धर्म प्रचारार्थ गुरुदत्त ने यदा-कदा ऋषि दयानन्द प्रदत्त शास्त्रार्थों की पद्धति को अपनाया था। उनके जीवन में कई शास्त्रार्थों का उल्लेख मिलता है। विश्व भर में सम्भवत: ऋषि दयानन्द ने सत्य-असत्य निर्णय हेतु शास्त्रार्थों पर सर्वाधिक बल दिया। धर्म प्रचार में यह उनका विशेष शस्त्र था, अन्यथा तलवार के बल पर या धन के प्रलोभन से धर्मान्तरण के उदाहरण अधिक मिलते हैं। ऋषि के पश्चात् गुरुदत्त आर्यसमाज के पहले शास्त्रार्थ महारथी थे। बाद में पण्डित लेखराम, पण्डित धर्मभिक्षु, पण्डित अखिलानन्द, स्वामी दर्शनानन्द, पण्डित गणपति शर्मा, पण्डित रामचन्द्र देहलवी, पण्डित बुद्धदेव

विद्यालंकार, अमर स्वामी आदि ने खूब शास्त्रार्थ किए।

गुरुदत्त ने अल्प समय में ही आर्यसमाज को अनेक रत्न दिए। महात्मा मुन्शीराम, लाला लाजपतराय आदि उनके समकालीन युवकों एवं नेताओं पर उनकी छाप स्पष्ट है। स्वामी अच्युतानन्द, मास्टर आत्माराम अमृतसरी, चौधरी रामभजदत, डॉक्टर चिरंजीव भारद्वाज, भूमण्डल प्रचारक मेहता जैमिनि, स्वामी इच्छानन्द, स्वामी पूर्णानन्द आदि उन्हीं के शिष्य थे। और तो और, सात-आठ वर्ष के बच्चे रामदेव को गोद में ले ऐसा आशीर्वाद दिया कि उसे गुरुदत्त समान वक्ता बनने की धुन लग गई।[21] न जाने किस-किस को उस दिव्य देवता ने राह दिखाई।

आर्यसमाज जन्म जाति को नहीं अपितु गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर वर्ण-व्यवस्था को मानता है। सर्वप्रथम वेदज्ञ मुनिवर गुरुदत्त को उनकी योग्यता के आधार पर सभी वर्गों ने पण्डित स्वीकार किया था। यह एक महान् सामाजिक क्रान्ति का शुभारम्भ था। जातीय बन्धनों से मुक्ति के इस महायज्ञ का प्रथम यजमान गुरुदत्त ही है। उनका अनुसरण करते हुए आज तक आर्यसमाज में वैदिक विद्वानों एवं उपदेशकों को पण्डित की पदवी से विभूषित किया जाता है, चाहे उनकी जन्म जाति कुछ भी हो।

गुरुदत्त ने सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए एक और उदाहरण प्रस्तुत किया – वह था उच्च आचरण एवं आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत जीवन का। प्राय: बड़े लोगों के निजी तथा सार्वजनिक जीवन में दोहरापन रहता है। कोई विरला ही स्वर्ण को तपाकर कुन्दन बनाता है। उपदेश दूसरों के लिए होते हैं, अपने लिए नहीं परन्तु बुझा दीपक कैसे अन्धकार हरेगा? पुष्प की सर्वोत्तम पहचान उसकी सुगन्धि ही है। आचरणहीन विद्वान् से चरित्रवान निरक्षर कहीं अच्छा है। गुरुदत्त का निजी चरित्र अति निर्मल था। उस समय की पत्रिकाओं में उनके समकालीन लोगों के प्रकाशित लेख इस सत्य के साक्षी हैं कि युवावस्था में भी उनका जीवन ऋषियों जैसा था। इसलिए उनमें चुम्बकीय आकर्षण था।

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने सब कार्य बहुत थोड़े समय में पूरे किए। शंकर स्वामी (788-826), विवेकानन्द (1863-1902), लाला हरदयाल (1884-1939), श्रीनिवास रामानुजन (1887-1920) आदि कुछ अन्य अलौकिक ज्योतिर्पुंज भी स्वल्पकाल के लिए ही अपना प्रकाश दे पाए थे। इन महापुरुषों तथा गुरुदत्त में कुछ समानताएँ हैं तथा कुछ असमानताएँ। प्रसिद्ध गणितज्ञ रामानुजन गुरुदत्त की तरह विलक्षण प्रतिभा का धनी था। दोनों थोड़े

समय जीए। दोनों के महाप्रयाण का कारण बीमारी बनी। गुरुदत्त ने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी; रामानुजन ने मैट्रिक के पश्चात् पढ़ाई छोड़कर नौकरी कर ली थी। पर दोनों के भीतर से नई खोज प्रस्फुटित होती थी। हाँ, दोनों की रुचियाँ भिन्न थीं। एक का क्षेत्र विज्ञान के अतिरिक्त वैदिक साहित्य भी था, तो दूसरे का केवल गणित। हरदयाल और गुरुदत्त दोनों की स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक थी। दोनों परीक्षाओं में प्रायः प्रथम रहते थे। दोनों ने पाश्चात्य साहित्य का मन्थन किया था। दोनों ने अंग्रेज़ी को लेखन का माध्यम बनाया। गुरुदत्त की कुल शिक्षा भारत में हुई, लाला हरदयाल ने विदेश में भी शिक्षा प्राप्त की। गुरुदत्त तथा विवेकानन्द के जीवन में उनके गुरुओं क्रमशः ऋषि दयानन्द तथा रामकृष्ण परमहंस का विशेष योगदान है। दोनों को गुरुओं ने विशेष मिशन सौंपे। दोनों ने शिक्षा प्राप्ति के उपरान्त धर्म प्रचार को अपने जीवन का ध्येय बनाया।

शंकर जन्मना उच्चकोटि के ब्राह्मण थे, गुरुदत्त को पाण्डित्य के आधार पर पण्डित स्वीकार किया गया। दोनों ने शास्त्रार्थ किए और विजयी रहे तथा सत्य धर्म का प्रतिपादन किया। दोनों का आधार वेद था, दोनों वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे। जहाँ शंकर ने वेदान्त का प्रचार किया, वहाँ गुरुदत्त ने त्रैतवाद का। दोनों ने भारतीय धर्म में आई मिलावट का विरोध किया। शंकर वैवाहिक बन्धन से मुक्त रहे; गुरुदत्त बाल-विवाह के बावजूद वैरागी थे। शंकर ने केवल संस्कृत पढ़ी थी और उसी भाषा में प्रचार किया अतः उनकी अपील बुद्धिजीवी पण्डितों तक सीमित रही। गुरुदत्त ने वैदिक साहित्य को सामान्य जन तक पहुँचाना चाहा। उसने साहित्य अंग्रेज़ी में लिखा और भाषण हिन्दी, अंग्रेज़ी तथा संस्कृत में दिए – अतः उनका प्रभाव क्षेत्र अधिक विस्तृत था। शंकर ने मठ स्थापित किए, गुरुदत्त ने कॉलेज तथा संस्कृत कक्षाएँ आरम्भ कीं। धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की भिन्नता के कारण कार्य-शैली की कुछ भिन्नता स्वाभाविक थी।

कुछ भी परिस्थितियाँ रही हों, पण्डित गुरुदत्त ने जो पदचिह्न छोड़े उनसे आर्यसमाज के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। प्रत्येक क्षेत्र में उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप है। हो भी क्यों न? आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अन्तिम क्षणों में इसी होनहार प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व को अपने पास रहने की अनुमति दी थी तथा अपना उत्तराधिकारी मानकर मूक शब्दों में अपने अधूरे कार्य को पूरा करने का भार सौंपा था। यदि गुरुदत्त केवल दस वर्ष और जीवित रहते तो ऋषि दयानन्द की विचारधारा का बौद्धिक

साम्राज्य स्थापित कर देते, जैसे लेनिन ने अथक प्रयत्नों से कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर आधारित राजनीतिक साम्राज्य स्थापित किया था।

आर्यसमाज में एक नई क्रान्ति के लिए आज भी गुरुदत्त के पदचिह्न तलाशने की आवश्यकता है। समय के रेत पर पड़े उनके पदचिह्न दिशाबोध करवाने में सक्षम हैं।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. भारत सुदशा प्रवर्तक, दिसम्बर 1893, पृष्ठ 10-14
२. हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, आर्यसमाज का इतिहास, पृष्ठ 116
3. प्रकाश, (क) 15 जनवरी, 29 जनवरी 1928, (ख) 12 फरवरी 1928, (ग) 26 नवम्बर, 3, 10 दिसम्बर 1933
4. मूलराज, ऑटो बाइऑग्रफ़ि ऑफ़ मूलराज, (क) पृष्ठ 29, (ख) पृष्ठ 76-77
5. सेन्सॅस पंजाब रिपोर्ट, 1891, (क) पृष्ठ 172, (ख) पृष्ठ xiv, 97
6. मैथ्युआर्थर, क्रिश्च्यनिटि एन्ड गवर्नमेन्ट ऑफ़ इण्डिया 1600-1900, पृष्ठ 194-95
7. नानकचन्द पेपर्ज़ नम्बर 83, पोलिटिकॅल अॅवेकनिंग इन पंजाब, पृष्ठ 10
8. रिपोर्ट ऑफ़ दि थर्ड डिसेन्यॅल मिशनरी कॉन्फ़ॅरॅन्स हेल्ड एट बम्बई 1892-93, (क) पृष्ठ 267, (ख) पृष्ठ 270, (ग) पृष्ठ 300
9. वेब्स्टर जॉन, सी.बी., दि क्रिश्च्यन कॅम्यूनिटि एन्ड चेंज इन दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरि नार्थ-इण्डिया, पृष्ठ 9
10. पी.जी. सियालकोट, 1883, पृष्ठ 3, पी.जी. सियालकोट, 1894-95, पृष्ठ 46
11. ग्राहम रीड, दि आर्यसमाज एज़ ए रेफमेशॅन इन हिन्दुइज़्म, पृष्ठ 202
12. हंस कॉहन, ए हिस्ट्री ऑफ़ नैशॅनॅलिज्म इन ईस्ट, पृष्ठ 68
13. श्रद्धानन्द स्वामी, कल्याण मार्ग का पथिक, (क) पृष्ठ 97-98, (ख) पृष्ठ 96, (ग) पृष्ठ 183-84
14. महात्मा हंसराज द्वारा 1921 में लाला लाजपतराय को लिखे पत्र से (द्रष्टव्यः खुशहाल चन्द, महात्मा हंसराज, पृष्ठ 108)।
15. लाजपतराय लाला, स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की मौजूदा हालत, पृष्ठ 25-26 (लाला जी के लेख का हिन्दी रूपान्तर)
16. द्रष्टव्य : वन्देमातरम् में 18 जनवरी 1921 को छपा महात्मा हंसराज के नाम लाला लाजपतराय का खुला पत्र।
17. इन्द्र विद्यावाचस्पति, आर्यसमाज का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 214
18. आत्माराम अमृतसरी, ब्रह्मयज्ञ, पृष्ठ 155
19. विवेकानन्द स्वामी, ईशदूत ईसा, (अनुवादकः हरिवल्लभ जोशी)
20. आर्यसमाज लंदन के साप्ताहिक सत्संग में 7 अप्रैल 1889 रविवार को पण्डित गुरुदत्त कृत ईशोपनिषद् व्याख्या पढ़कर सुनाई गई थी (सद्धर्म प्रचारक, 4 मई 1889, पृष्ठ 7)।
21. यशपाल सिद्धान्तालंकार, आचार्य रामदेव जीवन झांकी, पृष्ठ 30, 97

व्यक्तित्व

पतला बदन, दरम्याना कद, गोरा रंग, चौड़ा माथा, भाव भीनी आँखें, बहुत नर्म और भूरे रंग के सिर तथा दाढ़ी के बाल, मुख पर चन्द्र की कान्ति और सूर्य के तेज की शोभा, गम्भीर किन्तु सरल मधुर ध्वनि – मिलकर गुरुदत्त के व्यक्तित्व को मनमोहक बनाती थीं। उनके हृदय में पवित्रता, आँखों में गहनता, मुख पर बच्चों की सी सरलता, कल्पना में निर्मलता, चिन्तन में व्यापकता, संकल्प में दृढ़ता, भुजाओं में कार्यक्षमता और पाँव में गतिमयता थी। उनमें वैलन्टाइन जैसी स्मरण शक्ति, डैमोस्थनीज जैसा पुरुषार्थ तथा सुकरात सदृश मृत्यु से निर्भयता थी। क्या नहीं था? माली ने सर्वोत्तम पुष्प चुनकर गुलदस्ता सजाया था। बर्फ शीतल है परन्तु वे हिमगिरि से अधिक शीतल थे। अग्नि गर्म है परन्तु वे ज्वालामुखी से अधिक गर्म थे। उनमें सागर की गहराई और पर्वत की ऊँचाई विद्यमान थी।

आर्य समाज के भूषण मुनिवर पण्डित गुरुदत्त के आर्यजीवन में विचित्र आकर्षण था। लोग उनकी संगति चाहते थे। मधुर स्वभाव था। कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। स्वभाव से नेक, मिलनसार व प्रेमी थे। शिष्यों, नौकरों एवं अधीनस्थ व्यक्तियों से उनका व्यवहार बहुत मधुर था। उनके संग घण्टों बातें करते और हंसते रहते थे। बच्चों के साथ बच्चों की तरह व्यवहार करते थे, बड़ों के साथ बड़ों की तरह। उन्हें अपने पद तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का अभिमान नहीं था। कार्यकर्ताओं के साथ उनका व्यवहार आजकल के नेताओं जैसा नहीं था अपितु स्नेह-सना था। उनके सुख-दु:ख को अपना सुख-दु:ख मानते थे। एक बार मास्टर आत्माराम अमृतसरी रोगग्रस्त हो गए। इसलिए कई दिन तक पण्डित जी के दर्शनार्थ न जा सके। स्वस्थ होने पर मिलने गए। पण्डित जी भी उन दिनों बहुत रुग्ण थे, अत: दिन में सो रहे थे। मास्टर जी जाकर चारपाई पर बैठ गए। जब आँख खुली तो बहुत धीमे स्वर में मास्टर आत्माराम से पूछने लगे, ''अब तुम्हारा क्या हाल है?'' पण्डित जी इतने बीमार थे कि उनसे बोला भी नहीं जा रहा था, तो भी अपने दु:ख की चर्चा नहीं की। हाँ, उन्हीं के विषय में पूछते रहे। पण्डित जी का व्यवहार इतना स्नेहभरा था कि मास्टर जी दिल में सोचने लगे – ''इनसे अधिक प्रेम अपने जीवन में कौन सिद्ध कर सकता है?''[1क] वे विद्या के ही नहीं, प्रेम के भी अथाह सागर थे।

लाहौर के सभी कॉलेजों के हिन्दू छात्र उनकी भारी विद्या पर मुग्ध थे और उनके साधु, तपस्वी सेवापूर्ण जीवन के कारण उन्हें देवता व फरिश्ता मानते थे। डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर के प्रोफेसर रायसाहब गंगासहाय जो कालान्तर में पंजाब में उच्च राज्याधिकारी बने, अपने भाषणों में गुरुदत्त को 'जीवन्त विद्याकोश' और 'देवता' बताया करते थे।

मुनिवर गुरुदत्त आध्यात्मिक मूल्यों की बहुत कदर करते थे। चरित्र के विषय में लोक-व्यवहार के स्थान पर वेद को ही प्रमाण मानते थे। जीवन की शुद्धता पर विशेष बल देते थे। आयु भले कम थी परन्तु जीवन महात्माओं जैसा था। अपने आध्यात्मिक संयम और नैतिक आचरण के कारण वे जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि परिस्थितियों में समान थे। यौवन के मद मस्त हाथी को उन्होंने अंकुश द्वारा वश में कर रखा था। वे इन्द्रियों के दास नहीं, स्वामी थे। इस दिव्यात्मा ने काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार सभी जीत रखे थे। एक बार किसी महात्मा ने पूछा – आप को किस बात से बहुत दुःख होता है? बोले – जब क्रोध मेरे मन को ग्रस्ता है, वह समय सर्वाधिक दुःखदायी है।[2] वैदिक साहित्य के गहन अध्ययन, अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों एवं आत्मा की पवित्रता के कारण उनका चरित्र अत्यन्त निर्मल था। कुचालों तथा अनैतिक कार्यों से उन्हें बहुत घृणा थी। कुटिलता तथा जालसाजी के लिए उनकी आचार संहिता में कोई स्थान नहीं था। झूठी सन्धि उनके बस की बात नहीं थी। उन जैसी निराली स्पष्टवादिता, कुटिलता की साहसपूर्ण भर्त्सना की क्षमता, कथनी में आत्मिक शक्ति, नैतिक साहस, स्वभाव एवं विचारों की सरलता अन्यत्र कहाँ मिलेगी? वे मनसा वाचा कर्मणा पूर्णतया एक थे। किसी को अच्छा लगेगा या बुरा – इसकी चिन्ता किए बिना सदैव सत्यभाषण करते थे। हाँ, उनका सत्यभाषण किसी को दुखी करने के लिए नहीं अपितु हित की मंगल भावना से होता था। विचारों में जितनी दृढ़ता थी, उनकी अभिव्यक्ति में वे उतने ही सहज थे। उनकी वाणी के प्रभाव से यह स्पष्ट था कि महापुरुष का सामान्य वाक्य भी कितना प्रभावशाली और जोरदार होता है।[3] वे झूठी महत्त्वाकांक्षा तथा दम्भ से रहित थे। उन्होंने कभी सम्मान नहीं चाहा। सम्मान उनका पीछा करके स्वयं सम्मानित होता था। उनमें वे आन्तरिक आकर्षण तथा दिव्य शक्तियाँ विद्यमान थीं जिनके कारण उनका जीवन कृत्रिम महापुरुषों से स्पष्ट भिन्न दीख पड़ता है।

मुनिवर गुरुदत्त विचित्र व्यक्तित्व के स्वामी थे। वे शान्त स्वभाव, कर्मठ, मेधावी, प्रतिभाशाली, प्रगल्भ वेदवेत्ता एवं गम्भीर चिंतक थे। अदम्य

उत्साह की मूर्ति थे। साहस छोड़ना तो सीखा ही नहीं था। उनमें हर सम्भव कार्य करने की क्षमता थी। रातों जागकर कार्य कर सकते थे। थकना शब्द उनके लिए निरर्थक था। ग्रहणशक्ति आश्चर्यजनक थी। अल्प समय में ही कई-कई सौ पृष्ठ पढ़ जाते और गूढ़तम रहस्य प्रथम पाठ में ही समझ लेते थे। उनकी बौद्धिक क्षमताएँ अद्‌भुत थीं। कई विषयों के पण्डित थे। यद्यपि संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य पर उनका अधिकार अभी ऋषि दयानन्द सरस्वती सदृश तो नहीं था परन्तु यह बाढ़ के पानी की तरह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। हाँ, पश्चिमी विज्ञान का ज्ञान अतिरिक्त था। छह भाषाएँ – अंग्रेज़ी, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अरबी और फ़ारसी जानते थे। अंग्रेज़ी बहुत अच्छी लिखते थे। सुन्दर एवं उपयुक्त शब्द उनके लेखों में मोतियों की भाँति जड़े हुए हैं। पर उनकी महानता अच्छी अंग्रेज़ी लिखने में नहीं, अपितु कुछ और ही बातों में निहित है।

गुरुदत्त की दिनचर्या अनियमित थी। पढ़ना-लिखना, खाना-पीना, सोना-जागना, उठना-बैठना, खेलना-कूदना – कोई कार्य भी नियमबद्ध नहीं था। जब सोने की ठान लेते तो कई-कई दिन सोते ही रहते। केवल भोजनादि के लिए जागते और फिर समाधिस्थ हो जाते। यदि पढ़ना आरम्भ कर देते तो दो-दो तीन-तीन दिन लगातार पढ़ते ही रहते। थोड़ी देर के लिए भी आँख न झपकते। भ्रमण करने निकल पड़े तो मीलों चलते जाते; फिर तो ज्येष्ठ की दुपहरी में भी घूम रहे हैं। यदि घर में बैठने की सूझ गई तो कई-कई दिन तक भीतर ही बैठे रहते; फिर केवल कॉलेज आने-जाने के अतिरिक्त और कहीं जाने का नाम ही नहीं लेते थे। उन्हें स्वयं इस स्वभाव का आभास था, इसीलिए दैनिक पंजिका में प्राय: इसकी चर्चा है। वैसे वे नियमित रूप से तो डायरी भी नहीं लिखते थे।[4] पण्डित जी ने 2 जुलाई 1889 को डायरी में लिखा था, ''क्या मेरे लिए सुधरना सम्भव है? यदि ऐसा हो सकता है तो मैं किन परिस्थितियों में 'प्रवेश निषेध' जारी कर सकता हूँ?'' अत: अनियमितता का एक कारण अधिक लोगों का विचार-विमर्श के लिए आते रहना था। प्यासे का सरिता के पास जाना स्वाभाविक है परन्तु वह सरल स्वभाव परोपकारी जीव कभी किसी को 'नहीं' न कह सका, यद्यपि इसके लिए भारी मूल्य चुकाना पड़ा। परन्तु प्रत्येक कार्य में अनियमित होने का यही एक कारण हो – यह भी सम्भव नहीं। फिर ऐसा क्यों था – कहा नहीं जा सकता। इस गुत्थी को कोई मनोविज्ञान का पण्डित भी शायद ही सुलझा सके। पण्डित जी का अपने ऊपर संयम तो था। फिर क्या प्रत्येक कार्य करने की क्षमता ही

उन्हें अनेक कार्यों में उलझाकर अनियमित जीवन का राही तो नहीं बना देती थी? बस, वही अन्तर्यामी जानता है।

पण्डित जी दिल के बादशाह थे। धन की कभी चिन्ता नहीं की। कभी हिसाब-किताब नहीं रखा। किसी को दे दिया तो दे दिया, फिर मांगने का प्रश्न ही नहीं परन्तु यदि स्वयं किसी से उधार ले लेते तो लौटाए बिना चैन न पड़ती थी। वैसे बहुत ही गूढ़ मित्रों के सिवाय किसी से उधार नहीं लेते थे। उनके लिए धन लोक-व्यवहार चलाने के लिए साधन मात्र था। इसीलिए आवश्यकता से अधिक अर्थ संग्रह को पाप मानते थे। वे कहा करते थे : ''निर्वाह मात्र के लिए धर्मानुसार धन कमाना साहुकारी है, न कि पाप से अर्थसंग्रह करके विषयभोग करना।''[1ख] 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' के उपदेश को उन्होंने जीवन में उतारा था। वे केवल वाणी से नहीं, अपितु कर्म से समाजवादी थे। उनके पास जितना धन बच पाता, उसे वे परोपकार में लगा देते थे। पुस्तकें खरीदने तथा निर्धन विद्यार्थियों की सहायता में ही उनका अधिक धन व्यय होता था। स्वामी अच्युतानन्द ने लिखा है, ''पण्डित जी बड़े ही दानशील और धार्मिक कार्यों में धन व्यय करने वाले थे। राजकीय कॉलेज में दो सौ पचास रुपये मासिक वेतन पाते थे परन्तु अगले महीने की पहली तिथि से पूर्व ही यह रुपया सामाजिक कार्यों में व्यय कर देते थे।'' बैंक में उनकी कुछ भी जमा धन-राशि न थी। उनकी कुल सम्पत्ति थी – मुलतान में वही एक पुराना मकान, चन्द कपड़े, कुछ पुस्तकें, असंख्य मित्र एवं प्रशंसक। वे सरिता के जल को दोनों हाथों उंडेलते थे। उन्हें अपने लिए चाहिए ही क्या था? निजी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। एक नौकर के अतिरिक्त कभी दूसरा नहीं रखा। कितनी बार सारा कार्य अपने हाथ से ही निपटा लेते थे। प्रोफेसर बनकर भी उन्होंने सुख-सुविधा की सामग्री को नहीं बढ़ाया। सारा कार्य पूर्ववत् चलता रहा। लाहौर में किराये के जिस छोटे से मकान में एम.ए. में पढ़ते समय रहते थे, अन्त तक उसी में रहते रहे। हाँ, एक बार पिताजी बीमार होकर चिकित्सा के लिए लाहौर आ गए तब उस तंग मकान को दो मास के लिए अवश्य बदलना पड़ा। नहीं तो उसी में रहते पढ़े, उसी में रहते पढ़ाया, उसी में रहते ज्ञान-विज्ञान के क्षितिज को पार किया और ... और ... वहीं से उस अज्ञात स्थान की यात्रा पर चले गए।

वेशभूषा बहुत सादी थी। किसी विशेष पहरावे के दास नहीं थे। न उन्हें इस विषय में किन्हीं दीवारों में घिरा रहना पसन्द था। पहरावे में किसी जातीयता का विचार नहीं करते थे। उनके विचार से प्रत्येक व्यक्ति पहरावे

के लिए स्वतन्त्र है। व्यक्ति सुविधानुसार जैसा वस्त्र चाहे, पहन ले। बस, वह सादा, स्वच्छ और शालीन होना चाहिए। इसीलिए उन्हें जो मिल गया, वही पहन लिया। वैसे साधारण तथा बेढंगे वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। वास्तविकता यह थी कि वस्त्र उनके लिए आवश्यकता पूर्ति के साधन थे, सजावट के नहीं। दिखावा चाहे आन्तरिक हो या बाह्य, उन्हें पसन्द ही नहीं था। हीरे का मूल्य उसकी उस आन्तरिक चमक के कारण है जो प्रत्येक आवरण में से झलक पड़ती है। वे कहा करते थे, ''लोग क्या कहेंगे – इसकी चिन्ता मत करो। कोई भी व्यक्ति सकल संसार को प्रसन्न नहीं कर सकता।'' वे समझते थे कि जो नहीं जानते, वे जानते ही नहीं और जो जानते हैं, वे जानते ही हैं। फिर यह वस्त्रों का प्रदर्शन किसके लिए?

पण्डित जी पहले पायजामा पहनते थे। पैंट लाहौर आने के पश्चात् पहननी आरम्भ की थी। सम्भवत: इसमें उन्हें अधिक सुविधा और चुस्ती अनुभव हुई। यूँ जी में आया तो दीक्षान्त समारोह में पहनने वाला गाउन पहनकर ही घूमते रहते। वही पहनकर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा में चले जाते। विचित्र लीला थी उनकी।

लगता है गुरुदत्त अपने शरीर को किसी विशेष तपस्या के लिए तैयार कर रहे थे। इसीलिए कभी सर्दी में ठंडे कपड़े पहन लेते और गर्मी में गर्म। कभी दिन में नंगे पाँव घूमते और कभी रात को छाता ले लेते। वैसे बूट पहनते थे। लाहौर में रहते हुए शरद् ऋतु में प्राय: कई वर्ष तक लट्ठे के कपड़े पहनते रहे। लट्ठे की पतलून, लट्ठे का कुर्त्ता, लट्ठे की वास्कट तथा कोट और साधारण सी टोपी – बस यह शरद् ऋतु का पहरावा था। जब लोग गर्मी से झुलस रहे होते थे तब कश्मीर का कोट और वास्कट पहन लेते थे तथा रात को ऊनी कम्बल ओढ़ा करते थे। चाहे कोई ऋतु हो, यात्रा में कम्बल साथ रखते थे।

सोते समय कुछ बिछा लिया तो बिछा लिया, नहीं तो यूँ ही सोए रहे। एक बार मास्टर आत्माराम अमृतसरी उन्हें प्रात:कालीन सैर के लिए लेने आए। पण्डित जी छत पर एक टूटी हुई चारपाई पर बिना दरी, बिछौने तथा सिरहाने के सो रहे थे। मास्टर जी ने उन्हें जगाया तथा पूछने लगे, ''पण्डित जी, नंगी खाट है और वह भी टूटी हुई, इस पर आपको कैसे नींद आ गई?'' हंसकर बोले, ''नंगी खाट निद्रा में बाधक कैसे हो सकती है? बेचारे गरीब इन्हीं खाटों पर सोकर अमीरों से अच्छी नींद का आनन्द लूटते हैं।''[6]

वैसे उन दिनों मुलतान का बना हुआ इकहरा कपड़ा साधारण दरी के काम में लाया जाता था। गुरुदत्त उसे ही बिछाते थे। ओढ़ने के लिए साधारण चादर थी। कितनी सर्दी हो, वे इसी में लिपट कर सो जाते थे। कई बार एक कम्बल में ही सोते रहते। लाला लाजपतराय ने वर्षों यह दृश्य स्वयं देखा था। वे लिखते हैं, ''एक-दो बार जब मुझे उनके पास सोने का अवसर मिला तो मुझे कम्बल या इस प्रकार का अन्य वस्त्र न होने के कारण सारी रात जागना पड़ा, जबकि दूसरी ओर वे गाढ़ी नींद सोते रहे तथा सर्दी लगने का कोई चिह्न प्रकट नहीं किया।''[7]

आर्यसमाज जालन्धर का प्रथम वार्षिकोत्सव था। दिसम्बर का महीना। कड़कती शीत। मूसलाधार वर्षा ने शीत की तीव्रता और भी असह्य बना दी थी। सायंकाल के समय पण्डित गुरुदत्त, महात्मा मुन्शीराम व मास्टर भक्तराम भ्रमणार्थ निकल पड़े। मुन्शीराम ने कई गर्म वस्त्र पहन रखे थे। ओवर कोट भी पहना हुआ था परन्तु गुरुदत्त के पास एक भी गर्म वस्त्र नहीं था। वही साधारण लट्ठे का कुर्त्ता, डबल जीन की बास्कट और कोट। भक्तराम ने पण्डित जी से गर्म वस्त्र पहनने का अनुरोध किया। तब भोले बादशाह ने छाता खोलकर ले लिया और बोले, ''ओस से सर्दी पड़ेगी। लो, अब इससे बचाव हो जाएगा।'' मुन्शीराम ने सेवक को बुलाकर उनके लिए घर से एक धुस्सा मंगवाना चाहा। पण्डित जी ने झटपट मुन्शीराम का हाथ उनकी जेब में से निकालकर अपने हाथों में ले लिया और बोले, ''बताओ, धुस्सा किसे चाहिए?'' सच, गुरुदत्त के हाथ अधिक गर्म थे। इसके पश्चात् महात्मा मुन्शीराम ने भी अनावश्यक वस्त्रों का बोझ ढोना बंद कर दिया।

यह ठीक है कि व्यर्थ का शृंगार तथा अनावश्यक वस्त्र पहने फिरते रहने का कोई लाभ नहीं परन्तु मुनि गुरुदत्त के व्यवहार को समझना भी कठिन है क्योंकि इसका ही परिणाम था कि वज्र समान शरीर यौवनकाल में ही झटका खा गया। सम्भवत: इसीलिए अन्तिम दो तीन वर्षों में उन्होंने इस स्वभाव का परित्याग कर दिया था। गुरुदत्त ने अपने शरीर से कठोर व्यवहार किया। उन्हें तो अपनी चिन्ता थी ही नहीं परन्तु आर्यजन भी उस हीरे को सम्भाल न कर पाए।

पण्डित जी की स्वाध्याय में बहुत रुचि थी। पुस्तकों पर बहुत व्यय करते थे। ऐसा लगता था कि मानो वे पुस्तकों के लिए ही कमाते हों। परन्तु स्वाध्याय के पश्चात् केवल संस्कृत, ऋषि दयानन्द तथा एन्ड्रयू जैक्सन डेविस के ग्रन्थों को ही सम्भालकर रखते थे। उन्हें 'पवित्र पुस्तकालय' कहा करते

थे। उनकी एक अलमारी में सब से उपर के खाने में चारों वेद रहते थे। फिर नीचे के खानों में महर्षि दयानन्द कृत वेदभाष्य रखा होता था। दूरसरी अलमारी में सबसे उपर के खाने में सत्यार्थप्रकाश और नीचले खानों में एन्ड्रयू जैक्सन डेविस के अंग्रेजी ग्रन्थ होते थे। शेष अलमारियों में आर्ष ग्रन्थ रखे जाते थे। उनके अतिरिक्त मूल्यवान से मूल्यवान पुस्तक को भी पढ़कर फेंक देते थे। एक बार उन्होंने उर्दू और फ़ारसी के सब ग्रन्थ दूसरों को दे दिए, केवल एक 'दीवान-ए-हाफ़िज़' रहने दिया। जब उनसे पूछा गया कि महात्मा जी इस पुस्तक में क्या विशेष गुण है जो आपने इसे अपने पास रखा, तो उत्तर दिया इसमें एक शेर (कवित) ऐसा हैं जो मानों योगदर्शन के आधे सूत्र का सार हो। इसलिए मैं यह ग्रन्थ किसी को नहीं देना चाहता। वह शेर था -

असइशे दो गेती, तफ़सीरे ईं दो हर्फस्त्
बादोस्तान मुरव्वत, बा दुश्मना मदारा

अर्थात् - 'दोनों दुनिया (गेती) में जीवन में संतुष्टि के लिए दो शब्द याद रखने चाहिएं। एक बादोस्तान मुरव्वत (मित्रों के साथ मैत्री, करुणा व मुदिता का व्यवहार) और दूसरा बा दुश्मना मदारा (अन्यों के साथ मेल-मिलाप, समाधान व समन्वय)।' निस्संदेह इस नियम का पालन करने वाला व्यक्ति अजात शत्रु होता है। यह उनका जीवन दर्शन था। इसीलिए वह सदैव कहा करते थे कि आर्यसमाज मन्दिर को मात्र क्लर्कों का मन्दिर अथवा मुंशीखाना न बनाओ, नहीं तो आर्यजीवन सम्पादन का अनुराग जाता रहेगा।

गुरुदत्त विद्यार्थी ने सत्यार्थप्रकाश को अठारह बार पढ़ा था।[8] वे कहा करते थे कि सत्यार्थप्रकाश की प्रत्येक पुनरावृत्ति पर मुझे सदैव नई बातों का बोध होता है। एक बार उन्होंने यहाँ तक कहा, ''सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति चन्द आने में मिल जाती है परन्तु यदि इसका मूल्य अधिक होता तो मैं अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर भी इसे खरीदता। मुझे यह ग्रन्थ इतना प्रिय है कि इसे खरीदने के लिए गले में झोली डालकर चन्दा मांगने के लिए भी तैयार हूँ।'' पण्डित जी डेविस महोदय के ग्रन्थ भी चाव से पढ़ते थे। हिन्दी-संस्कृत न जानने वालों को डेविस की पुस्तकें पढ़ने के लिए कहा करते थे। उनके चित्र के साथ गुरुदत्त की आकृति कुछ मिलती थी। बाल सुलभ स्वभाव गुरुदत्त इस बात से बड़े प्रसन्न होते। डेविस के लिए उनके हृदय में काफी मान था। वे उसे अपना चाचा कहा करते थे परन्तु ऋषि के दर्शन कर लेने के पश्चात् उनके प्रति श्रद्धा सब सीमाएँ पार कर चुकी थी। गुरुदत्त ऋषिवर को अपना पिता मानते थे।

इसमें अतिशयोक्ति भी क्या? यदि लाला रामकृष्ण ने उसे भौतिक जन्म दिया, तो आध्यात्मिक जन्म दिया ऋषिवर ने। जगद्गुरु ने गुरुदत्त को आर्यसमाज को देकर उनका 'गुरुदत्त' नाम सार्थक बना दिया।

पण्डित जी पुराणों और अश्लील तथा कामवासना भड़काने वाले उपन्यासों के पढ़ने का निषेध किया करते थे। स्वामी आत्मानन्द को पुराण पढ़ते देखकर उन्होंने कहा था: ''आप संन्यासी हैं। वेद का नियमित स्वाध्याय किया करें। पुराणों पर समय और शक्ति नष्ट न करें। इसका परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा। आस्तिकों को वेद का ही स्वाध्याय करना चाहिए।'' ऐसा ही हुआ। बाद में स्वामी जी नास्तिक हो गए।[१]

पण्डित जी का भोजन सादा तथा विशुद्ध शाकाहारी होता था। मांसभक्षण के प्रबल विरोधी थे। लाल मिर्च का सेवन भी नहीं करते थे। हाँ, शाक उन्हें बहुत प्रिय था। उनके भोजन में जो दाल-सब्जियाँ व अन्य पदार्थ परोसे जाते थे, उन्हें एक-एक करके क्रमशः खाते थे। पानी भोजन के बीच में नहीं पीते थे। मन आया तो एक दो चपाती खाकर बस कर दी; परन्तु खाने लगे तो दो-तीन पाव आटे पर हाथ साफ कर दिया। शराब, तम्बाकू आदि नशीले पदार्थों से उन्हें इतनी घृणा थी कि कोई नशा कभी न खाया, न पीया। भोजन की विशेष चिन्ता न करते थे। जिन दिनों कॉलेज में पढ़ाते थे और पिता जी की बीमारी के कारण सेवक उनके पास भेज दिया था तब दो महीने केवल दूध और बिस्कुट पर काट दिए। अपने वस्त्र स्वयं धोते रहे। हालत फकीरों की सी थी।

पण्डित जी अद्भुत वक्ता थे। उनके मतानुसार सत्य भाषण का ही दूसरा नाम अद्भुत वक्तृता है। उनकी वाणी में अकथनीय प्रवाह था, ऐसा प्रवाह जो भाव विभोर श्रोताओं को अपने साथ बहा ले जाता था। बड़े-बड़े मौलवी एवं पादरी उनका भाषण सुनकर स्तब्ध रह जाते थे। आर्य जनता वर्ष भर उस घड़ी की प्रतीक्षा करती थी जब उन्हें पुनः उनका भाषण सुनने का सौभाग्य मिलेगा। अनेक जन उत्सव में केवल उनका भाषण ही सुनने आते थे। व्याख्यान के बाद धन एवं आभूषणों की वर्षा होती थी।

व्यायाम में उन्हें बाल्यकाल से ही रुचि रही। वे जिम्नैस्टिक, क्रिकेट, फुटबाल आदि खेलों में दक्ष थे। पण्डित जी गवर्नमेंट कॉलेज में क्रिकेट तथा फुटबाल टीम के सदस्य थे। उन्हें शतरंज का भी कुछ दिन शौक रहा। स्नान करने का बड़ा ध्यान रखते थे। चाहे कोई ऋतु हो, प्रतिदिन दो बार ठण्डे जल से स्नान अवश्य कर लेते थे। बचपन में उनका शरीर बड़ा हृष्ट पुष्ट था।

परन्तु लगातार प्राकृतिक नियम तोड़े गए। उसका ही दण्ड भुगतना पड़ा। अन्यथा अभी आयु ही क्या थी? केवल 26 वर्ष!

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. आत्माराम अमृतसरी, ब्रह्मयज्ञ, (क) पृष्ठ 147, (ख) पृष्ठ 153
2. सद्धर्म प्रचारक, 30 नवम्बर 1889, पृष्ठ 2
3. इस प्रसंग में गुरुदत्त का लाजपतराय के नाम लिखा पत्र पढ़ने योग्य है (पत्रांश के लिए देखिए परिशिष्ट ख)।
4. वैसे पण्डित गुरुदत्त डायरी लिखने के पक्षधर थे। वे कहा करते थे कि प्रत्येक नवयुवक को चाहिए कि वह अपनी कमजोरियाँ अपनी डायरी में लिखे और उनसे बचने का प्रयत्न करे। प्रतिदिन अपनी प्रत्येक भूल और कमजोरी दूर करने के विषय में सोचे। अगर युवक इस बात से डरता हो कि डायरी कोई देख लेगा, तो गुप्त भाषा में वह इस तरह लिखे कि स्वयं तो समझ सके परन्तु दूसरा कोई न समझ सके (द्रष्टव्य: जीवन चरित्र पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (उर्दू), संस्मरण गणपतराय, पृष्ठ 27)।
5. स्वामी श्रद्धानन्द ने बहुत दर्द भरे शब्दों में लिखा है – "हा! गुरुदत्त के मूर्ख मित्रो तथा अन्ध श्रद्धालु भक्तो! यदि तुम जानते कि अपने पूज्य पण्डित जी को दो-दो बजे रात तक पठन-पाठन और शंका-समाधान के लिए जगाकर तुम उन्हें मौत के मुँह में धकेल रहे हो, तो तुम्हें कितना अनुताप होता?" (द्रष्टव्य: कल्याण मार्ग का पथिक, पृष्ठ 166)
8. आर्य मुसाफ़िर, फरवरी 1905, पृष्ठ 112-13; गुरुदत्त कहा करते थे कि प्रात:काल भ्रमण के पश्चात् पाँच-सात मिनट लेट जाना चाहिए, इससे पेट साफ होने में सहायता मिलती है। यदि भ्रमण के समय एक संतरा खा लिया जाए तो और भी हितकर है।
7. लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 92
8. जीवनदास (सम्पादक), द वर्क्स ऑफ़ पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम.ए., पृष्ठ 23
9. स्वामी आत्मानन्द ने 1890 में आर्यसमाज छोड़ दी थी। उससे पूर्व लगभग चार वर्ष उन्होंने कई आर्यसमाजें स्थापित की थीं।

सूर्यास्त

प्रकृति के नियमों को तोड़ना सस्ता सौदा नहीं। यहाँ विद्वान् या मूर्ख, बलवान् या निर्बल, युवक या वृद्ध नहीं देखा जाता। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल मिल जाता है। अत: वही हुआ जिसका भय था। गुरुदत्त जून 1889 में कुछ बीमार रहने लगे। परन्तु उन्होंने बीमारी की चिन्ता न की। फॉसफोडीन[1] लेते रहे तथा कार्य करते रहे। जुलाई के अन्तिम दिनों में उन्हें शारीरिक शक्ति क्षीण होती अनुभव होने लगी। थोड़ा चलने पर थकावट हो जाती थी। रंग पीला हो गया। अगस्त में सर्दी और जुकाम ने आ दबाया। साथ ही खांसी और ज्वर भी हो गया। इसकी चिन्ता किए बिना पण्डित जी पहली सितम्बर को एक संस्कृत पुस्तकालय की खोज में धूनी साहब अथवा किलाधर जाने के लिए वजीराबाद गए। निश्चित नहीं कहा जा सकता कि वे कहाँ तक पहुँचे और उन्हें कोई पुस्तकालय मिला भी या नहीं।

जब ज्वर तथा खांसी का वेग सितम्बर के प्रथम सप्ताह में भी बना रहा तो मित्रों के आग्रह पर जलवायु परिवर्तन द्वारा स्वास्थ्य सुधार निमित्त मरी पर्वत पर जाने का निश्चय हुआ। जिस दिन प्रस्थान करने का विचार था उससे एक दिन पूर्व संयोगवश लाला लाजपतराय लाहौर आ गए। पण्डित जी ने उन्हें साथ चलने के लिए कहा। लाला जी मान गए। अगले दिन दोनों चल पड़े। वहाँ सरदार उमरावसिंह मजीठिया के मकान पर ठहरने का प्रबन्ध था। सरदार जी पण्डित जी के श्रद्धालु एवं भक्त थे। अत: उन्हें वहाँ पूरी सुख-सुविधा प्राप्त हुई। लाला लाजपतराय वहाँ एक सप्ताह रहे। कभी-कभी दोनों मित्र बाहर घूमने चले जाते थे। समय आनन्द से बीतने लगा।

सरदार जी ने बहुत सेवा की परन्तु रोग ने घटने का नाम ही न लिया। बाल्यकाल में जो शरीर सुगठित एवं बलिष्ठ था, वही अधिक कार्य तथा तपेदिक जैसे भयानक रोग के कारण पिंजर बनकर रह गया। जीवन शक्ति समाप्त हुई जा रही थी। मित्र निराश हो गए थे परन्तु पण्डित जी के चेहरे पर वही पहले की सी कान्ति और शान्ति विराज रही थी। वही सागर की सी गम्भीरता पूर्ववत् बनी हुई थी। प्रभुभक्त ने न कभी चिन्ता व्यक्त की, न आह भरी। यहाँ रहते हुए भी स्वाध्याय चलता रहा। इन दिनों सुश्रुत, चरक तथा मनुस्मृति का विशेष अध्ययन किया।

आर्यसमाज पेशावर का वार्षिकोत्सव निकट आ रहा था। यह आर्यसमाज

पण्डित जी को बहुत प्रिय था।[2] बस, उत्सव पर जाने के लिए उद्यत हो गए। मित्रों को अनिष्ट होने की आशंका थी। उन्होंने बहुत रोका, बहुत समझाया- ''पण्डित जी! आर्यसमाज की सेवा करने के लिए समस्त आयु पड़ी है। इन दिनों विश्राम कर लो। यह विश्राम भी आर्यसमाज की ही सेवा है।'' उन्होंने न मानना था, न माने। माने भी कैसे? ऐसे कर्मवीर के लिए विश्राम का क्या अर्थ? बड़ी-बड़ी बाधाएँ मार्ग न रोक सकीं, तो क्या यह बीमारी रोकेगी? धर्म प्रचार के लिए सबसे बड़ा बलिदान क्या देना पड़ेगा? बस, यही भौतिक शरीर। इसके लिए तो वे सदैव तैयार रहे हैं। वे बहुत पहले प्रकाश पुञ्ज के समक्ष प्रतिज्ञा कर चुके थे – ''हे देव, जब तक इस दीप में किञ्चित् मात्र भी बत्ती तथा तेल रहेगा, मैं जलता रहूँगा तथा अन्धकार से टक्कर लेता रहूँगा।'' आज प्रतिज्ञा पूरी करने का अवसर आया है। वचन का धनी प्रण पूरा न करे – यह कैसे सम्भव है? जीवन दीप अभी बुझा नहीं है। वह कितने ही दीपक प्रज्वलित करने की सामर्थ्य रखता है। भुवनभास्कर भी तो छिपते-छिपते ही उसे प्रकाश देकर गए थे। महान् गुरु का महान् शिष्य उसी राह पर चल रहा है। काया क्षीण हो गई तो क्या? आत्मा पहले से अधिक बलवान है। इसीलिए जुकाम, खांसी, ज्वर सबका भार उठाए मरी से पेशावर की ओर चल दिए।

गुरुदत्त उत्सव से दो दिन पूर्व पेशावर पहुँच गए। वहाँ 3 अक्तूबर को दोपहर बाद वेद विषय पर बोलते हुए ज्ञान की सरिता प्रवाहित कर दी। रुग्णावस्था के कारण आवाज ऊँची न थी परन्तु व्याख्यान बहुत सुन्दर था।[3] उन्होंने मैक्समूलर आदि के अनुवादों का खण्डन कर ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य को सही सिद्ध किया। जनता मन्त्रमुग्ध होकर सुन रही थी। भाग्यशाली थे वे लोग जिन्हें अमृतपान का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गुरुदत्त को लगा कि अभी दीपक में तेल की कुछ बूँदें और शेष हैं। बस, उत्सव के पश्चात् पाँच दिनों के लिए ठहर गए तथा 'पुनर्जन्म' पर दो तीन भाषण दिए।[4क] पुनः जन्म लेकर ऋषि के कार्य को पूरा करने की अभिलाषा रखने वाले साधक ने विषय भी खूब चुना। मानो जनता को अपने बारे में विश्वास दिला रहे हों कि 'कार्य अधूरा रह गया है तो कोई बात नहीं। दूसरा जन्म भी मिलेगा ही। उसमें इसे पूरा कर दूँगा।' परन्तु प्यारे गुरुदत्त! जनता को कहाँ पता था कि अब पुनः आपके दर्शन नहीं होंगे और भविष्य में यह ज्ञान गंगा नहीं बहेगी!

अब जीवन शक्ति समाप्त हो चुकी थी। केवल अस्थिपिंजर शेष बचा था। उसे उठाए पेशावर से सीधे लाहौर आ गए। वहाँ आकर शैय्या से ऐसे लगे कि फिर ... उठने का नाम नहीं लिया।

लाहौर से बाहर के आर्यों को पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी की बीमारी का दु:खद समाचार सर्वप्रथम शौकतराय सदस्य आर्यसमाज लाहौर के सद्धर्म प्रचारक में 19 अक्तूबर को छपे पत्र[4ख] तथा उस पर सम्पादकीय टिप्पणी[4ग] से मिला। पण्डित गुरुदत्त से पूछे बिना लिखे इस पत्र में शौकतराय ने जीवनदास, ज्वालासहाय, रलाराम, मुन्शीराम, नारायणदास, चेतनानन्द आदि पण्डित जी के मित्रों से इधर ध्यान देने का आग्रह किया था। सम्पादक महोदय ने भी चिन्ता व्यक्त करते हुए लिखा था – ''सच पूछिए तो अपनी पदार्थ विद्या और वेद विद्या के अलावा पण्डित जी को दुनिया का कुछ तजुरबा नहीं और इसीलिए मुमकिन है कि बेग़रज़ी की वजह अपनी बीमारी की खबर न लें।''[4ग]

सचमुच पण्डित जी को अपनी चिन्ता न थी। उन्हें कोई चिन्ता थी तो इस संसार को बेहतर बनाने की। इतनी घोर बीमारी में भी उन्हें अपना लक्ष्य ही दिखाई देता था। इस विषय में वे इतने आशावादी थे कि उन्हीं दिनों (25 अक्तूबर 1889) आत्माराम अमृतसरी को उन्होंने लिखा था: ''... जब तक शरीर में एक भी श्वास शेष है, तब तक निराश होने का कोई कारण नहीं। ... मेरी सम्मति में एक क्षण, जिसमें पवित्र विचार पैदा हो, सैंकड़ों प्रकार के प्रमाद व पापों को दूर रखने की क्षमता रखता है। हम निराश क्यों हों? भोगरूपी संसार को हम जैसा चाहें, बनाते हैं। आओ, हम संसार को अच्छा व बढ़िया बनाने का संकल्प करें।''[5]

नवम्बर में आर्यसमाज लाहौर का उत्सव था। बहुत रुग्ण होने के कारण पण्डित जी उत्सव में भाषण न दे सके। उत्सव की शोभा आधी रह गई। लोग इकट्ठे हुए परन्तु वेदामृत पिलाने वाला न था। प्रतिवर्ष की भाँति इस अवसर पर डी.ए.वी. कॉलेज प्रबन्धक कमेटी की बैठक होनी थी। इसमें संस्कृत पाठ्यक्रम पर विचार किया जाना था। पण्डित जी के शरीर में हिलने-डुलने की शक्ति नहीं थी, फिर भी विषय की महत्ता के कारण वे अधिवेशन में भाग लेने के लिए पहुँच गए। अभी बैठक आरम्भ होने में कुछ समय शेष था। निर्बलता के कारण बैठा नहीं जा रहा था। इसलिए साधु स्वभाव गुरुदत्त एक बैंच पर लेट गया। फिर अधिवेशन में कॉलेज में अष्टाध्यायी पढ़ाने का जमकर पक्ष लिया। परिणामस्वरूप इस वर्ष से कॉलेज के पाठ्यक्रम में आर्षग्रन्थों की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

बीमारी के कारण सभी चिन्तित थे। गुरुदत्त आर्य जगत् की आशाओं के केन्द्र थे। उपवन की शोभा वही पुष्प था। इसीलिए भक्त रैमलदास, राय

नारायणदास, जयचन्द्र, साईंदास, मुन्शीराम आदि सभी आर्य पुरुष सेवा में जुट गए। इष्ट मित्रों ने सेवा कर अपने को धन्य किया। किसी प्रकार पण्डित जी के प्राण बच जाएँ, सबको यही एक चिन्ता थी। गैर-आर्यसमाजियों की सहानुभूति भी कम नहीं थी। उनके रुग्णावस्था के समाचार उन पत्रों में भी प्रकाशित होते रहे जिनसे आर्यसमाज का दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। वास्तव में गुरुदत्त सभी का प्यारा था, सभी का सहारा था। उससे केवल आर्यसमाज की नहीं अपितु समूचे मानव समाज की शोभा थी।

लाहौर उत्सव के पश्चात् स्वास्थ्य कुछ अधिक बिगड़ गया। अत: उन्हें चिकित्सा के लिए गुजरांवाला के प्रसिद्ध सिविल सर्जन डॉक्टर फ़तहचन्द के पास ले गए। वहाँ पण्डित जी के भक्त रामनारायणदास, सब-जज भी रहते थे। डॉक्टर जी की कोठी पर चिकित्सा आरम्भ हुई। उन्होंने पूरी लग्न, श्रद्धा, योग्यता एवं परिश्रम से चिकित्सा की। भोजन तक स्वयं बनाकर खिलाते रहे। सेवा-शुश्रूषा में कोई कमी न रही परन्तु आराम न होना था, न हुआ। तपेदिक समझकर चिकित्सा होती रही। पण्डित जी पहले से भी अधिक कमजोर हो गए। केवल शौच के लिए ही दिन में एक बार चारपाई से उठते थे। रोग का भली प्रकार निदान ही न हो सका, उपचार तो दूर रहा।

तब मैडीकल कॉलेज लाहौर के डॉक्टर मलरोनी को बुलाया गया। वे लाहौर से चलकर 14 दिसम्बर को डॉक्टर फ़तहचन्द के मकान पर पहुँचे। डॉक्टर महोदय पण्डित जी को देखकर विस्मित रह गए। बोले - ''मैंने इतना साहसी तथा परिश्रमी व्यक्ति पहले कभी नहीं देखा।'' उनका विचार था कि गुरुदत्त को क्षयरोग नहीं है। अपितु मस्तिष्क के अधिक कार्य करने से यह हालत हो गई है।[6क] अत: उन्हें किसी ऐसे स्थान पर ले जाया जाए जहाँ मस्तिष्क को पूरा आराम मिले। डॉक्टर मलरोनी की यह सलाह अमूल्य थी। गुरुदत्त ने न स्वयं कभी आराम किया, न किसी ने उन्हें करने ही दिया। यही कार्य अधिकता बीमारी का कारण बनी। बात 1881 ई. की है। पण्डित जी ने क्रिकेट खेलते हुए केदारनाथ थापर से कहा था – ''मेरा मस्तिष्क प्रत्येक समय काम करता रहता है। मैं समझता हूँ कि यह मानसिक क्रियाशीलता शीघ्र मेरी मृत्यु का कारण बनेगी।''[7] खेद! महा खेद!! इतना होने पर भी किसी ने डॉक्टर मलरोनी के इस सुझाव की ओर ध्यान न दिया। आर्य पुरुष अपने ढंग से सेवा करने में जुटे रहे।

डॉक्टर मलरोनी तथा डॉक्टर फ़तहचन्द मिलकर ईलाज करने लगे। पण्डित जी का लोगों से मिलना तथा बात करना बंद कर दिया गया ताकि वे

चुपचाप लेटे रहें अथवा सोए रहें। लेकिन हालत नाजुक हो गई और बुखार फिर बढ़ गया। लाहौर से एक वैद्य को गुजरांवाला भेजा गया।[6ख] डॉक्टरों तथा हकीमों में मतभेद रहा। डॉक्टर रहीम खान आनरेरी सर्जन तपेदिक मानते थे परन्तु डॉक्टर मलरोनी नहीं।

गुजरांवाला में पण्डित जी को आराम नहीं हो रहा था। अत: जनवरी 1890 में उन्हें वापिस लाहौर लाया गया। एक साफ सुथरा बंगला किराए पर ले लिया गया और उन्हें वहाँ ठहराया गया। तब लाला साईंदास ने वैद्य नारायणदास द्वारा चिकित्सा आरम्भ करवाई। बाहर के यूनानी वैद्यों की सेवाओं का भी लाभ उठाया गया परन्तु सब व्यर्थ रहा। इतने में पण्डित जी के परिवार के लोग लाहौर पहुँच गए और वे पण्डित जी को उनके पहले मकान में ले गए। भक्त रैमलदास, जयचन्द आदि सभी लोग सेवा में जुटे रहे। महात्मा मुन्शीराम प्रति सप्ताह लाहौर आते रहे। जालन्धर के प्रसिद्ध हकीम मौलवी गुलाम रसूल लाहौर बुलाए गए। उनकी राय में भी तपेदिक नहीं था[6ग] परन्तु कुछ आराम न आया। खांसी व कमजोरी उसी तरह बनी रही। दर्द शुरू हो गया।

जालन्धर के हकीम अली शेर बड़े प्रसिद्ध थे। महात्मा मुन्शीराम ने 17 फरवरी सोमवार को उन्हें लाहौर भेजा। उन्होंने चिकित्सा शुरू की। हकीम जी एक छोटी-सी पुड़िया शरबत और अर्क के साथ देते थे। उनकी दवाई ने जादू का असर किया। चार ही दिन में कमरे में टहलने के योग्य हो गए। बुखार उतर गया, खांसी बहुत कम रह गई। फिर क्या था! सभी मित्र आशावान् हो गए। सर्वत्र हर्ष व्याप्त हो गया।[8] काश! यह वास्तविकता होती। यह तो बुझते दीपक की टिमटिमाहट मात्र थी। स्थायी प्रकाश न था। शीघ्र ही आशा निराशा में बदल गई और रोग ने उन्हें ऐसा दबाया कि फिर उसके पंजे से छूट न सके।

इसके बाद पण्डित जनार्दन ने चिकित्सा की। जब पूर्ण निराशा हो गई तो अंग्रेज़ी दवाई दी जाने लगी। इसी ऊहापोह में तीन मास निकल गए। आधा मार्च बीत चुका था। अंग्रेज़ी, देसी, यूनानी, आयुर्वेदिक – सभी प्रकार की चिकित्सा की गई परन्तु रोग ने घटने का नाम नहीं लिया। गुरुदत्त को औषधियों की अपेक्षा योग पर अधिक विश्वास था। वे कहा करते थे – ''यदि मैं योगियों के साथ चला जाता तो नि:सन्देह बच जाता।'' प्रार्थनाएँ एवं शुभकामनाएँ भी उस युवक को बचाने में सफल न हो पाईं। सफलता मिले कैसे? रोग का उपचार है, मृत्यु का नहीं। विधाता का विधान अटल है। उसे कोई तोड़ नहीं पाया। यहाँ ऋषि, मुनि, योगी, विद्वान्, राजा, रंक सभी पराजित

हुए हैं। परन्तु ऐसे अवसर पर जहाँ साधारण जन रोते और पछताते हैं, वहाँ कोई-कोई पुण्यात्मा प्रसन्नतापूर्वक विधान के समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है। उसकी पराजय भी विजय है। गुरुदत्त सच्चे ईश्वरविश्वासी तथा योगी थे। इसीलिए वे मृत्यु से कभी घबराए नहीं। वे उन दिनों मृत्यु के विषय में एक भाषण देना चाहते थे ताकि जनता को निजी अनुभव के आधार पर समझा सकें कि मृत्यु से भयभीत होना व्यर्थ है। वस्तुतः मृत्यु इतने समय से उनका पीछा कर रही थी परन्तु वह धीर गम्भीर नरसिंह अपनी सहज चाल से चलता रहा। किसी कार्य में भी बाधा नहीं पड़ने दी। उन्हें बुखार आता, खांसी उठती या मृत्यु का कोई और दूत आकर दरवाजा खटखटाता तो वे सब कुछ चुपचाप सह लेते। किसी को कष्ट न देते।

महामना पण्डित गुरुदत्त साधारण व्यक्ति नहीं थे। उनके जीवन का एक लक्ष्य था, हेतु था। ऋषि के अन्तिम दर्शन ने उनके लिए मार्ग निश्चित कर दिया था। गुरु के पवित्र कार्य को शिष्य पूरा करना चाहता था। इसीलिए वे युवावस्था में ही एकदम धीर गम्भीर हो गए थे। ऋषि के कार्य को करने के लिए उन सदृश बनना आवश्यक था। इस कारण अपनी समस्त न्यूनताओं को समाप्त कर अविलम्ब ऋषि समान बनने की इच्छा थी। यह उनके जीवन का रहस्य था। सारे प्रयत्न इसीलिए किए गए। इसीलिए योगाभ्यास किया, इसीलिए वेदाध्ययन, इसी के लिए धर्म प्रचार किया और इसी के लिए आत्मसमर्पण। जब देखा कि लक्ष्य और तैयारी के बीच खाई चौड़ी है, यह पाटी न जा सकेगी, इस जीवन में इस खाई को लाँघना कठिन है, तो नया शरीर लेकर अधिक शक्ति तथा नई तैयारी के साथ इस कार्य में जुट जाने के लिए सहर्ष अपना जीवन यमराज को अर्पित कर दिया। इस लक्ष्य की बलिवेदी पर अपनी आहुति देकर वे 'धर्मवीर' बन गए, अमर शहीद हो गए। शहीद शब्द का प्रचलित अर्थ भले कुछ भी हो, वे सही अर्थों में शहीद थे। जीना चाहते तो अभी और जी सकते थे परन्तु धर्म धुन ने उन्हें जीने न दिया। उन्होंने अपना जीवन ऋषि की राह पर स्वेच्छा से न्योछावर कर दिया।

उनके जीवन के आदर्श के विषय में यह कोई कपोल कल्पना नहीं है अपितु घटना-चक्र से स्पष्ट है। गुरुदत्त ने स्वयं इसे स्वीकार किया है। पण्डित जी से पूछा गया, ''आप ऋषि का जीवन-चरित लिखना चाहते थे, वह जो सामग्री का चयन हो रहा था, कहाँ है?'' अहा, क्या प्यारा उत्तर दिया। बोले – ''ऋषि का जीवन कलम से नहीं, स्याही से नहीं लिख रहा, कागज़ पर नहीं लिख रहा। अपने प्राणों से, अपने रक्त से हृदय पर लिख रहा

हूँ। शरीर ने साथ नहीं दिया। मैं इस जीवन में दयानन्द-सा न बन पाया। इसलिए मैं यह शरीर छोड़ रहा हूँ ताकि अगली बार इस कार्यसिद्धि के लिए आत्मा को अधिक उपयुक्त शरीर मिले।'' जिन दिनों मुनिवर जलवायु परिवर्तन के लिए मंसूरी गए हुए थे, तब इसी विश्वास से भरा एक पत्र पण्डित रामभजदत्त को लिखा। उसमें अंकित थे ये स्वर्णिम शब्द – ''इफ आई डाई, आई विल गैट ए बैटर शरीर''– ''यदि मैं मरूँगा, तो मुझे इससे उत्तम शरीर मिलेगा।'' 1889 की शीत ऋतु थी। मास्टर आत्माराम अमृतसरी और लाला जगन्नाथ दर्शनों के लिए उपस्थित हुए। बातचीत होती रही। उन्होंने पूछा – ''पण्डित जी, आप प्रेम तथा विद्या की मूर्ति हो। फिर भी न जाने यह भयंकर रोग आपको कैसे लग गया।'' यह सुनकर पण्डित जी मुस्करा दिए और बोले – ''क्योंकि ऋषि दयानन्द की महान् विद्या और बल मेरी इस मलिन बुद्धि और तुच्छ शरीर में नहीं आ सकती थी, इसलिए प्रभु मुझे इससे उत्तम बुद्धि तथा उत्तम शरीर देने का उपाय कर रहा है ताकि मैं अगले जन्म में अपनी इच्छा पूरी कर सकूँ।''[9] कितना विश्वास था उन्हें! अधिक से अधिक दु:ख में भी उफ़ न की। बस, ईश्वर प्रार्थना करते रहते । जब उनके स्वास्थ्य के बारे पूछा जाता तो यही कहते – ''खांसी आती है।'' बीमारी के दिनों में मलिक ज्वालासहाय ने पूछा कि आपको कष्ट तो नहीं होता। उत्तर दिया – ''मलिक जी! जब यह विश्वास हो गया कि आत्मा अमर है तो कष्ट कैसा! कष्ट तो उनके लिए है जो आत्मा को अमर नहीं मानते।''

इस विश्वास के कारण वे रुग्णावस्था में भी विचलित नहीं हुए। प्राणों का मोह बड़े बड़ों को पथभ्रष्ट कर देता है परन्तु मृत्यु गुरुदत्त को भयभीत कर सके – यह सम्भव न था। वह था भी तो उसी महान् गुरु का शिष्य। शिष्य ने गुरु के हाथों मौत की मौत होती देखी थी। वह इतिहास की पुनरावृत्ति के लिए उतावला था। इसीलिए जीवन-रक्षा हेतु जब मार्च महीने में चिकित्सकों ने मांसाहार का परामर्श दिया तो धर्मवीर ने उसे ठुकरा दिया। बोले – ''क्या मांस खाकर अमर हो जाऊँगा? फिर तो कभी मौत नहीं आएगी? यदि मृत्यु निश्चित है तो फिर एक निरपराध प्राणी के प्राण लेने का क्या लाभ?''[10क] आयु भर जिस सिद्धान्त का प्रचार किया, अन्तिम समय भी उसे नहीं छोड़ा। सर्वाधिक कठिन घड़ी में परीक्षा ली गई परन्तु वे सफल रहे।

दिन व्यतीत हो गए, और सप्ताह तथा मास भी। एक-एक दिन करके समय सरकता गया। आज 18 मार्च है। पूर्ववत् वही सूर्य उदय हुआ है। उसकी किरणों ने कहीं अन्धेरा नहीं छोड़ा। पूरी शक्ति से चमक रहा है परन्तु

हृदय-गुहा का तिमिर नहीं हटा पा रहा। प्रातः वेला में पक्षियों ने मधुर गीत गाकर आनन्द की वर्षा करनी चाही परन्तु नहीं, आर्यों के हृदय आनन्द से खाली हैं। शीतल समीर ने हृदय सागर में हिलोरें उत्पन्न करनी चाहीं परन्तु व्यर्थ। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत हो रहा है, चिन्ता बढ़ती जा रही है। मुखमण्डल मुरझाए हुए हैं। शोक टपक रहा है। माँ का हृदय-विदारक क्रन्दन पत्थर को भी चीर रहा है। सर्वत्र दुःख ... दुःख ... और केवल दुःख। पक्षी उड़ने वाला है। दीप बुझा चाहता है। इष्ट मित्रों से जितना हो सका, किया। अब कोई चारा नहीं। हे नाथ! जिसका कोई सहारा नहीं, उसका सहारा तुम हो। हे दयामय प्रभु! तुम्हीं दया करो। क्या तुम्हारे नियम में कोई अपवाद नहीं? क्या ढील की कोई गुंजाइश नहीं? देखो पिता! अभी तो युवावस्था भी पूरी नहीं हुई। दया करो, देव!

सायंकाल चार बजे एक दस्त लगा। कुछ कमजोरी अनुभव की परन्तु पन्द्रह मिनट में ठीक हो गए। कुछ खाने के लिए मांगा। थोड़ा चावल और दूध दिया गया। सूर्य अस्त हो गया। दिन बीत गया। पीड़ा और बढ़ गई परन्तु महामना गुरुदत्त पूर्ववत् प्रसन्नचित्त हैं। वे अपने पिता के बुलावे पर जा रहे हैं। फिर प्रसन्न क्यों न हों? पर जिनका सर्वस्व लुटने वाला है – वे रो रहे हैं। उनकी आँखों से नीर झर रहा है। कोई आशा नहीं, कोई आशा नहीं – मुँह से यही शब्द निकल रहे हैं।

उस दिव्य लोक के वासी की इस धरती पर यह अन्तिम रात्रि है। वह जा रहा है। जाने की सारी तैयारी पूर्ण कर ली है। कोई शक्ति भी अब उसे रोक नहीं सकती। वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहे हैं। ईश्वरोपासना और ध्यान में लीन हैं। सहसा पूछते हैं – ''क्या समय है?'' नन्दलाल ने कहा, ''ग्यारह बजे है।'' ''और तिथि क्या है?'' ''चैत्र कृष्णा त्रयोदशी, मंगलवार'' ''अच्छा, मेरे चाचा जी को बुलाओ।'' वे तुरन्त आ गए। चाचा जी प्रतिदिन भजन सुनाया करते थे। उन्हें 'शान्ति सरोवर' के स्वयं चुने दो भजन सुनाने के लिए कहा गया। चाचा जी ने भजन सुनाए। मन्त्रपाठ करते तथा भजन गाते समय व्यतीत होता रहा। बीच-बीच में सबको मन्त्रों के अर्थ समझाते रहे। फिर वह पवित्रात्मा बोली – ''मैं सर्वथा शान्त हो गया हूँ। मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं।'' रात के बारह बज गए थे। तब 18 मार्च यह पवित्र धरोहर 19 मार्च को सौंपकर चल दिया, परन्तु हाय! उससे इस धरोहर की रक्षा न हुई।

रैमलदास आदि भक्तजन पाँच-पाँच मिनट के बाद नाड़ी देख रहे थे, मानो भुजा पकड़कर रोक रहे हों परन्तु जाने वाला किससे रुका है? एक

बज गया, दो बज गए, फिर तीन और चार। महात्मा गुरुदत्त ने पूछा – क्या समय है? भक्त रैमलदास बोले – चार बजे हैं। फिर भक्त रैमलदास को भजन सुनाने को कहा। भक्त जी कहने लगे कि मैं भजन नहीं जानता। उपनिषद् सुनाता हूँ। उत्तर मिला – अच्छा। भक्त जी ने झटपट ईशोपनिषद् का पाठ आरम्भ कर दिया। ईशोपनिषद् का पूरा पाठ सुनकर फिर सो गए। पाँच बजे उठे और बोले – श्वास रुक रहा है। नीचे उतारो। 'शान्ति शान्ति' कहते हुए जमीन पर लेट गए।[10ख,11] भीषण पीड़ा परन्तु मुख पर प्रसन्नता। इधर मुस्कराते कमल नयन, उधर अनेकों अश्रुपूरित नेत्र। इधर इष्ट मिलन की आशा, उधर इष्ट बिछोह की चिन्ता। यही कहते रहे – 'ईश्वर तेरी मर्जी पूरी हो।' छह बजे और फिर ... सात बज गए। सवेरा हुआ। एक सूर्य निकला ... दूसरा अस्त हो गया। कुछ ही क्षण लगे कि प्राण पंखेरु उड़ गए। सब देखते रह गए। पिंजरा खाली पड़ा है – तोता उड़ गया। क्या था, क्या हो गया।

यह दु:खद समाचार नगर में फैलते क्या देर लगनी थी! नगर के जिस कोने में कोई आर्य भाई रहता था, वहीं यह खबर बिजली की तरह पहुँच गई। जिसने सुना, वही अवाक् रह गया। मानो लोगों को विश्वास नहीं हो रहा था। विश्वास हो भी कैसे? बिन बादल तुषारापात हुआ है। प्रात:काल ही सूर्यास्त हो गया और गूढ़ तिमिर ने सर्वत्र अधिकार जमा लिया है। नौ बजे से पूर्व ही पाँच-छह सौ व्यक्ति पण्डित जी के अन्तिम दर्शनार्थ पहुँच गए। प्रत्येक जिह्वा पर उनके गुणों की चर्चा थी। उनकी योग्यता, विद्वत्ता, सिद्धान्तप्रियता, अद्भुत वक्तृत्वकला एवं साधु स्वभाव को याद कर आँखों से गंगा-यमुना की धारा बह रही थी। कई तो इस महान् क्षति का अनुमान कर पत्थर की भाँति सुन्न रह गए। वाणी एक भी शब्द न कह पाई। जिससे आशाएँ थीं, वही न रहा। केवल आर्य ही नहीं, अपितु हिन्दू, मुसलमान, ईसाई ... सब शोकनिमग्न थे। वृद्धा माता का करुण क्रन्दन सुना न जा रहा था। उसका यही आँखों का तारा था, बुढ़ापे का सहारा था। अनेक कष्ट सहकर उसे पाया था। वैसे भी पतिविहीना स्त्री का सुख पुत्र में केन्द्रित हो जाता है। बेटा कितना ही निकम्मा हो, माँ को प्यारा होता है परन्तु जिस माता का पुत्र इतना योग्य, प्रतिष्ठित तथा होनहार हो, उसके दु:ख का अनुमान लगाया ही नहीं जा सकता। माँ चीख-चीखकर पुकार रही थी –'ऐ मेरे सच्चे साधु! ओ भोले-भाले साफ दिल बैरागी! ऐ वेद-मन्त्रों का उच्चारण करने वाले! ऐ आर्यों के उपदेशक! तू आज किस तरह सो रहा है? देख, तेरा उपदेश सुनने के लिए लोग बाहर तेरी इंतजार में हैं। जाग, उठ, उनसे बात

कर।' यही स्थिति लाला साईंदास की थी। वे रो-रो कह रहे थे – अच्छा होता उस होनहार की जगह मैं मर जाता। यह तो मेरी मौत का समय था। यह होनहार मेरे हाथों में चल दिया।

शोक के कारण लाहौर के सारे कॉलेज बंद कर दिए गए। कचहरियाँ बंद रहीं। पंजाब विश्वविद्यालय ने भी शोक मनाया। सर्वत्र उदासी छा गई। लगभग दस बजे पार्थिव शरीर को शमशान भूमि ले जाने की तैयारी होने लगी। कई भक्तों ने पण्डित जी का महानिद्रा की अवस्था में चित्र लेने का सुझाव दिया परन्तु चरित्र के पुजारियों ने चित्र की आवश्यकता न समझी। जनता ने आग्रह किया कि जब गुरुदत्त का पार्थिव शरीर अग्नि को भेंट किया जाए, तब उनका समस्त जनसमूह के साथ चित्र ले लिया जाए। इस सुझाव पर किसी को आपत्ति न थी। फिर भी चित्र न लिया गया क्योंकि इसे भी व्यर्थ समझा गया। वैसे पण्डित जी का एक चित्र पहले ही विद्यमान था।

साढ़े दस बजे अन्तिम यात्रा आरम्भ हुई। यह रविवार का दिन नहीं था, तो भी लोग सहस्रों की संख्या में पधारे।[12] कई अंग्रेज़ों ने जो पण्डित जी के भाषणों से प्रभावित थे, अपने कर्मचारियों को अन्तिम यात्रा में सम्मिलित होने के लिए भेज दिया। आगे-आगे आर्य पुरुष तथा डी.ए.वी. छात्रालय के विद्यार्थी वेदमन्त्र तथा ईश्वरभक्ति के गीत गाते जा रहे थे। शोकाकुल श्रद्धालु जोड़ मोरी, शाहआलमी बाज़ार और हीरा मण्डी में से निकल कर गए। भीड़ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। दोनों ओर दुकानों पर लोग खड़े होकर अपनी श्रद्धा व्यक्त कर रहे थे। मकानों की छतों व खिड़कियों से लगातार पुष्पवर्षा हो रही थी। प्रत्येक नर-नारी शोकविह्वल था। हर जिह्वा पर उस युवक के गुणों की चर्चा थी। छब्बीस वर्ष की अल्पायु में सदैव के लिए बिछोह शूल की भाँति चुभ रहा था। अपने सर्वस्व को कंधों पर उठाए तथा विलाप करता हुआ जन समूह कई स्थानों पर ठहरता हुआ लगभग एक बजे शमशान भूमि पहुँचा। फिर वृद्धा माता, धर्मपत्नी एवं सभी नर-नारियों ने पण्डित गुरुदत्त जी के अन्तिम दर्शन किए।

वैदिक विधि के अनुसार वेदी बनाई गई। सात फुट लम्बा, लगभग पाँच फुट चौड़ा और दो फुट गहरा ढलवां गढ़ा खोदा गया। गोबर से लीप कर आसपास पानी छिड़ककर लकड़ियाँ चिनी गईं। चिता पर पाँच सेर कपूर डालकर आग दी गई। सवा मन घी (अन्तिम समय में पण्डित जी का भार इतना रह गया था।), एक मन चन्दन, प्रति सेर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर, प्रति मन घी में एक सेर अगर, तगर, चन्दन का बूरा, बालछड़,

गिलोय, इन्द्रजौ, पाँचों मेवे (नारियल, किशमिश, छुहारे आदि) तथा शहद इत्यादि डाले गए। घी गर्म कर छाना गया।[10ग] ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित विधि से अन्त्येष्टि संस्कार किया गया।[13,14] लगभग साठ रुपये की सामग्री लगाई गई। देखते-ही-देखते पंच महाभूत अपने-अपने भूतों में मिल गए। कल तक जिसके नाम से रौनक़ थी, आज उसके दर्शन भी सम्भव न रहे। महात्मा हंसराज ने दिवंगत आत्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना की। फिर शोकाकुल भीड़ स्नान कर रोती धोती अपने घरों की ओर चल पड़ी।

गुरुदत्त की अस्थियाँ एवं भस्म 22 मार्च प्रातः रावी में प्रवाहित कर दी गईं जो उन्हें उनकी जन्म भूमि से मिलाने दौड़ पड़ी। घर पर दस दिन यज्ञ तथा उपनिषद् का पाठ होता रहा। और ... उनकी पुण्य स्मृति आर्यसमाज की अमर रजनीगन्धा बन गई।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. इंग्लैंड के डॉक्टर आर.डी.लॉलर ने 1862 में यह औषधि बनाई थी। उन दिनों सेहत, दिमाग, जिगर आदि के लिए यह बलवर्द्धक औषधि बहुत लोकप्रिय थी।
2. पेशावर, जालन्धर तथा क्वेटा आर्यसमाजें अपने सदस्यों के सदाचार पर बहुत बल देती थीं। अतः ये तीनों आर्यसमाजें गुरुदत्त को बहुत प्रिय थीं।
3. आर्य गज़ट, 24 अक्तूबर 1889
4. सद्धर्म प्रचारक, 19 अक्तूबर 1889, (क) पृष्ठ 8-9, (ख) पृष्ठ 7-8, (ग)पृष्ठ 3-4
5. पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का लाहौर से 25 अक्तूबर 1889 को आत्माराम अमृतसरी के नाम अमृतसर अंग्रेज़ी में लिखा पत्र
6. सद्धर्म प्रचारक, (क) 21 दिसम्बर 1889, पृष्ठ 2-3, (ख) 28 दिसम्बर 1889, पृष्ठ 5, 6,10, (ग) 18 जनवरी 1890, पृष्ठ 10; 25 जनवरी 1890, पृष्ठ 11
7. लाजपतराय लाला, जीवन चरित्र पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी (उर्दू), संस्मरण केदारनाथ थापर, पृष्ठ 36
8. सद्धर्म प्रचारक, 1 मार्च 1890, पृष्ठ 11; द ट्रिब्यून, 1 मार्च 1890
9. आत्माराम अमृतसरी, ब्रह्मयज्ञ, पृष्ठ 145
10. निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद अर्थात् पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, एम.ए., (क) पृष्ठ 83-4, (ख) पृष्ठ 92-9, (ग) पृष्ठ 154-6
11. भारत सुधार, 29 मार्च 1890
12. उस दिन राजकीय कॉलेज में परीक्षा थी, अतः पूरा प्रयत्न किया गया कि परीक्षा समाप्त होने तक परीक्षार्थियों तक यह शोक समाचार न पहुँचे ताकि उनकी परीक्षा में विघ्न न पड़े (द्रष्टव्यः निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद, पृष्ठ 131)।
13. द्रष्टव्यः ऋषि दयानन्द, संस्कारविधि, अन्त्येष्टिप्रकरणम्
14. भारत सुदशा प्रवर्त्तक, अप्रैल 1890

श्रद्धा सुमन

मुनिवर गुरुदत्त के निधन का दु:खद समाचार पाकर सर्वत्र शोक व्याप्त हो गया। सामान्यतया: समस्त भारत तथा मुख्यतया पंजाब एवं संयुक्त प्रदेश में शोक मनाया गया। समस्त आर्यसमाजों में शोक सभाएँ हुईं। आर्यसमाज मन्दिर लाहौर में 22 मार्च सायं हुई शोक सभा में तीन हजार से अधिक शोकाकुल श्रद्धालु अपने देवता की पुण्य स्मृति में श्रद्धा सुमन भेंट करने उपस्थित हुए। सभा में के.पी. चटर्जी, महात्मा मुन्शीराम, मास्टर दुर्गाप्रसाद, महात्मा हंसराज, मुनिराम आदि ने श्रद्धाञ्जलियाँ भेंट कीं।[1]

अनेक दैनिक एवं साप्ताहिक पत्रों ने सम्पादकीय लिखे। आर्य पत्रिका (25 मार्च 1890) ने 'हमारी क्षति' शीर्षक से एक लम्बे एवं हृदयद्रावक लेख में लिखा था: ''एक मनुष्य, एक असाधारण मनुष्य, एक अलौकिक मनुष्य, संस्कृत विद्या का एक सच्चा, गम्भीर और अद्वितीय पण्डित, प्राचीन ऋषियों का एक सच्चा वंशज इस संसार से उठ गया। आर्यसमाज का भूषण एवं गौरव, अपने देश का मान और भूषण, सत्य व ज्ञान का आदर करने वाले सभी लोगों का अभिमान – पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी – अब हमारे बीच नहीं रहे। हाँ, वह पुण्यात्मा अब नश्वर शरीर में विद्यमान नहीं है। हम सब युवा एवं वृद्ध उन्हें खोज रहे हैं। सच तो यह है कि हमें अभी इस कठोर सत्य का विश्वास नहीं होता कि वे हमें छोड़ गए हैं। हमारी क्षति की अलौकिकता और गुरुत्व ही इस संस्कार को बनाए रखने में सहायता देता है कि वे अभी तक हमारे पास हैं। हाय, हम उन जैसा मनुष्य फिर कब देखेंगे! हम फिर कब देखेंगे उन जैसा विद्वान् और प्रतिभाशाली, नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से विख्यात, धैर्यवान् और सहनशील तथा सभी प्रकार के अन्धविश्वासों के प्रति तीक्ष्ण समझदार व्यक्ति! कब देखेंगे ऐसा मानव जिसके रोम-रोम में सत्य के प्रकाश, वैदिक धर्म के सनातन सिद्धान्तों की कामना, प्रभु की वाणी और उन लोगों को कथनी के द्वारा, जिन्होंने उसकी वाणी को जाना और समझा है, संसार को पुन: परम देव के सामने लाने की भावना रम रही हो? ओह! गुरुदत्त विद्यार्थी, इस समय तेरी क्षति अपूरणीय है। अपने विशेष क्षेत्र में तू कोई ऐसा मनुष्य पीछे नहीं छोड़ गया, जो वह काम कर सके जिसे तूने करना था।''

''हे युवक! तेरी आत्मा वस्तुत: श्रेष्ठ थी और तेरा अल्पकालिक

जीवन अपने तेज़ से चकाचौंध कर देने वाला था, यद्यपि तुझे इस बात का ज्ञान न था। यह बात तेरे लिए थी भी ठीक क्योंकि तेरा लक्ष्य बहुत ऊँचा था। तू गौतम, पतञ्जलि, व्यास, याज्ञवल्क्य और स्वामी दयानन्द को अपना आदर्श समझता था और उनकी संगति तथा नेतृत्व में सदा प्रसन्न रहता था। इतना श्रेष्ठ और इतना होनहार होकर इतनी जल्दी संसार से चल दिया! हमें तुझसे क्या-क्या आशाएँ थीं और तू सच्चाई के लिए क्या-क्या न कर दिखलाता, यदि विधाता को तेरा यहाँ कुछ देर और रहना स्वीकार होता। परन्तु उसकी इच्छा अवश्य पूर्ण होती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि तेरी आत्मा अब पहले से अनन्त गुणा प्रसन्न और भौतिक बंधनों से मुक्त होगी। फिर भी हम यह कामना किए बिना नहीं रह सकते कि तू हमारे मध्य कुछ समय और रहता। अब भी हमें व्यथित नहीं होना चाहिए क्योंकि यदि तूने जगत् पिता की गोदी में असंख्य वर्षों तक आराम लेने से पूर्व एक बार पुनः जन्म लेना है तो तू अवश्य हमारे पास आएगा। उस समय तेरी शक्तियाँ सच्चाई के प्रचार के लिए पहले से सौ गुणा अधिक बढ़ी हुई होंगी।''

''... यदि पण्डित जी का जीवन उनके बल, उनकी नैतिक उच्चता और धार्मिक तीव्रता के कारण हमारे अध्ययन और अनुकरण के योग्य है, तो उनका अन्तिम दृश्य भी उस पवित्रात्मा के अनुकूल ही था। अपनी व्याधि के पूरे छह मास में, जब वे चारपाई से उठ नहीं सकते थे, वे कभी भी दुःख से अशान्त, व्याकुल और अधीर नहीं हुए। उनकी सारी यातनाएँ उनकी वीर आत्मा से आन्तरिक वेदना का हलका-सा चिह्न भी प्रकट नहीं करवा सकीं। उस दारुण ज्वर के, जो उनके शरीर का एक भाग बन गया था, प्रचण्ड से प्रचण्ड आक्रमण के समय भी वे अस्थायी आराम के समय की तरह ही गम्भीर और शान्त रहते थे। हाँ, सच्चा आर्य होने के कारण वे सच्चे आर्यों की तरह कष्ट सहना जानते थे। वे विधाता की इच्छा पर अपने आप को छोड़ देना जानते थे, अधिकतर इसलिए कि उन्होंने दयानन्द को ऋषियों की भाँति निर्वाण प्राप्त करते देखा था और अवसर मिलने पर वे ऋषि की मृत्यु का बड़े उल्लास और भक्ति के साथ वर्णन किया करते थे। गुरुदत्त विद्यार्थी! मृत्यु और कष्ट के समय कौन है जो तेरी तरह शान्त रहने की आकांक्षा न रखता हो? ...''

भारत सुधार, लाहौर (22, 29 मार्च 1890) ने भावपूर्ण लम्बा लेख लिखा, जिसके कुछ अंश निम्नलिखित हैं:

''अफ़सोस दरे बख़्त यह क्या हाल हो गया।

भारत में रंजो-ग़म से भूचाल हो गया॥

हाय! भारतवर्ष तू भी बदनसीब है। ईश्वर को मंज़ूर नहीं कि तेरे नन्हें बच्चे अपने पाँव पर चलना सीखें। बूढ़े आर्यावर्त! स्वामी जी की जांगुदाज़ वफ़ात का नावके-ग़म अभी तेरे सीने में वैसा ही खटक रहा था, कि आज तेरे जीते जी तुझे एक और आलिम की मौत की ख़बर-ए-वहशत-असर सुननी नसीब हुई जिसने तेरे पिछले जख़्मों पर नमक का काम किया यानी पण्डित गुरुदत्त जी एम.ए. इस जहाने फ़ानी से परलोक सिधार गए।

खो दी ख़ज़ां ने रौनक़े-गुलज़ार हाय हाय।
पस-मुर्दा हो गए गुले-रुख़सार हाय हाय॥

कलम खून बहाता है। कलेजा मुँह को आता है। जिधर देखो रंजो-मेहन का आलम तारी है। हर एक आँख पुर-अज़-गिरया-ओ ज़ारी है। आफ़ताब आलमताब ने रंजोमातम के इज़हार में सफ़ेद पोशाक उतारी है और स्याह दरबदर की है। दरो-दीवार पर हसरतो-यास का आलम छाया है। मुहिब्बाने मुल्क व कौम की दिलसोज़ आहों ने संग दिलों को भी आठ-आठ आँसू रुलाया है। हर एक की जुबान से ग़मो-अन्दोह का नारा बुलन्द है। जिसे देखो पुर अज़ दर्द व गुज़न्द हैं। वह इल्मीयत, वह ज़हानत, वह लियाक़त ईश्वर की तरफ से उनके हिस्से में आई थी मगर हैफ़ कि मेहनत का समर न मिला।

फूल तो दो दिन बहारे जां-फिज़ा दिखला गए।
हसरत उन गुंचों पे है जो बिन खिले मुर्झा गए॥

हाय मौत, अगर तेरे हाथ से रिहाई नसीब होती तो इन्सान की इस दुनियाँ में चैन से गुज़रती।''

आर्य समाचार, मेरठ (चैत्र सम्वत् 1947 वि.) ने लिखा था: ''अफ़सोस-अफ़सोस-अफ़सोस, 19 मार्च 1890 को सुबह के 6 बजे फ़ख्रे-आर्यावर्त, तालीमयाफ़्ता गिरोह के सरताज और आर्यसमाजों के रोशन-चिराग़ पण्डित गुरुदत्त जी एम.ए. साबिक़ साइंस प्रोफेसर गवर्नमेन्ट कॉलेज लाहौर बआरिज़ा-ए-तपेदिक़ इस जहाने फ़ानी से आलमे जाविदानी को कूच कर गए – गोया कि इल्मी और अखलाक़ी फ़ज़लियत के चिराग़ को गुल कर गए। ऐसा कौन बही-ख्वाहे-ख़ल्क़ होगा जो आप की ज़ाते-फ़ैज़याब से कुछ भी वाक़िफ़ न हो, आपकी बेवक्त वफ़ात से आठ-आठ आँसू न रोया हो। वाक़िई आपकी जुदाई का जिस क़दर रंजो-ग़म किया जाए, थोड़ा है। जो-जो आर्यसमाजों की तरक़्क़ी और मुल्क की बहबूदी की उम्मीदें आपकी ज़ाते-

बाबरकात से वाबिस्ता थीं सब का ख़ून हो गया।''

आर्य गज़ट, फ़िरोजपुर (24 मार्च 1890) ने अपने लेख 'पण्डित जी की मौत पर ग़मो-अलम' में लिखा था – ''भारत तू बड़ा बदनसीब है तेरी शोमयी-त्रालेह बलाए-बेदरमान है, जो कोई जरा तेरा हाथ पकड़ता है या तेरे दु:ख को हलका करना चाहता है वही इस संसार असार से जल्द कूच कर जाता है। अफ़सोस! सद अफ़सोस!! वह पंजाब यूनिवर्सिटी का ज़ेवर बल्कि सारे पंजाब का फ़ख्र इस दारे-नापायेदार से चल दिया। वह आर्यसमाज का लहलहाता शगूफ़ा, वह वेदों का दृढ़ विश्वासी, हमारे सीनों पर दाग़े-मुफ़ारक़त दे गया जिसकी ज़ात बा-बरकात से हमारी सैंकड़ों बल्कि हज़ारों उम्मीदें वाबिस्ता थीं, आज हमारे में नहीं। ... वह मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स जैसे फ़ाजिलाने-दहर को सबक़े-रास्ती देने वाला जिसकी ज़ात पर कुल आर्यसमाजों को फ़ख्र था, वो फ़ाज़िले-अजल जिसने जन्म से नहीं बल्कि गुण कर्म से ख़िताबे-पण्डित हासिल किया था ... हमसे बेवक्त उठाया गया। ... वह बाग़े-आर्य का खुश-ब्यान अदीब सारे पंजाब के तालीमयाफ़्तों का सरताज गोहरे-आबदार दरयाए-फ़ज़ीलत पण्डित गुरुदत्त जी एम.ए. थे। जिन की बिस्तरे-बीमारी पर पड़े रहने की आप मुद्दत से खबर सुन रहे थे – 19 मार्च की सुबह को अपने प्यारे मोक्षधाम को चल बसे। इस 12 साल के अर्से में जब से आर्यसमाजों का बजूद क़ायम हुआ ... बाद स्वर्गवासी श्री स्वामी जी के यह दूसरा सदमा है जिसने कुल आर्यावर्त को अमूमन और समाजों को खसूसन नीम-जां कर दिया। अफ़सोस यह वह नुकसान है जिसका पूरा होना मुश्किल बल्कि मुहाल है। ...''

सद्धर्म प्रचारक, (मार्च 1890) लिखता है – ''जो शख़्स कुछ भी क़ौमी हमदर्दी रखता है और हमदर्दाने-क़ौम की मुबारक ज़िन्दगी की कुछ भी क़दर करने वाला है – आज उसके दिल में सख़्त मातम होगा – ऐसा मातम कि जो मुश्किल से उसने किसी निहायत ही प्यारे और क़रीबी रिश्तेदार की वफ़ात पर किया होगा। यह जानकाह ख़बर सुनकर कि तालीमयाफ़्ता पार्टी के सरताज और आर्यसमाज के रोशन चिराग़ पण्डित गुरुदत्त जी एम.ए. साबिक साइंस प्रोफ़ेसर गवर्नमेन्ट कॉलेज लाहौर हमेशा के लिए हमसे जुदा हो गए और फिर हम उनको अपने दरमियान कभी नहीं देख सकेंगे। ... पंजाब के तमाम एजुकेटिड पार्टी का नूरानी चिराग़ गुल हो गया, हिन्दुस्तान की तमाम आर्य मण्डली का आफ़ताब ग़ुरूब हो गया और अपनी सोसायटी

में अन्धेरा डाल गया। पंजाब यूनिवर्सिटी को अगर लायक़ ग्रेजुएट देने का फ़ख्र था तो सिर्फ पण्डित गुरुदत्त जैसे बहमासिफ़त्त मौसूफ़ फाज़िल आदमी के नमूने पर था – जो इल्मी लियाक़तों और अख़लाकी नेकियों में दुरे-यकता है, अंग्रेज़ी लिटरेचर पर पूरा क़ाबू रखते हों। संस्कृत में ऐसा तेज रखते थे कि मुश्किल से कोई पण्डित उनके प्रताप के आगे ठहर सकता था, साइंस में बे अदील उस्ताद थे, तर्कशास्त्र और फ़िलासफ़ी में इण्डिया में बड़े-बड़े उनका लोहा मानते थे। उनकी क़ुव्वते-बयानी क्या थी, सिहर ज़वानी थी कि जिस जलसे में ख़्वाह अंग्रेज़ी में ख़्वाह उर्दू में एडरस करते, शेर की तरह गर्जते और मुअस्सर व दिलपज़ीर पेराए में नफ़से-मज़मून को अदा करते थे कि सामिईन पर उनकी तक़रीर का एक-एक लफ़्ज़ तन्तर मन्तर का असर करता और उनको बुते-दीवार की तरह लट्टू बना देता था। जब उन्होंने कभी वैदिक कॉलेज की इमदाद के लिए अपील की – सामिईन पर ऐसा जोश छा गया कि चश्म ज़दन में हज़ारों रुपए जेबों से फुड़क कर मेज पर जमा हो गए। न सिर्फ बड़े दिमाग़ वाले उनकी तक़रीर पर बेखुद हो जाते थे बल्कि औरतें व अनपढ़ जाट और मुख़ालिफ़ ब्राह्मण भी मस्त हो जाते और जेवरों तक को कॉलेज में अर्पण कर देते थे। उनका क़ाबिले-तक़लीद चलन व अख़लाक ऐसा था जो ऋषियों का होता था। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी जगत् उपकार व देश के सुधार में अर्पण कर दी थी। इनसानियत की तमाम नेकियों व सिफ़तो से मौसूफ़ व नफ़सानियत की तमाम बुराइयों से पाक थे और यही वजह है कि बड़े-बड़े बाअख़लाक़ असहाब ख़ासकर कॉलेज के होनहार तालिबे-इल्मों के दिलों में उनकी कद्रो-वुक़अत आला दरजे तक पहुँच चुकी थी।''

फ़र्रुख़ाबाद (उत्तरप्रदेश) से छपने वाले भारत सुदशा प्रवर्त्तक (अप्रैल 1890) ने लिखा था – ''हम बहुत दुःख के साथ प्रकाशित करते हैं कि साइंस के प्रोफेसर और दयानन्द ए.वै. कॉलेज के एक विशेष स्तम्भ तथा आर्यों के गौरवमूल पं. गुरुदत्त एम.ए.,ता. 19 मार्च को परम पद प्राप्त हुए। हाय! काल की बड़ी कुटिल गति है। ... जब हम पण्डित जी की विद्या को देखते हैं, जब उनके शील, सौजन्य, गाम्भीर्य आदि गुणों का स्मरण करते हैं, जब हम उनमें भारत के भावी सुख मंगल का चितवन करते हैं तो वह गौर वर्ण प्रशान्त मूर्ति हमारे हृदय को विदीर्ण करती है... कौन ऐसा पाषाण हृदय होगा जिसका जी इस भयानक समाचार को सुनकर टूक-टूक न हुआ होगा। जिस समय समाज में उनका शोक संवाद पढ़ा गया, सभी के आँसुओं की

धारा बह चली। ...''

पण्डितजी का जीवन इतना पवित्र एवं आशाओं से भरा हुआ था कि ग़ैर-आर्यसमाजी नेताओं ने भी मातम किया और पत्रों ने सम्पादकीय लिखे। उस समय के प्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैय्यद अहमद ख़ाँ साहब ने लिखा था – ''दुनिया में कोई रंज ऐसे शख़्स की वफ़ात से ज़्यादा नहीं हो सकता जो होनहार मालूम होता हो और उससे अमूमन इन्सानों की या कौम की या फ़िरके की भलाई या तरक़्क़ी की तवक्को हो। यह रंज उस वक्त और ज्यादा हो जाता है जबकि वह शख़्स अपनी ज़ात से भी ऐसा लाईक बाइसे-इफ़्तिख़ारे-कौम हो। पण्डित गुरुदत्त एम.ए. इसी किस्म के लोगों में से थे। वो यूरोपियन साइंसिज़ और लिटरेचर में निहायत आला दरजा की लियाक़त रखते थे, संस्कृत में बहुत मुस्तनद पण्डित थे। अंग्रेज़ी में बहुत बड़े स्पीकर थे। उनकी अंग्रेज़ी स्पीचें और लैक्चर ताज्जुब-ख़ेज थीं। उन्होंने तमाम ताल्लुक़ात से क़तए-नज़र करके आर्यसमाज की तरक़्क़ी पर अपने आपको वक़्फ़ कर दिया था। निहायत मुअज़िज़-नौकरियाँ उनको मिलती थीं मगर उन्होंने मन्जूर नहीं कीं और आर्यसमाज की तरक़्क़ी को अपनी ज़िन्दगी का मकसद समझा। अफ़सोस ऐसे शख़्स ने 26 वर्ष की उमर में 19 मार्च 1890 को मदकूक होकर इन्तकाल किया। हजारों आदमियों ने इन पर मातम किया। इनके जनाज़े को जिस कदर इज़्ज़त दी जा सकती थी वो दी मगर इससे क्या होता है। जो नुकसान कौम को और खुसूसन आर्यसमाज को उनके मरने से पहुँचा उसकी तलाफ़ी नहीं हो सकती। हमारे नज़दीक किसी कौम और किसी मज़हब का आदमी हो मगर कोई कमाल रखता हो – उसका फ़ौत होना इन्सानों के लिए मुसीबत है जिसके लिए सबको मातम करना चाहिए।''[2]

'ट्रू लाइट' ईसाई पत्र था। इसके सम्पादक थे आलनट एम.ए., प्रिंसिपल मिशन कॉलेज, दिल्ली तथा जे.सी.आर. इविंग प्रिंसिपल मिशन कॉलेज, लाहौर। इस पत्र ने भी पण्डित जी के निधन पर सम्पादकीय लेख में लिखा था– ''लाहौर आर्यसमाज के प्रमुख सदस्य पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम.ए. लम्बी बीमारी के पश्चात् चल बसे। उनके निधन का सार्वजनिक क्षति के रूप में बहुत दु:ख मनाया गया। वे जनभावना से युक्त मनुष्य थे और अपने सहदेशवासियों की उन्नति में बहुत रुचि रखते थे। वे कुछ समय के लिए राजकीय कॉलेज के साथ भौतिक विज्ञान के सहायक प्राध्यापक के रूप में तथा उसके पश्चात् डी.ए.वी. कॉलेज के साथ जिसकी स्थापना में उन्होंने मुख्य भाग लिया था, सम्बन्धित थे। वे सर्वाधिक श्रमी, सच्चे जिज्ञासु

और प्रचलित विषयों पर असाधारण रूप से परिचित थे। संस्कृत विद्वान् के रूप में भी उनकी कुछ ख्याति थी। सामवेद संहिता का एक संस्करण, प्रशस्तपाद-भाष्य और कुछ उपनिषदों के अनुवाद उनके श्रम के परिणामों में से कुछ हैं। उनके सामान्य व्यवहार, सुशील स्वभाव और उच्च जीवन ने उन्हें बहुतों का प्रिय बना दिया था। यद्यपि हम उनके साथ उनकी सभी मान्यताओं पर सहमत नहीं हो सकते थे फिर भी हम उनकी धारणाओं के प्रति निष्ठा और उस साहस जिसके साथ वे विरोध में भी उनकी वकालत करते थे, के लिए प्रशंसा करते हैं।''

पंजाब के प्रमुख अंग्रेज़ी पत्र ट्रिब्यून ने (22 मार्च 1890) ने अपने अग्रलेख में पण्डित जी को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा था – ''... उनकी मृत्यु ने पंजाब में सर्वत्र गहरा दु:ख उत्पन्न कर दिया है क्योंकि उनका जीवन दिव्य आशाओं से पूर्ण था। आर्यसमाज के लिए – जिसके वे एक चमकते सितारे थे – उनकी क्षति पूरी न होने वाली है तथा सामान्यतया: देश के लिए उनकी हानि अधिक, अत्यधिक है। ... अपनी बौद्धिक क्षमताओं से वे सुविधापूर्वक किसी भी क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते और वहाँ प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते परन्तु उन्होंने अपने स्वाध्याय की शान्ति को बाह्य जगत् के कोलाहल से अधिक चाहा तथा अपने पूर्ण सामर्थ्य के साथ स्वयं को लवलीन कर दिया। वैदिक संस्कृत के अध्ययन में, वे आश्चर्यजनक उन्नति कर रहे थे जब प्रभु ने उन्हें उठा लेना पसन्द किया। वास्तव में वे विशाल शक्तिसम्पन्न पुरुष थे, उनकी तीक्ष्ण शक्तियों ने उन्हें घिसा दिया और उनके शरीर को तोड़ दिया। आराम करने का क्या अर्थ होता है – यह उन्होंने कभी नहीं जाना। निरन्तर आठ या दस घण्टे गहन अध्ययन करना, सायंकाल एक संस्कृत कक्षा को पढ़ाना जो उन्होंने अपने घर में खोल रखी थी और देर गई रात तक उन लोगों के साथ जो टोलियों में आते रहते थे, कठिन सैद्धान्तिक प्रश्नों पर वाद-विवाद करते हुए बैठे रहना – ये सब कुछ उनके लौह शरीर को भी नष्ट करने के लिए पर्याप्त था परन्तु केवल यही सब कुछ नहीं था। **वे अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों में सर्वाधिक प्रभावशाली पंजाबी वक्ता थे** तथा इस दिशा में उनकी सेवाओं की आर्यसमाज को निरन्तर आवश्यकता रहती थी। शायद ही कोई महीना बीता होगा जब उन्हें सावधानी के साथ तैयार किया हुआ भाषण न देना पड़ा हो, जिसके प्रत्येक वाक्य पर आर्यसमाज के सदस्य बाद में महीनों चाव से लगे रहते थे। डी.ए.वी. कॉलेज आन्दोलन की सफलता उनकी प्रेरणादायक अपीलों के कारण कम नहीं है। उनकी कल्पना शक्ति महान् थी, उनमें बुद्धि ग्राह्यता विस्तृत थी और वे

व्यक्तियों में सर्वाधिक क्रियात्मक थे। देश के इस भाग में वाद-विवाद में उनके सदृश कोई न था। उनकी सब क्षमताएँ एवं शक्तियाँ समान रूप से विकसित थीं। उधर या इधर कोई अनावश्यक झुकाव न था। उनके चरित्र की पवित्रता अकथनीय थी और उनकी जीवन-पद्धति तप सदृश सरल थी। उनका सदैव मुस्कराता मुखड़ा, जिसकी प्रत्येक आकृति से प्रतिभा झरती थी, उनके सहानुभूतिपूर्ण तथा निश्छल हृदय का सही द्योतक था। उन्होंने कभी भी आर्यसमाज के, जिस के साथ सम्बन्धित थे, प्रबन्ध में कोई सक्रिय भाग नहीं लिया परन्तु एक अनोखा प्रभाव रखते थे क्योंकि वे सदा नि:स्वार्थ थे। जितने भी लोग उनके सम्पर्क में आए उनके हृदयों पर उन्होंने जो अधिकार पा रखा था, उसका रहस्य उनकी नि:स्वार्थता थी। जब यह विदित हुआ कि गुरुदत्त विद्यार्थी नहीं रहे तब जो सार्वभौम विलाप हुआ, उसने प्रमाणित कर दिया कि निज देशवासियों के हृदयों में उन्होंने कितना बड़ा स्थान प्राप्त कर रखा था। उन्होंने कभी अपनी चिन्ता नहीं की एवं अपने हृदय, आत्मा तथा शक्ति के साथ श्रद्धाभाव से आर्यसमाज का कार्य करते रहे जिसे वह भारत का कार्य मानते थे।''

''उनके अन्तिम दिन उनके अनुरूप थे। वे अपनी रोगशैय्या पर तीन महीने से अधिक समय तक पड़े रहे और अन्तिम कुछ दिन व्यापक गहरी पीड़ा के दिन थे। क्षयरोग में प्रत्येक श्वास ही कष्टमय होता है पर उनकी सहनशक्ति असाधारण थी और उन्होंने कभी एक भी आह न निकलने दी और वह कठिनाई से 26 वर्ष के हो पाए थे जब मृत्यु के निर्मम हाथ ने उन्हें उनकी उपयोगिता के क्षेत्र से हटा दिया।''

दैनिक 'सिविल एन्ड मिलिटरी गज़ट', लाहौर ने सम्पादकीय में 20 मार्च को लिखा था, ''... स्वर्गीय एक विख्यात संस्कृत विद्वान् और एक प्रबल सुधारक थे। वे आर्यसमाज के भी उत्साही सदस्य थे और थोड़ा समय पूर्व वैदिक मैगज़ीनों की एक शृंखला प्रकाशित करनी आरम्भ की थी जिनमें वेदों की उत्तम व्याख्याएँ होती थीं। सभी वर्ग स्वर्गीय का बहुत सम्मान करते थे और वे पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा अब तक पैदा किए गए एक मात्र संस्कृत विद्वान् माने जाते थे। उनकी क्षति देशवासी जनसमुदाय द्वारा बहुत अनुभव की गई और सभी सार्वजनिक स्कूल तथा कॉलेज उनकी मृत्यु के दिन बंद कर दिए गए ...।''

इसी तरह अवध अख़बार (उर्दू दैनिक, लखनऊ), राजपुताना गज़ट (अजमेर), आर्यावर्त (कोलकाता), बाबा अग्निहोत्री का पत्र धर्म जीवन

(लाहौर), रफ़ीक-ए-हिन्द (लाहौर), रावी, दूरबीन, ग़मखार-ए-हिन्द, पंजाब मिरर (रावलपिण्डी), कोहेनूर (लाहौर), ताज-उल-अख़बार (रावलपिण्डी), आफ़ताब-ए-पंजाब (लाहौर), सादिक़ (बहावलपुर), इम्पीरियल पेपर (लाहौर), सरमोर गज़ट, पुरसराज-अल-अख़बार (जेहलम), अख़बार-ए-आम (लाहौर) आदि विभिन्न विचारधाराओं के भिन्न-भिन्न स्थानों से प्रकाशित पत्र एवं पत्रिकाओं ने भावभीने शब्दों में दिवंगत आत्मा के प्रति मनोभाव प्रकट किए थे।[3]

केवल भारतवर्ष में ही नहीं अपितु विदेशों में भी विद्याप्रेमी सज्जनों ने इस समाचार को बहुत दु:ख के साथ सुना। इंग्लैंड का ब्रैडले जैसा नास्तिक भी पण्डित जी की वैज्ञानिक व्याख्याओं से बहुत प्रभावित था। वे 1890 ई. में गुरुदत्त से मिलने भारत आए परन्तु जब मुंबई उतरने पर ज्ञात हुआ कि विद्या का वह सूर्य अस्त हो चुका है तो उन्हें बहुत दु:ख हुआ। उन्हें ऐसा लगा जैसे कोई अमूल्य निधि मिलते-मिलते रह गई हो।

आर्य बन्धु पण्डित गुरुदत्त का स्मारक बनाना चाहते थे। अत: धर्मशाला (कांगड़ा) में गुरुदत्त प्राइमरी पाठशाला तथा मेरठ और बाग़वानपुरा मोहल्ला लाहौर में गुरुदत्त पुत्री पाठशाला खोल दी गईं। कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) में गुरुदत्त एंग्लो वैदिक स्कूल स्थापित किया गया। आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर महात्मा मुन्शीराम ने गुरुदत्त विद्यार्थी आश्रम की नींव रखी। लाहौर में गुरुदत्त भवन बनाया गया जिसमें आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का कार्यालय खोल दिया गया। भारत के विभाजन के पश्चात् सभा का कार्यालय जालन्धर में जिस भवन में स्थित हुआ, उसका नाम भी गुरुदत्त भवन रखा गया। आर्यसमाज धूरी (पंजाब) ने पण्डित जी के सम्मान में 1967 में गुरुदत्त कन्या महाविद्यालय खोला। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक (डॉ. रामप्रकाश) के प्रस्ताव पर 2000 में पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ने अपने रसायन विभाग के तिमंज़िला भव्य भवन का नाम 'पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी हॉल' रखकर अपने पुराने छात्र तथा विज्ञान के प्रथम भारतीय प्रोफ़ेसर के प्रति सम्मान प्रकट किया।

क्या पण्डित जी का स्मारक स्थापित हो गया? क्या उनका ऋण उतार दिया गया? कदापि नहीं। न तो कोई उपयुक्त भवन ही उनकी स्मृति में बना पाए, न उनके सिद्धान्तों का प्रचार ही कर पाए। लाहौर में गुरुदत्त भवन अच्छा बना था, वही पाकिस्तान में रह गया। फिर ईंट पत्थर का भवन उनका उपयुक्त स्मारक भी तो नहीं है। पण्डित जी स्वयं कहा करते थे, ''ईंट पत्थर पर किसी

ऋषि का नाम खुदवा देने से ऋषि का स्मारक नहीं बन सकता; प्रत्युत यदि ऋषि का स्मारक स्थापित करना चाहते हो तो उन सिद्धान्तों का प्रचार करके दिखाओ जिन सिद्धान्तों का प्रचार वे स्वयं करते रहे हैं। स्वामी दयानन्द का स्मारक यही है कि वेदों का विश्व में प्रचार हो जाए।''[4] पण्डित जी का वास्तविक स्मारक उनके मन्तव्यों का प्रचार करना है।

उनके निधन से आर्यसमाज की जो क्षति हुई, उसकी पूर्ति सम्भव नहीं। उनके देहावसान से आर्यसमाज का सर्वस्व लुट गया। पल में ऋषि का यह समाज महानिर्धन हो गया। उसका एक महान् दार्शनिक, प्रकाण्ड पण्डित, नि:स्वार्थ एवं निडर नेता, बलिदानी धर्मवीर छिन गया। यह ठीक है कि पण्डित जी के पश्चात् आर्यसमाज की गोदी में अनेक लाल खेले जिन्होंने आर्यसमाज का गौरव बढ़ाया परन्तु कोई गुरुदत्त फिर न मिल सका। उनका अभाव सर्वदा अखरता रहेगा। उनके बिना वह शोभा ही नहीं। हो भी कैसे?

जिसे रौनक़ तेरे क़दमों ने देकर छीन ली रौनक़।
वो लाख आबाद हो, उस घर की वीरानी नहीं जाती॥[5]

प्रभु करे हम पण्डित जी के चरण-चिह्नों पर चलकर विश्व में वैदिक मान्यताओं का प्रचार कर सकें। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. आर्य समाज लाहौर की अन्तरंग सभा में 25 मार्च को पण्डित जी के परिवार की सहायतार्थ गुरुदत्त मैमोरियल फण्ड खोलने का निर्णय लिया गया। तय हुआ कि छह हजार रुपये एकत्र किए जाएँ ताकि बच्चों की आयु कम से कम 20 वर्ष होने तक परिवार को 20 रुपये मासिक मिलते रहें।

2. अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गज़ट, 25 मार्च 1890; तुलना: असगर अब्बास, सर सैय्यद की ताज़यातीं तहरीरें, पृष्ठ 28

3. निहालचन्द भण्डारी, उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद, पृष्ठ 238-283। यदि सभी शोक सभाओं में पारित तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित श्रद्धा सुमनों को उद्धृत किया जाए तो यह अपने आप में एक स्वतन्त्र संकलन बन जाएगा। अत: संग्रहीत श्रद्धाञ्जलियों में से कुछ एक ही संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत की गई हैं।

4. लेखराम आर्य मुसाफ़िर, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र, पृष्ठ 872

5. जिगर मुरादाबादी का एक शेर

परिशिष्ट क

दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल लाहौर की स्थापना के समय 1886 ई. में निम्नलिखित पाठ्यविधि लागू की गई थी[1] —

लोअर प्राइमरी कक्षाएँ

पहली : हिन्दी (पढ़ना, लिखना)

दूसरी : अंकगणित (पहाड़े),

तीसरी : हिन्दी (पढ़ना, लिखना), संस्कृत, अंकगणित, भूगोल

अपर प्राइमरी कक्षाएँ

चौथी/पाँचवीं : हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेज़ी, अंकगणित, भूगोल, उर्दू (वैकल्पिक)

मिडिल कक्षाएँ

छठी : हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेज़ी, अंकगणित, भूगोल, उर्दू (वैकल्पिक)

सातवीं : संस्कृत, अंकगणित, अंग्रेज़ी, भूगोल, इतिहास, भौतिक विज्ञान, उर्दू (वैकल्पिक)

आठवीं : संस्कृत, अंकगणित, अंग्रेज़ी, भूगोल, इतिहास, भौतिक विज्ञान, उर्दू (वैकल्पिक) तथा सैनीटेशन (वैकल्पिक)

अपर कक्षाएँ

नवीं/दसवीं : संस्कृत, गणित, अंग्रेज़ी, भूगोल, इतिहास, भौतिक विज्ञान, सैनीटेशन अर्थात् स्वास्थ्य विज्ञान (वैकल्पिक)

गवर्नमेन्ट स्कूल की भाँति कक्षाओं को लोअर प्राइमरी, अपर प्राइमरी, मिडिल तथा अपर (हाई) में बांटा गया था। किस कक्षा में क्या-क्या विषय ÂÉêÞ ÁæÞõ– यह डी.ए.वी. कॉलेज प्रबन्धक कमेटी में तय किया गया था। गवर्नमेन्ट स्कूल में फ़ारसी पढ़ाई जाती थी परन्तु डी.ए.वी. स्कूल में नहीं। पहले दो वर्ष बच्चे का बस्ता बहुत हलका था। संस्कृत की पढ़ाई तीसरी कक्षा से शुरू की गई थी। चौथी से छठी तक छह विषय पढ़ाए जाते थे। भौतिक विज्ञान तथा सैनीटेशन (वैकल्पिक) की पढ़ाई क्रमशः सातवीं तथा आठवीं में आरम्भ होती थी।

पण्डित गुरुदत्त व उनके सहयोगियों के प्रयास का यह परिणाम था कि 1892-93 सत्र का संस्कृत पाठ्यक्रम निम्नलिखित तय हुआ था :

तीसरी कक्षा : पाठोपकारक भाग 1 (6 पीरियड)

चौथी कक्षा : वाक्यप्रबोध (6)[2]

पाँचवीं कक्षा : ऋजुपाठ भाग 1(3), सन्ध्या(1), उपक्रमणिका[3] पृष्ठ 1-30(2)

छठी क, ख : अष्टाध्यायी अर्थसहित अध्याय 1, 2 (6), मनुस्मृति के अंश, हिन्दी से संस्कृत अनुवाद, उपक्रमणिका पृष्ठ 31-50, पुनरावृत्ति (6)

छठी ग : ऋजुपाठ भाग 1 (सम्पूर्ण), उपक्रमणिका पृष्ठ 1-50 (12)

सातवीं क : अष्टाध्यायी अध्याय 3-5 (6), मनुस्मृति दूसरा भाग, उपक्रमणिका शेष भाग व पुनरावृत्ति, हिन्दी से संस्कृत अनुवाद (6)

ख: ऋजुपाठ भाग 1 या मनुस्मृति सम्पूर्ण, उपक्रमणिका पृष्ठ 1-50(12)

आठवीं क : अष्टाध्यायी अध्याय 6-8 (6), हितोपदेश: मित्रलाभ व सुहृद-भेद, उपक्रमणिका पुनरावृत्ति (6)

ख : हितोपदेश: मित्रलाभ व सुहृद्भेद, उपक्रमणिका, पुनरावृत्ति (6)

नवीं क : अष्टाध्यायी अध्याय 7, 8 तथा पहले तीन अध्यायों की पुनरावृत्ति (6), ऋजुपाठ भाग 3, व्याकरणबोध पूर्वार्द्ध, अनुवाद (6)

ख: मनुस्मृति के अंश, व्याकरणबोध पूर्वार्द्ध, ऋजुपाठ भाग 3, अनुवाद (6)

दसवीं क : अष्टाध्यायी अध्याय 6, 7, वेदांगप्रकाश का नामिक भाग (6), साहित्य परिचय, ऋजुपाठ पुनरावृत्ति, व्याकरणबोध सम्पूर्ण, अनुवाद (6)

ख : अष्टाध्यायी तथा नामिक छोड़कर शेष पूर्ववत् (6)

वैकल्पिक विषय छोड़कर शेष विषयों को 36 पीरियड प्रति सप्ताह समय दिया जाता था। 1893-94 ई. में छठी व सातवीं में मनुस्मृति के स्थान पर रामायण पढ़ाई गई थी। 1895 ई. में पहली कक्षा में गायत्री मन्त्र, दूसरी व तीसरी में दस-दस वेद मन्त्र, चौथी में प्रार्थना मन्त्र व वैदिक रीडर और पाँचवीं कक्षा में सरलार्थ सहित सन्ध्या सिखाने के लिए प्रति सप्ताह क्रमश: 1, 3, 3, 2 व 2 पीरियड निर्धारित किए गए थे। नवीं और दसवीं में वेद पाठ के लिए दो पीरियड प्रति सप्ताह अतिरिक्त थे।

1892-93 ई. में हिन्दी पाठ्यक्रम में चौथी कक्षा में व्यवहारभानु पढ़ाई जाती थी और आर्योद्देश्यरत्नमाला कण्ठस्थ करवाते थे। छठी व सातवीं कक्षा में 1896-1898 ई. में सत्यार्थप्रकाश के कुछ भाग भी पढ़ाए गए थे।

1. आर्य पत्रिका, 4 मई, 1886, पृष्ठ 3-4
2. कोष्ठक में दिए अंक प्रति सप्ताह पीरियड की संख्या दर्शाते हैं।
3. उपक्रमणिका संस्कृत व्याकरण की पुस्तक थी।

परिशिष्ट ख

पण्डित गुरुदत्त ने लाला लाजपतराय के किसी कृत्य को अनैतिक समझा और उसकी भर्त्सना करते हुए लाला जी को 13 अप्रैल, 1887 को आठ पृष्ठ का लम्बा पत्र लिखा। यह पत्र गुरुदत्त की नैतिकता में दृढ़ आस्था, लाला लाजपतराय के प्रति आत्मीयता और हित की भावना से युक्त कटु सत्य कहने की क्षमता का परिचायक है। पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं[1] –

''लाला लाजपतराय,

... मैंने कभी नहीं सोचा था कि एक ऐसा व्यक्ति[2] जो वैदिक सिद्धान्तों में विश्वास रखता है, आत्मा के पुनर्जन्म की वकालत करता है, जो स्वयं पुरानी परम्परा का एक सरल एवं उत्साही आर्य है, जो विश्व के नैतिक प्रशासक के रूप में ईश्वर की सत्ता को ईमानदारी से स्वीकार करता है, जो केवल दिखावे के लिए ईश्वर विश्वासी होने का ढोंग नहीं करता, अपितु जो ईश्वर के अस्तित्व को यथार्थ रूप. में स्वीकार करता है, वह भी ऐसी बात कर सकता है। हाँ, मैंने यह सोचा भी नहीं था कि (वह) तुम्हारे इस कृत्य की अनुमति देंगे। इससे मुझे आज के इन्सान की संकीर्ण दुनियावी तथा अनात्मवादी प्रकृति का ही परिज्ञान हुआ है।

... मुझे अपनी बात को स्पष्ट करने दीजिए। मैं जानता हूँ कि एक अनैतिक कार्य दूसरे इसी प्रकार के कृत्य के लिए आधार बनता है। जो अब एक अनैतिक काम करता है वह दूसरे अवसर पर उसी प्रकार का अन्य अनैतिक आचरण आसानी से कर डालता है। यह जानते हुए भी मैंने तो तुमसे यह आशा लगाई थी कि भविष्य में तुम अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति से पुनः इस प्रकार का कोई काम नहीं करोगे, क्योंकि एक ऐसा काम तो तुम कर ही चुके हो, किन्तु इसी कारण मैं तुम्हारे प्रति अपने प्रेम में भी कोई न्यूनता नहीं आने दूँगा। बल्कि यही मानूँगा कि दुनियावी आपात् स्थिति ने ही तुम्हें ऐसा करने के लिए विवश किया है। मेरी यह भी धारणा थी कि उस अनैतिक आचरण तथा दुष्कर्म को करके भी ... भविष्य में तुम एक शानदार और उत्तम सार्वजनिक जीवन को प्राप्त कर सकोगे। किन्तु मेरे ये सारे अनुमान व्यर्थ हो गए। इसके बाद तुमने श्रेष्ठ जीवन नहीं अपनाया। कई बार और सफलतापूर्वक अनैतिकता के दानव ने तुम पर विजय पाई। हाँ, यह सत्य है कि इसी दैत्य ने कभी धन की आशा पैदा कर, तो कभी आदर-सम्मान और गौरव प्राप्त

करने की कामना जगाकर तुम्हें प्रलोभित किया और तुमने उसके समक्ष समर्पित होकर अपनी कमजोरी ही जाहिर की। जब एक बार के अनैतिक आचरण ने तुम्हें सांसारिक दृष्टि से लाभ का दर्जा प्राप्त करवा दिया तो तुमने स्वयं को नैतिक, धार्मिक तथा बौद्धिक दृष्टि से सुधारने की चेष्टा ही नहीं की। उसी तुच्छता ने आज भी तुम्हें घेर रखा है। तुमने प्रगति तो की है, किन्तु रूढ़ियों और सस्ती लोकप्रियता के दैत्य की पूजा करके ही। तुमने सरल, स्पष्ट और स्वाभाविक किन्तु ईश्वरीय एवं मानवीय गुणों से युक्त तौर-तरीकों की अपेक्षा पश्चिमोत्तर प्रदेश के उस दुर्भाग्यपूर्ण खोखले शिष्टाचार को महत्त्व दिया, जिसमें शुष्क नैतिकता, पोशाक के दिखावे तथा आडम्बरपूर्ण रहन-सहन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। परमात्मा ने ही तुम्हें कुछ कर दिखाने का मौका दिया था किन्तु तुम उस ईश्वरीय आदेश के अनुकूल कुछ भी नहीं कर सके। परमात्मा ने तुम्हारे पास एक होनहार युवक ... को भेजा था जिसे तुम सुधार सकते थे, किन्तु तुमने उसे छिपे तौर पर दुनियावी धोखाधड़ी करने, नीचतापूर्ण कृत्यों तथा बुराइयों के धरातल तक पहुँच जाने से नहीं रोका। ... मेरा काम तुम्हें फटकारना, बुरा-भला कहना या तुम्हारी निन्दा करना नहीं है। तुम्हारे स्वाभिमान को ठेस पहुँचाना भी मेरा प्रयोजन नहीं है, किन्तु मैं उच्चतर प्रेरणा से, लोकोत्तर आदेश को पालने के लिए तुम्हें कह रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम इस दिव्य विधान को प्रत्यक्ष देखो तथा यदि सदा इसके अनुकूल आचरण न भी कर सको तो कम-से-कम इसे मान्यता तो प्रदान करो। यदि तुम स्वाधीन और धर्मात्मा बनना चाहते हो तो तुम्हें निष्कपट तथा उदार होना पड़ेगा। यद्यपि मैं भी बहुत निष्कलुष नहीं हूँ किन्तु मुझमें शठता की प्रवृत्ति भी नहीं है, अत: तुम्हें इस प्रकार का उपदेश देते हुए मुझे शर्म अनुभव होती है। किन्तु किसी अलौकिक शक्ति के वशवर्ती होकर ही मैं ऐसा कर रहा हूँ। हे सत्य के देवदूतो, तुम मुझे अपने पंखों की ओट प्रदान करो।

तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे लिए तो जीवन का वास्तविक मूल्य ज्ञान का भीतरी स्रोत ही है। ... इसकी तुलना में संसार की हजारों नियामतें भी व्यर्थ हैं। मैं अपनी बात का सच्चा हूँ। तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मेरे आगे सांसारिक स्वार्थ का लेश भी नहीं है, ऐसी स्वार्थ भावना न तो मुझमें है और न मेरे पास भी फटक सकी है। सर्वशक्तिमान् मेरी रक्षा करें।

ऐ संसार से प्यार करने वाले नौजवान, याद रख, मनुष्य के भीतर एक उच्चतर आत्मा का निवास होता है, बहुत ऊँची और अति दिव्य एवं लोकोत्तर।

मनुष्य की इस महिमामण्डित आनन्ददायी प्रकृति को शायद तुमने अनुभव भी नहीं किया होगा। हाँ, यह सत्य है कि मनुष्य में भगवदीय दिव्यता होती है। अपने प्रयत्न और योग्यता के अनुपात में उसे प्राप्त करने की तैयारी करो तो वह तुम्हें मिलेगी। मैं तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि यदि मनुष्य अपनी इस सहजात शक्ति और दिव्य योग्यता के प्रति जागरूक हो तो संसार की कोई पापपूर्ण प्रवृत्ति और कोई पीड़ा उसे सृष्टि के रचयिता द्वारा बताए गए मार्ग पर चलने से नहीं रोक सकती।

मेरे उपर्युक्त वाक्य कोई सौ बार पढ़ना और तुम इसके अभिप्राय को उस समय समझ पाओगे जब इसका अर्थ तुम्हारे मन की भीतरी तह तक पहुँचकर तुम्हें प्रभावित करेगा। यही सान्त्वना मैं तुम्हें इस समय दे सकता हूँ। परमात्मा तुम्हारी रक्षा करे तथा उच्चतर एवं महत्तर लक्ष्यों की ओर प्रेरित करे।

ईश्वर की कृपा से,
तुम्हारा सच्चा शुभचिन्तक तथा परामर्शदाता
यद्यपि वह स्वयं भी कलुषयुक्त है,
गुरुदत्त विद्यार्थी।''

यह सामान्य पत्र नहीं, अपितु उपदेशामृत है। आत्मिक उन्नति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को इसे मननपूर्वक पढ़ना चाहिए। लाजपतराय ने इस पत्र को अनेक बार पढ़कर लिखा था, ''ए परलोकवासी पण्डित गुरुदत्त, मैं जानता हूँ कि तुम वहाँ रहकर भी अपनी पवित्र आत्मा में देवी प्रवृत्तियों का निरन्तर विकास कर रहे हो, कृपया तुम आज भी मुझे उचित निर्देशन प्रदान करो। ... मेरी जो निन्दा हुई है उसका मुख्य कारण था स्वयं द्वारा किया गया प्रतिज्ञा-भंग का दोष तथा सार्वजनिक कर्त्तव्य की अवहेलना। ... आप मुझे कहने की आज्ञा दें कि इस पत्र को पढ़कर मुझे अपने कृत्य के अनैतिक होने का विश्वास हो गया, मैंने उनसे क्षमा मांगी और गुरुदत्त ने उदारतापूर्वक मुझे क्षमा कर भी दिया।''

---

1. द्रष्टव्यः लाजपतराय, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (लाइफ़ एन्ड वर्क), सम्पादक डॉ. रामप्रकाश, पृष्ठ 40-42

2. आर्यसमाज के किसी अधिकारी के प्रति संकेत है, जिसने लाजपतराय के कृत्य का समर्थन किया था।

परिशिष्ट ग

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थ सूची

हिन्दी पुस्तकें

आत्माराम अमृतसरी, **ब्रह्मयज्ञ**, जयदेव ब्रदर्स, बड़ौदा, 1917 (प्रथम संस्करण, 1896)

इन्द्र विद्यावाचस्पति, **आर्यसमाज का इतिहास**, प्रथम भाग, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, 1957

कामिल बुल्के, फ़ादर (अनुवादक), **पवित्र बाइबिल**, हिन्दी साहित्य समिति, इलाहाबाद, 1986

खुशहालचन्द महात्मा, **महात्मा हंसराज**, डी.ए.वी. पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली

गुरुदत्त लेखावली (अनुवादक सन्तराम, भगवद्दत्त), अनीता आर्ष प्रकाशन, पानीपत, 1990-92

गुलराजगोपाल गुप्त (संग्रहकर्ता), **परोपकारिणी सभा के अधिवेषणों का रिपोर्ट संग्रह (1883-1926)**, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1927

चमूपति, **आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का सचित्र इतिहास**, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर, चैत्र संवत् 1992 वि.

दयानन्द सरस्वती ऋषि, **सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, गोकरुणानिधि**

धर्मपाल तथा टी.एम. मुकुन्द, **गो-वध और अंग्रेज़**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2003

नारायण स्वामी (महात्मा), **आत्मकथा**, आर्य-साहित्य सदन, देहली, 1943

भगवद्दत्त (सम्पादक), **ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग** 1, नवम्बर 1980; भाग 2, सितम्बर 1981, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत)

भवानीलाल भारतीय, **परोपकारिणी सभा का इतिहास**, परोपकारिणी सभा, अजमेर, 1975

नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 1983

मुन्शीराम (श्रद्धानन्द), सम्पादक, **ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार, भाग** 1, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, संवत् 1966 वि.

मुकुन्ददेव, **दण्डी जी की जीवनी** (सम्पादक डॉ. रामप्रकाश), सत्यार्थ प्रकाशन, 1425/13, कुरुक्षेत्र (हरियाणा), 2003

मूलराज रायबहादुर, **दशप्रश्नी**, दयानन्द प्रेस चंगड़ मुहल्ला, लाहौर, 1933

यशपाल सिद्धान्तालंकार, **आचार्य रामदेव जीवन झांकी**, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर, अप्रैल 1946

युधिष्ठिर मीमांसक, (सम्पादक), **ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, तृतीय भाग**, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत), 1982

राजेन्द्र जिज्ञासु, **मुनिवर पं. गुरुदत्त विद्यार्थी**, वेद सदन, अबोहर, 2004

रामप्रकाश (डॉ.), **गुरु विरजानन्द दण्डी**, सत्यार्थ प्रकाशन, कुरुक्षेत्र, 2012

सत्यार्थप्रकाश-विमर्श, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, अगस्त 2004; (घूड़मल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट, हिण्डौन सिटी, सितम्बर 2004)

लेखराम आर्य मुसाफ़िर, **दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र** (सम्पादक डॉ. भवानीलाल भारतीय), आर्ष साहित्य-प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2004

विवेकानन्द स्वामी, **ईशदूत ईसा** (अनुवादक हरिवल्लभ जोशी), श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1959

श्रद्धानन्द स्वामी, **कल्याणमार्ग का पथिक**, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, 1978

सत्यकेतु विद्यालंकार, **आर्यसमाज का इतिहास, भाग 3**, आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, 1983

सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी, **वेद भक्त पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम.ए.**, स्टार बुक डिपो, प्रयाग, 1917

सत्यानन्द स्वामी, **श्रीमद्दयानन्दप्रकाश**, द्राक्षादेवी प्यारेलाल परोपकारी ट्रस्ट, दिल्ली, संवत् 2037 वि.

हंसराज महात्मा, **दशप्रश्नी की समीक्षा**, हिन्दी मिलाप प्रेस, लाहौर, 4 नवम्बर 1933 (तथा हिन्दी मिलाप, लाहौर में 6 नवम्बर, 1933)

हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, **आर्यसमाज का इतिहास**, देहली, संवत् 2006 वि.

हिन्दी पत्रिकाएँ

आर्य दर्पण (हिन्दी-उर्दू मासिक), शाहजहांपुर, 1880-86

आर्यमित्र (लखनऊ), ऋष्यंक 1922

भारत सुदशा प्रवर्तक (मासिक), फ़र्रुख़ाबाद, 1882-90

उर्दू पुस्तकें

आत्माराम अमृतसरी, **फ़ल्सफ़ा-ए-इबादत** (ब्रह्मयज्ञ पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रेमनारायण कृत अनुवाद), आर्य मुसाफ़िर, फरवरी 1905

असगर अब्बास (संकलन कर्ता), **सर सैय्यद की ताज़यातो तहरीरें**, एजूकेशनल बुक हाउस, अलीगढ़, 1989

गण्डाराम, **सवान-ए-उमरी शहीद अकबर पण्डित लेखराम व तवारीख आर्यसमाज**, लक्ष्मी आर्ट स्टीम प्रेस, रावलपिण्डी, अप्रैल 1930

गुरुदत्त विद्यार्थी पण्डित, **रुहानी ज़िन्दगी की हक़ीक़तें** (द रिअल्टिज़ ऑफ़ इनर लाइफ़ का उर्दू अनुवाद), आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर, 1905

धन का डाह (पिक्यून्मेन्या का उर्दू अनुवाद), आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर, 1905

निहालचन्द भण्डारी, **उन्नीसवीं सदी का सच्चा शहीद अर्थात् पण्डित गुरुदत्त एम.ए. और उनकी बेवक्त मौत**, फ़िरोजपुर, 1891

मूलराज रायबहादुर, **दशप्रश्नी की अशाअत की असल हक़ीक़त**, चोपड़ा प्रिंटिंग प्रेस, जालन्धर

लक्ष्मण आर्योपदेशक, **मुकम्मिल जीवन चरित्र महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती**, आर्य पुस्तकालय, लाहौर (तिथि नहीं)

लाजपतराय लाला, **जीवन चरित्र पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी एम.ए.**, पिण्डीदास, मालिक, पुस्तक भण्डार, लाहौर, 1914

स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की मौजूदा हालत, कांग्रेस प्रेस, लाहौर, 1921

उर्दू पत्रिकाएँ

सद्धर्म प्रचारक (साप्ताहिक), जालन्धर, 13 अप्रैल 1889 – अप्रैल 1891

आर्य मुसाफ़िर (मासिक), जालन्धर, 1899, 1905, लाहौर, 1934–35

आर्य गज़ट (साप्ताहिक), फ़िरोजपुर, मार्च 1890, लाहौर 1934–35, जालन्धर, 1954–55

आर्यवीर (साप्ताहिक), रावलपिण्डी, 1926–28, जालन्धर, 1954–55

रिफार्मर (साप्ताहिक), दिल्ली, 1951–53

अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गज़ट, अलीगढ़, मार्च 1890

प्रकाश (साप्ताहिक), लाहौर, 1925–29, 1932–34, 1938

भारत सुधार और आर्यसमाज, 10 अप्रैल 1893

लाहौर आर्यसमाज के साबिक़ा ओहदेदारों की पॉलिसी यानी हिक्मते अमली

English Books

Bruce, J.F., *A History of the University of Panjab*, University of Panjab, Lahore, 1933

Chhajju Singh,Bawa, *Life and Teachings of Swami Dayanand Saraswati*, Jan Gyan Prakashan, New Delhi, 1971

Diwan Chand, *The Arya Samaj -- What It Is and What It Stands For*, Arya Pradeshik Pratinidhi Sabha, Lahore, 1942

Gough, A.E., *The Philosophy of the Upnishads*, Ess Ess Publications, Delhi, 1974

Grahm, Jr. Reid, *The Arya Samaj as a Reformation in Hinduism with special reference to Caste*, unpublished Ph.D. Thesis, Yale University, 1942

Gupta, Shiv Kumar, *British Attitude and Policy Towards Arya Samaj,* Ph.D. Thesis, Panjab University, Chandigarh, 1984 (Published as '*Arya Samaj and the Raj*', Gitanjali Publishers, New Delhi, 1991)

Guru Datta Vidyarthi, Pandit, *Origin of Thought and Language*, The Regenerator of Aryavarta, 16 June, 1884, pp. 1-3,

The Terminology of the Vedas, Arya Patrika, 11 July, 1 August, 19 September, 10 October, 1885 (Aryan Tract Society, Lahore, Printer: The New Indian Press, Lahore, 12 February, 1888)

The Terminology of the Vedas and European Scholars, Vedic Magazine, No. 2, August 1889, pp. 22-41; No. 3, September 1889, pp. 25-48

Vedic Texts, No. 1 (*The Atmosphere*), Arya Patrika, 28 December, 1886, pp. 3-5. (Aryan Tract Society, Lahore, 1888)

Vedic Texts, No. 2 (*The Composition of Water*), Arya Patrika, 13 July, 1886, pp. 1-3 (Aryan Tract Society, Lahore, 1888)

Vedic Texts, No. 3 (*Grihastha*), Aryan Tract Society, Lahore, 1888

Ishopnishat with Sanskrit Text and English Translation, Virjanand Press, Lahore, June 1888

Mandukyopanishat, Vedic Magazine, No.1, July 1889, pp.1-32

Mundakopnishat, Vedic Magazine, No. 4, 1890

Righteousness or Unrighteousness of Flesh Eating, The Arya, August 1882, pp. 131-134

The Nature of Conscience, The Arya, No.6, August 1882, pp. 109-112

Conscience and the Vedas, The Regenerator of Aryavarta, 14 April, 1884, pp. 1- 4; 21 April, 1884, pp. 1-3

Religious Sermons, Arya Patrika, 2 January, 1886, pp. 1-3

Man's Progress Downwards, Arya Patrika, 5 December, 1885, pp. 1-5

Darwin and His Theory, Arya Patrika, 4 May, 1886

Evidences of Human Spirit, Vedic Magazine,No. 2, August 1889, pp.1-21; No.3, September 1889, pp. 1- 24

The Realities of Inner Life, Virjanand Press, Lahore, 7 August, 1890

Pecuniomania, Vedic Magazine, No. 1, July 1889, pp. 33-44; No. 2, August 1889, pp. 42-48

A Reply to some Criticism of Svami's Veda Bhashya, Arya Patrika, 23 Jaunary, 1886, pp. 5-6

Sir Monier Williams on Christianity and other Religions, Arya Patrika, 19 July, 1887

A Reply to Mr. T. Williams' Letter on Idolatory in the Vedas, Arya Patrika, 18 June, 1889

Mr. T. Williams on Vedic Text No. 1. The Atmosphere, Arya Patrika, 18 July, 1889

A Reply to Mr. T. Williams' Criticism on Niyoga, Aryan Tract Society, Lahore, 1890

Criticism on Monier Williams' Indian Wisdom, Arya Pratinidhi Sabha Punjab, Lahore, 1893

Comments on Mr. Pincott's Letter on the Vedas, nd.

Hans Kohn, *A History of Nationalism in East*, London, 1924.

Jacolliot, M.L., *The Bible in India - Hindoo Origin of Hebrew and Christian Revelation*. Translated from his original book "La Bible Dans L'Inde, Panini Office Bahadurganj, Allahabad, 1961

Jambunathan, M.R., *Swami Shradhanand*, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1961

Jivan Dass, Lala, ed., *The Works of Late Pandit Guru Datta Vidyarthi MA with a Biographical Sketch*, The Aryan Publishing & Trading Co.Ltd., Lahore, 1902 (Ist ed. 1897). For its latest edition quoted in this book, see under Ram Prakash (Dr.)

Papers For The Thoughtful, No. 1,3, The Panjab Printing Press, Lahore, 1902 (These are twelve in number)

Jones, K.W., *Arya Dharm, Hindu Consciousness in the 19th Century Punjab*, University of California Press, Berkeley, 1976

Jordens, J.T.F., *Dayananda Sarasvati, His life and Ideas*, Oxford University Press, Delhi, 1979

Swami Shradhananda - His life and Causes, Oxford University Press, Delhi, 1981

Lajpat Rai, Lala, *Autobiographical writings*, ed. V.C. Joshi, University Publishers, Delhi, 1965

Life and Work of Pandit Guru Datta Vidyarthi M.A., Virjanand Press, Lahore, 1891(For its latest edition quoted in this book, see under Ram Prakash)

The Arya Samaj, an account of its origin, doctrines and its activities with biographical sketch of the founder, London, 1915

Marwah, Som Nath, *Mahatma Hansraj*, D.A.V. Publication Division, New Delhi, July 2001

Max Mullar, F., *The Sacred Books of the East*, Vol. XXXII, Clarendon Press, Oxford, 1891

& Co. London, 1935

Ninteenth Century North-India, Meerut, 1976

Williams, T., *Exposure of Dayanand Sarasvati and His Followers*

Mayhew, Arthur, *Christianity and Government of India 1600-1900*, London, nd

Monier Williams, Sir, *Indian Wisdom*, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1963

Sanskrit-English Dictionary, Southern Publications, Madras, 1987

Mul Raj, R.B., *A Lecture on the Arya Samaj delivered at the Sixteenth Anniversary of the Lahore Arya Samaj*, Anglo-Sanskrit Press, Lahore, 1894

Beginning of Punjabi Nationalism (Autobiography of R.B. Mul Raj), V.V.R.I, Hoshiarpur, 1975

Matter of Fact Series No. 1, A Memo on the Foundation of the Arya Samaj, People (Lahore), 27 November, 2, 11, 18 December, 1933

The Veda and the Arya Samaj, Nisbet Road Lahore, 31 October, 1933

Oman, J.C., *Cults, Customs and Superstitions of India,* London, 1908 (Ist edition is entitled '*Indian Life, Religious and Social*', T.Fisher Unwin, Lahore, 1889)

Ram Prakash, Dr. ed., *Works of Pandit Guru Datta Vidyarthi*, 4/42, Sector-5, Rajendra Nagar, Sahibabad, Ghaziabad, 1998

ed. *Pandit Guru Datta Vidyarthi, Life and Work* (Lajpat Rai), Satyarth Prakashan, Kurukshetra, October 2012 (first reprinted in 1999)

Sahni, Ruchi Ram, *Memoirs of Ruchi Ram Sahni*, ed.,N.K.Sehgal and Subodh Mahanti, Vigyan Prasar, New Delhi, 1994

Sarda, Harbilas, (ed.), *Dayanand Commemoration Volume*, Vedic Yantralaya, Ajmer, 1933

Life of Dayanand Saraswati - World Teacher, Propkarini Sabha, Ajmer, 1968

Works of Maharshi Dayanand and Propakarini Sabha, Vedic Yantralaya, Ajmer, 1942

Sharma, Diwan Chand, *Makers of the Arya Samaj*, Book II, Macmillan *(Both as to their Deliberate Falsification of the Rgveda and their Immorality)*, The Imperial Medical Hall Press, Delhi, 1889

Magazines and Documents

Arya Patrika (Weekly), Lahore, June 1885-1888

The Arya (Monthly Periodical), Lahore, March 1882-February 1883

The Regenerator of Aryavarta (Weekly), Lahore, January 1883-December 1884

The Tribune (Weekly, Biweekly), Lahore, (now Chandigarh), 1883-90

Vedic Magazine (Monthly), Lahore, July-September 1889, and 1890

Draft Scheme for the proposed Dayanand Anglo-Vedic College, Vidya Prakashak Press, Lahore (NAI)

Indian Scientists Biographical Sketches, G.A. Nateson & Co., Madras, July 1929

Lansdowne Correspondence: Crosthwaite to Lansdowne, 10 August, 1893, Microfilm (NA1)

Lansdowne Correspondence : Kimberley to Lansdowne, 28 September, 1893, Microfilm (NA1)

Nanak Chand Papers No. 83: Article Political Awakening in Panjab

Report of the Indian Education Commission, 1882-83, The Superintendent of Publications, Calcutta, 1883 (NA1)

Report of the Third Decennial Missionary Conference held at Bombay 1892-93, Education Society Steam Press, Bombay, 1893

Rules and Bye-laws for Dayanand Anglo-Vedic College Society and Managing Committee and the Rules and Regulations for the Management of the Boarding House, Public Advocate Press, Lahore, 1888

The Mission Field, February 1879. The Bishop of Lahore's letter to the Society for Propagation of Gospel in Foreign Parts

लेखक-परिचय

डॉ. रामप्रकाश

· अक्तूबर 1939 में तंगौर ग्राम (कुरुक्षेत्र) में श्री प्रभुदयाल जी के घर जन्म; पिता जी अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध आर्यसमाजी, माता जी (शान्ति देवी) गोरक्षा आन्दोलन में तिहाड़ जेल में रहीं, अग्रज श्री बीरुराम आर्य, धर्मपत्नी श्रीमती विजय, सुपुत्र जितेन्द्र रामप्रकाश व शैलेन्द्र

· डी.ए.वी. कॉलेज अम्बाला नगर से बी.एस-सी., पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ से रसायन विज्ञान में एम.एस-सी. (ऑनर्ज़), पी-एच.डी., जी.जे. विश्वविद्यालय हिसार से डी.एस-सी. की मानद उपाधि, चार्ल्स विश्वविद्यालय एवं हैरोवस्की (नोबल पुरस्कार विजेता) इंस्टीच्यूट ऑफ पोलेरोग्रॉफी, प्राग, चैकोस्लोवाकिया तथा अमरीका में विशेष अध्ययन/अनुसंधान

· पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में अक्तूबर 2002 तक रसायन विज्ञान के प्रोफेसर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र में प्रो-वाइसचांसलर (1981-84), चैकोस्लोवाकिया में यूनेस्को फैलो (1971-72), अमरीका में फुलब्राइट स्कॉलर(1989)

· राज्यन्त्री, हरियाणा सरकार (1991-93); सदस्य : हरियाणा विधान सभा (1991-96), पंजाब विश्वविद्यालय सीनेट (1972-2000), सिण्डीकेट (1977-80, 85-92, 2000); अध्यक्ष: पंजाब विश्वविद्यालय अध्यापक संघ (1974-76), सदस्य राज्यसभा (2007-)

· वेद-विमर्श, यज्ञ-विमर्श, सत्यार्थप्रकाश-विमर्श , पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी (जीवन एवं कार्य), गुरु विरजानन्द दण्डी (जीवन एवं दर्शन), तथा The Vedas (वेद-विमर्श का अंग्रेज़ी अनुवाद) का लेखन, दण्डी जी की जीवनी, Works of Pandit Gurudatta Vidyarthi तथा Pandit Gurudatta Vidyarthi (Life and Work) का सम्पादन; लगभग 85 मौलिक वैज्ञानिक शोध-पत्र प्रकाशित

· पंजाब विश्वविद्यालय में दयानन्द चेयर की स्थापना, उसी विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के भवन का नाम पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी भवन रखवाना आदि विशेष उपलब्धियाँ

· चैकोस्लोवाकिया (1971-72,90), आस्ट्रिया (1971), हंगरी (1971), इंग्लैण्ड (1972, 89), जर्मनी (1972, 90), स्विट्जरलैण्ड (1972, 99), फ्रांस, बैल्जियम, नीदरलैण्ड, रोमानिया तथा यूगोस्लाविया (1972), कनाडा (1989), अमरीका (1989, 2007), मॉरिशस (1998, 2003, 2006, 2007, मार्च 2008, सितम्बर 2008, 2010, 2011), नैरोबी (2004), थाईलैंड (2011) में अध्ययनार्थ/अनुसंधानार्थ/प्रचारार्थ प्रवास/भ्रमण

· विद्यामार्तण्ड स्वामी धर्मानन्द सरस्वती आर्यभिक्षु पुरस्कार, ज्वालापुर (1999-2000), घूड़मल प्रहलादकुमार आर्य साहित्य पुरस्कार, हिण्डोन सिटी (2003), हरियाणा रत्न(2004), वेदवेदांग पुरस्कार, आर्यसमाज शान्ताक्रुज मुम्बई, जनवरी 2010, आर्य विद्वत्पुरस्कार, गुरूकुल झज्जर, 2010 तथा महर्षि दयानन्द पुरस्कार, आर्यसमाज भुवनेश्वर, 2010 से सम्मानित; मॉरिशस में आर्यसमाज स्थापना शताब्दी पर दिसम्बर 2003 में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मलेन के अध्यक्ष

आभार

प्रखर वक्ता और सिद्धहस्त लेखक डॉ. रामप्रकाश जी द्वारा लिखित अप्रतिम प्रतिभा के धनी मुनिवर पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का यह जीवनवृत्त सत्यार्थप्रकाशन न्यास का सोलहवाँ पुष्प है। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ऋषि दयानन्द के अन्यतम अनुयायी थे। अपूर्व दार्शनिक-वैज्ञानिक मेधा सम्पन्न पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी जिस दृष्टि से वैदिक साहित्य और सिद्धान्तों का अध्ययन-विश्लेषण करते थे, उनके प्रयाण के पश्चात् तादृशी प्रतिभा के अभाव में वैदिक साहित्य और सिद्धान्तों का वैसा विश्लेषण पुनः कभी नहीं हो पाया। वर्तमान काल में डी.ए.वी. शिक्षा संस्थानों ने पर्याप्त विस्तार पा लिया है पर पण्डित गुरुदत्त जिस संकल्पना को लेकर इस आन्दोलन के उद्भवकाल में इसका अंग बने थे शिक्षा के उस प्रारूप में डी.ए.वी. आन्दोलन ने अद्यावधि कभी अपनी रुचि प्रदर्शित नहीं की। आज जब इक्कीसवीं सदी में भारतीय साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन की अभिरुचि पुनः बढ़ी है तथा भारतीय शिक्षादर्शन पर व्यापक मन्थन चल रहा है, ऐसे समय में पण्डित गुरुदत्त के रूप में एक युगीन चेतना हमें एक तार्किक मार्गदर्शन दे सकती है। इस दृष्टि से डॉ. रामप्रकाश की यह कृति बहुमूल्य ही नही अमूल्य भी है।

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी सरीखे अद्‌भुत व्यक्तित्व की बौद्धिक क्षमता और वैचारिक संरचना को उकेरने तथा तात्कालिक परिस्थितियों में उनके कार्यों का मूल्यांकन करने में लेखक कितना सफल हुआ है, इसका निर्णय तो विज्ञजन ही करेंगे। किन्तु इतना अवश्य है कि इस कृति की सुख्यात लेखक डॉ. भवानीलाल भारतीय एवं प्राध्यापक राजेन्द्र जिज्ञासु आदि आर्यसमाज के रचना संसार से जुड़ी अनेकानेक हस्तियों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पीढ़ी दर पीढ़ी साहित्यिक अनुष्ठान के अक्लान्तमना यजमान श्रीयुत् विश्वनाथ जी ने जब लेखक को लिखा कि "आपको बधाई देना चाहता हूँ कि आपने किस अद्‌भुत जीनियस के व्यक्तित्व को साकार किया है, जिन्होंने अपने छोटे से जीवन में इतना कुछ कर दिया जो सच्चाई होते हुए भी पढ़ने पर अविश्वसनीय-सा लगता है" – तो सत्यार्थप्रकाशन न्यास ने लेखक से इसके पुनः प्रकाशन की अनुमति मांगी। हम आभारी हैं डॉ. रामप्रकाश जी के जिन्होंने इसे प्रकाशित करने का गौरव हमें प्रदान किया है।

राजेन्द्र विद्यालंकार (डॉ.)

डॉ. रामप्रकाश

हरियाणा के तंगौर ग्राम में अक्तूबर 1939 में श्री प्रभुदयाल आर्य के घर जन्मे डॉ. रामप्रकाश ने पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ से रसायन शास्त्र में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। चैकोस्लोवाकिया तथा अमेरिका आदि दर्जनों देशों में अनुसंधान/अध्ययन/प्रचार हेतु प्रवास किया। पंजाब विश्वविद्यालय से 2001ई. में प्रोफ़ेसर के रूप में सेवानिवृत्त हुए। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र में प्रतिकुलपति तथा हरियाणा सरकार में राज्यमंत्री रहे। लगभग 100 शोधपत्र तथा कई ग्रन्थों का प्रणयन व सम्पादन किया। लेखन कार्य के लिए कई बार पुरस्कृत। गुरु विरजानन्द दन्डी, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी तथा यज्ञ–विमर्श उनकी लोकप्रिय रचनाएँ हैं।

"मैं उनमें से एक हूँ जो गुरुदत्त की हृदय परिर्वतन की अद्‌भुत विधि से लाभान्वित हुए थे। मैं सम्भवतः सर्वप्रथम व्यक्ति हूँ जो उनके द्वारा प्रतिपादित एवं प्रसारित आर्यसमाजी विश्वासों का अनुयायी बना था। मैं गर्वान्वित अनुभव करता हूँ कि मुझे आर्यसमाज के माध्यम से भारत के पुनरुद्धार हेतु काम करने की दीक्षा देने वाला वह व्यक्ति था।"
– लाला लाजपतराय

"पण्डित गुरुदत्त के थोड़े से ही सत्संग ने मेरी काया पलट दी। . . .छोटा सा शरीर किन्तु मुख पर चन्द्र की कान्ति और सूर्य के तेज की शोभा, गम्भीर किन्तु सरल ध्वनि।"
– स्वामी श्रद्धानन्द

"आर्यसमाज में पण्डित गुरुदत्त जी के प्रभाव से श्रद्धा की लहर चल पड़ी। सहस्रों लोगों ने इस लहर में स्नान करके अपने हृदयों को शान्त और आत्मा को पवित्र किया।"
– महात्मा हंसराज

"ऋषि दयानन्द ने एक गुरुदत्त को अपना शिष्य बनाया होता तो उनकी सफलता का यही एक प्रमाण पर्याप्त था।"
– पण्डित चमूपति

"जो नुक़्सान क़ौम को और ख़ुसूसन आर्यसमाज को उनके (गुरुदत्त विद्यार्थी के) मरने से पहुँचा उसकी तलाफ़ी नहीं हो सकती।"
–सर सैय्यद अहमद ख़ाँ

₹ ८०/-